सूर्यकुमारी पुस्तकमाला—१६

हिंदी रसगंगाधर

[द्वितीय संस्करण]

लेखक
पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी



संपादक
महादेव शास्त्री

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक : महताबराय, नागरी मुद्रण, काशी

द्वितीयबार, संशोधित संस्करण, १५०० प्रतियाँ

मूल्य ५॥)

परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणित शास्त्र में उनकी अद्‌भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावतजी के गर्भ से तीन संतति हुई—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूर्यकुमारी थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंह-जी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे जो राजा श्रीअजीतसिंह जी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति, संचित कर्मों के परिणाम से, दुःखमय हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरु-जनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुमारीजी को एक मात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भागनी पड़ी और भ्रातृवियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख

वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीराम-सिंहजी से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्य्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार, कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्य्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाले चमत्कृत रह जाते। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंदजी के सब ग्रंथों, व्याख्यानो और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म विशेषतः अद्वैत वेदांत की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्य्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार उमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार बीस हजार रुपए देकर काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था की है। स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और अल्प मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी में लगाई जायगी। यों श्रीमती सूर्य्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान-लाभ होगा।

प्रथम संस्करण पर

कुछ चुनी हुई

संमतियाँ

BANARAS HINDU UNIVERSITY.

College of Oriental learning

No......... Date ११-४-१९२८

पं० पुरुषोत्तमचतुर्वेदिविरचिता रसगङ्गाधरस्य मया विलोकिता समस्ता प्रस्तावना, यत्र विषयविकाशक्रमः वक्रोक्तिः प्रसादः समालोचनाचानन्यसाधारणमादधाति सौहित्यम्, साहित्यप्रवीणतां च प्रणेतुः सह सहृदयतया निवेदयति ।

अनुवादे पद्यानि च पद्माकरादिच्छायामनुहरन्ति साम्प्रतिकानि परेषामतिशेरते पद्यानि ।

प्रस्तावनयाऽनुवादावलोकनेन परमोपकृतिरन्तेवासिनामाशु भविष्यतीत्यस्ति मे बलवान् विश्वास इति समासतो निवेदयन् विरमति

बालकृष्णमिश्रः

(महामहोपाध्यायः, संस्कृतविभागाध्यक्षः,

हिन्दू विश्वविद्यालयः, काशी)

श्रीहरिः ।

अलंकारशास्त्र के सुप्रसिद्ध और सुप्रतिष्ठित सर्वशिरोमणिभूत 'रस-गङ्गाधर' ग्रन्थ पर माथुर-चतुर्वेद पं० श्रीपुरुषोत्तमजी 'वैश्वानर' साहित्याचार्य ने जो हिन्दी भाषा में एक सुन्दर और उपयुक्त व्याख्या लिखी है, उसके कई अंशों को मैने देखा है। 'रसगङ्गाधर' जैसे न्याय-पद्धति-प्रधान दुरूह और जटिल ग्रन्थ पर व्याख्या लिखना कितना कठिन कार्य है इसका अनुमान इसी से हो सकता है कि इस ग्रन्थ को बने तीन सौ वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो गया, किन्तु आजतक संस्कृत में भी इस पर सर्वाङ्गपूर्ण उपयुक्त व्याख्या न बन सकी। फिर हिन्दी भाषा में ऐसे ग्रन्थ की व्याख्या लिखना और उसमें सफलता प्राप्त करना तो एक ऐसा कार्य है, जो सर्वथा असम्भव नहीं, तो अतिकठिन तो अवश्य ही कहा जा सकता है। किन्तु जहाँ तक मैंने देखा और विचार किया है—वहाँ तक मैं कह सकता हूँ कि उक्त व्याख्याकार महाशय को बहुत अंशों में सफलता प्राप्त हुई है। व्याख्याकार ने व्याख्या की शैली को यथाशक्ति सरल और हिन्दी भाषा के मुहाविरे के अनुसार रखने का पूर्ण प्रयत्न किया है, और ग्रन्थोक्त विषयों का ऐसी मार्मिकता से विवेचन किया है कि 'रसगङ्गाधर' पढ़नेवाले छात्रों के लिये भी यह व्याख्या बहुत उपयुक्त हो गई है।

व्याख्याकार का एक बड़ा साहस यह है कि उनने उदाहरण-पद्यों का हिन्दी (व्रजभाषा) पद्यों में भी अनुवाद किया है, और कुछ अंशों में विद्वानों का मतभेद अनिवार्य होने पर भी यह कहने में प्रायः किसी को संकोच न होगा कि इस पद्यानुवाद में भी व्याख्याकार ने अच्छी

सफलता प्राप्त की है। पण्डितराज के पद्यों का पद्यानुवाद साधारण-कार्य नहीं है।

इस व्याख्या से व्याख्याकार महाशय के मार्मिक साहित्यज्ञान, प्रौढ पाण्डित्य, लेखचातुरी, विवेचनप्रवीणता और उत्तम कविताशक्ति का पूरा पता लगता है। साहित्य में विशेषकर हिन्दीसाहित्य में यह एक नई चीज बनी है, साहित्यरसिक इसका समुचित स्वागत करेंगे—ऐसा मेरा विश्वास है। रसगङ्गाधर पढ़नेवालों को भी इससे अवश्य लाभ उठाना चाहिये।

म० म० पण्डित श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी,
शास्त्री व्याकरणाचार्य,
प्रिंसिपल संस्कृत कालेज, जयपुर सिटी

सौर तिथि ८-२-८४
दि० २१-५-१९२७

श्रीहरिः

श्री गोवर्धन-संस्कृत-पाठशाला, श्रीनाथद्वार के प्रधानाध्यापक विद्वच्छिरोमणि गुरुवर श्रीबालकृष्णशास्त्री (बालशास्त्रीजी) की संमति

श्रीमदाचार्यवंशजतिलकायितश्रीनाथद्वाराधीश्वराश्रितोऽयं किञ्चित्प्रस्तौति—

दिष्ट्याऽद्य मधु-रसोदर-निःसरन्मधुर-मधुझरी-मधुरीकृतवाङ्मयमूर्तेः दिगङ्गनाङ्गावरणायमानकीर्तेर्महाकवेः साहित्य-सरस-रसाल-परिणत-फल-रसिकशुकन्वेर्लब्धवर्ण-कर्णविवरावकाशासादित-ग्रंथगाथस्य जगन्नाथस्य सकलनिगमागमनिरवधिसतत्त्वशेवधिराजराजस्य पंडितराजस्य संदर्भा न दर्भा इव कर्कशाकाराः किन्तु स्वादु-सिता-खिल्या इव निखिलाः परुष-मधुराश्चर्वणैकरसा इति हर्षवर्षकोपितान्तःकरणो न मात्सर्यरुषाभिभाषे। नैवायं रसगङ्गाधरोनाम ग्रंथतल्लजस्तेनेतमां तेनेति नाद्यावधि केषांचिद्विदुषां गिरः संगिरन्ते। अहो अयं रसगङ्गाधरो रसगङ्गाया अधर इव शंतनु-सवर्णेन केनचिदेव पानीयः; अथवा रसगङ्गाया धर इव प्रशान्तस्वान्त-वृत्तिधुनिभिः कतिभिश्चित्कविमुनिभिः सेवनीयः, आहोस्विद्रसगङ्गाधर इव कविवरसाधारणधारणाविधुरेण केनचिदन्धकासुरेणेवान्धीकृतानां कृतिनां समाराधनीयः; उत सत्यगतो भगवतो वामनकलेवरस्य रमावरस्य चरण इव रसगङ्गाधरो वेधसेव गीगुंम्फवेधसा विरलेन केनचिदेव चायनीयः किंस्वित्कविकुलजगन्नाथस्य जगन्नाथस्येव कस्यचिदेव चेतःसरस्वति रसगङ्गाधरतां बिभ्रद्विभ्राजत इति विनिगमनां नैवावलम्बितुमुत्सहे। अथापि निश्चप्रचमेव संविद्रते गिरां पतीनां गिरो यदत्र शिथिलपरिकर एव परिकरालंकारो रसगङ्गाधराधिवचनवाच्ये॥ अथातिविमलनारगङ्गाधरात्सरस्वतो मुदिरो यथा विरसं वारिवारमुदीर्य अवग्रहनिगृहीतजीवनानां

जीवानां जीवनायातिसरसमभिवर्षति तथा वैश्वानरोपाधिना निरुपधि-परिश्रमगृहीतपाणिनीयसाहित्यागमादिविद्येन चतुर्वेदेन पुरुषोत्तमान्त-र्वाणिना भाषानुवादसरणिचणेन चातुर्यघनेन वाङ्मयसरस्वतो रसगङ्गा-धरस्य दुरूहप्रमेयविरसं रसमादाय दारुणा समानंशान्दारुणासमानपि ललितसरलप्राकृतभारतीधाराभिः संमदप्ररोहरुचिरान्विधाय दानवारि गिरां साहित्ये परीक्षां दातुमिच्छतां तदर्थं परिश्रमाय मनांसि नियच्छतां दुरूहसंदर्भविषयाभ्यासव्यध्वे गच्छतामभिमतसरलनागरिक भाषानु-वादमधुरसुषीमसलिलाञ्जलिपानेन तृष्णामपाचिकीर्षतां साहित्यतत्त्वाधि-गमाधिं विधिवदध्ययनेन निर्विवासतां जीवनायेव प्रकृतग्रन्थाब्धेः सर्वरस-दानशौण्डोऽयं भाषानुवादमुदिरोऽस्य विदुषो महता प्रयासेनातिदुरूह-ग्रन्थिस्फोटनातिव्यासेनोदयं श्रीकृष्णदयोदयवशादिवोदयं प्रणीत इत्यपि दिष्ट्या । एतद्वचनगशितिकण्ठीलास्यचारवं निर्वर्ण्य नागरीभाषा-रसिकाः कविकेकिनोऽनतिप्रौढवयसं मानसाकर्षिविलोचनामनालीढा-सूयां निजप्रियतमसूर्यामिव भावगर्भितेन लोचनान्तेन निपीय स्वानुमोद-नाक्षरालङ्कारैरलमचीकरन्निति विश्वसिमि । अतएव नात्यपेक्षा निरतिशय-विद्यावतां सतां प्रेमलवभिक्षां भिक्षोरस्य नातिसम्मतस्य सम्मतावथापि नवोन्मिषितावस्थासुषमया कविशिखावलयूनां मनांसि वशंवदानि विदधानाया अनतिचिरानुवादभाषामयूरचिरप्स्याः विद्वन्मण्डनजनता-सम्मतिततिमण्डनैर्मण्डिताया अस्याः सविलासलास्यनिर्वर्णनेनासूयासूना-जर्जरितान्तःकरणशरीराणां केषाञ्चिद् दृग्दोषो न बाधेतेति विभाव्य प्रेम-भराप्लावितेन प्रसीदता हृदयेन स्वमसीमलीमसोऽक्षराङ्कोऽस्याः ललाटैक-देशे समर्पित एतदीयां सुषुमां नितान्तं नापकर्षतीति मत्यैव कृतापराधं मां क्षमन्तां क्षमाधराः । इत्यभ्यर्थये ।

बालकृष्णपोतकूर्चिः
नाथद्वाराधीश्वराश्रितः

दिनांक—२८-९-१६२७

श्रीहरिः

श्रीनाथद्वारस्थ श्रीगोवर्धनसंस्कृतपाठशालाप्रधानाध्यापकानां मही-सुरमहीपतेर्लब्धव्याकरणविद्वदुपाधिकानां बडोदानरेशतोऽधिगतव्याकरण-न्यायनिष्णातपदवीकानां भारतधर्ममहामण्डलतः प्राप्तविद्याभूषणोप-पदानां श्रीदरभङ्गानरेशाल्लब्धधौतप्रतिष्ठानां वाराणसीवास्तव्यश्रीमार्क-ण्डेयमिश्रव्याकरणतीर्थानां सम्मतिः ।

दुरवगमार्थप्रतिपादकस्य रसगङ्गाधरनामधेयस्य ग्रन्थमहाशयस्य पर्य-वसितार्थप्रतिपादकः हिन्दीरसगङ्गाधरनामानुवादः चतुर्वेदपं० श्रीपुरु-षोत्तमशर्मजन्मा ससुखसकलविज्ञानजनकत्वेन न केवलं सुकुमारमतीनामे-वाह्लादञ्जनयत्यपितु झटिति सुगमबोधहेतुत्वेन पर्यवसितयावदर्थजिज्ञा-सूनां परिपक्वबुद्धीनामपि विशिष्टधिषणाधीराणां विपश्चिताञ्चेतसि चमत्कृतिततिन्तनोत्यत्र न किमपि कथञ्चित् कदाचित् केचिदपि शास्त्र-परिशीलितचेतसः प्रेक्षावन्तस्संशेरते । अतएवास्योपादेयता न केषाञ्चि-दपि कोविदानां वैमत्यपथमासादयति । तत् स्वतएवास्योपादेयतान्ततां पराम्परामृशतितराम्

मार्कण्डेयमिश्रो मैथिलोऽपि

श्रीः

जयपुर-निवासी पं० पुरुषोत्तमशास्त्री चतुर्वेद का किया हुआ रसगङ्गाधर ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी में मैंने देखा। पण्डितराज जगन्नाथ की रसमयी लेखनी का मधुर प्रवाह, उनका अपूर्व तर्ककौशल, उनकी अकाट्यप्रमाणसंवलित लेखनशैली, उनकी प्रौढ सिद्धान्तस्थापनचातुरी, संस्कृत-साहित्य के विद्वानों को रसामृतसिन्धु में अवगाहन कराकर मन्त्रमुग्ध सा कर देती है यह बात साहित्यजगत् में छिपी हुई नहीं है। उनके इस रसगङ्गाधर ग्रन्थ का आस्वादन प्रायः विरले ही विद्वान् कर सके हैं। सर्वसाधारण जन सामान्य विद्वान् एवं विद्यार्थी लोगों को तो इसके अनुशीलन में बड़ी ही कठिनता पड़ती है। साहित्यसंसार में यह ग्रंथ भी अपने ढंग का निराला ही है, इसका पढ़ना भी साहित्यवेत्ता को नितान्त आवश्यक है। इसी कठिनता को दूर करने के लिये अनुवादक ने उद्योग किया है। यद्यपि विविधतर्ककर्कश कल्पनाजटिल ऐसे ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में अनुवाद करना एक साहस का ही कार्य है, क्योंकि कई स्थलों पर तो प्रौढ़ तर्ककल्पनाओं के आवर्त्त में पड़कर स्वच्छन्द हिन्दी अनुवाद होना ही दुर्घट है, तथापि अनुवादक का चातुर्य प्रशंसनीय है।.......................... यह अनुवाद प्रायः समस्त ग्रन्थ के मर्म को समझा देने में सहायक होगा, ऐसी मेरी सम्मति है। मैं अनुवाद के बहुत से स्थलों को पढ़कर सन्तुष्ट हुआ हूँ। मैं अनुवादकर्ता को उनके इस कार्य के लिये बधाई देता हूँ और उनके

पाण्डित्य और प्रगाढ साहस एवं उद्योग की सराहना करता हुआ यह निःसंकोच कहता हूँ कि ऐसे दुरूह ग्रन्थ के अनुवाद करने में जितनी सफलता की आशा होनी चाहिये थी वह अवश्य हुई है और उनका परिश्रम सफल हुआ है। मैं आशा करता हूँ कि विद्वान् लोग इसको अपनाकर अनुवादक के उत्साह को बढ़ायेंगे। मैं चाहता हूँ कि इसका प्रचार अच्छे प्रकार से होना चाहिये, इससे लाभ होने की अवश्य आशा है। शुभम्।

हरनारायण शास्त्री
(म० म०, वि० सा;)
हिन्दूकालेज, दिल्ली,

आश्विन शु० १ सोमे
सं० १९८४

श्रीः

पं० पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी साहित्याचार्यकृत रसगङ्गाधर के भाषानुवाद का मैंने अवलोकन किया। कई एक स्थलों के अवधानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट विदित होता है कि अनुवादक महोदय ने इस कठिन और दुरूह ग्रंथ का मार्मिक अर्थ खूब स्पष्ट कर समझाने का पूर्ण प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न में बहुत अंशों में वे सफल हुए हैं। यों तो रसगङ्गाधर के कई एक प्रकरण इतने जटिल हैं कि संस्कृतविद्वानों में भी उनका आशय स्वयं हृदयङ्गत कर दूसरों को समझा देनेवाले विद्वान् आजकल इनेगिने ही निकलेंगे, संस्कृत का साधारण ज्ञान रखनेवालों की तो वहाँ पहुँच ही कब हो सकती है, किन्तु इतना निःसन्देह कहा जा सकता है कि इस अनुवाद की सहायता से साधारण संस्कृतपरिचित वा असंस्कृतज्ञ हिन्दी विद्वान् भी उक्त ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय समझ सकेंगे। हिन्दी अनुवादों का इस युग में बहुत जोर है, सरल वा कठिन सबही प्रकार के ग्रन्थों के हिंदी अनुवाद के लिये बहुतों ने लेखनी उठाई है, यहाँ तक कि अनुवादक महाशय चाहे स्वयं ग्रन्थ का आशय न समझे हों किन्तु अनुवाद कर देने में बिलकुल नहीं हिचकते, यही कारण है कि शास्त्रीय ग्रन्थों के भाषानुवाद पर विद्वानों की अनास्था सी है, किन्तु प्रकृत अनुवाद उस कोटि का अनुवाद नहीं है। यह इस बात की स्पष्ट साक्षी देता है कि अनुवादक महाशय अनुवाद्य ग्रन्थ के मार्मिक विद्वान् हैं और अनुवादशैली भी उनकी प्रशस्त है एवं हिन्दी भाषा पर भी उनका पूर्ण अधिकार है। मुझे आशा है कि इस अनुवाद से साहित्यरसिक संस्कृत के विद्वान् विद्यार्थी और रसगङ्गाधर के रसपिपासु हिन्दीविद्वान् सब ही यथोचित लाभ उठावेंगे।

चन्द्रदत्तशर्मा मैथिल
व्या० आ० न्या० शा०
संस्कृत कालेज, जयपुर

कार्तिक कृ० २ सं० ८४

श्रीहरिः

मननतरितीर्णविद्यार्णवेन जगन्नाथपण्डितनरेन्द्रेणोन्नीतो रसगङ्गाधरमणिः सर्वेषामेव हृदयावर्जको भूयादिति धिया वैश्वानरोपपदधारिणा पुरुषोत्तमपण्डितेन सार्वजनीनभाषयाऽनूदितः काव्यप्रकाशादिग्रन्थेभ्यः साहित्यशास्त्रनिर्णयायासासहिष्णूनां साहित्यतत्त्वजिज्ञासूनामतीवोपकारकस्तात्पर्यजिज्ञासुजनतोषाधायकश्चेति संमनुते

जयपुर राजकीय संस्कृत पाठशालायां-
साहित्यप्रधानाध्यापकः-
साहित्यवेदान्ताचार्यः
पं० विहारीलाल शर्मा

॥ श्री ॥

पं० पुरुषोत्तम शास्त्री चतुर्वेदी का लिखा हुआ 'रसगङ्गाधर' का हिन्दी अनुवाद मैंने देखा। यह बहुत शुद्ध और विशद किया गया है। रसगङ्गाधर-जैसे जटिल भाषा में लिखे हुए ग्रन्थ का सर्वबोध्य हिन्दी में अनुवाद कर देना साधारण कार्य नहीं। परन्तु हर्ष है कि चतुर्वेदी-जी को इसमें सफलता हुई है। एक विशेषता इसमें यह भी है कि रस-गङ्गाधर के पद्यों का अनुवाद भी प्रायः पद्यों में ही किया गया है। पद्यों के अर्थ को विशद करने के लिये गद्य में भी उनका पूरा अनुवाद दे दिया है। यह ग्रन्थ हिन्दी भाषा में बड़े अभाव की पूर्ति करेगा, इसमें संदेह नहीं। हिन्दीभाषा में आजकल साहित्य के सब ही विषयों के ग्रन्थ आ रहे हैं, अब तक रसगङ्गाधर तक लोगों की पहुँच न हो पाई थी, परन्तु जब हिन्दी के कर्णधार इसमें अच्छी-अच्छी परीक्षाओं को नियत करके इसे परिष्कृत रूप देना चाहते हैं तब संस्कृत साहित्य के 'रसगङ्गाधर' जैसे ग्रन्थों का भी पाठ्यपुस्तकों में समावेश होना अत्यावश्यक है। वह मार्ग इस उद्योग से बहुत कुछ सरल होता जा रहा है। आशा है, हिन्दी के विद्वान् इसे उदारतापूर्वक अपनावेंगे।

(कविशिरोमणि)
भट्ट मथुरानाथ शास्त्री
साहित्याचार्य
संस्कृत प्रोफेसर 'महाराजा कालेज'
जयपुर स्टेट

द्वितीय संस्करण का

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम भाग का पूरे अट्ठाईस वर्ष के अनन्तर और दूसरे भाग का पूरे अठारह वर्ष के अंनतर पुनर्मुद्रण का अवसर उपस्थित हुआ है। जिस समय यह लिखा गया था उस समय की गतिविधि देखते हुए हमें तो आशा बहुत ही कम थी कि हिन्दी-रस-गंगाधर जैसे ग्रंथ का हमारे जीवन में पुनर्मुद्रण होगा भी, किन्तु भगवत्कृपा से यह अवसर आया तो सही—यह परम प्रसन्नता का विषय है। इसमें संदेह नहीं कि यह अवसर केवल गुणग्राहक विद्यारसिकों के अनुग्रह मात्र का फल है, अन्यथा प्रचारसंबन्धी प्रयत्न के सर्वथा अभाव में इतने जटिल ग्रन्थ का एक संस्करण भी समाप्त होना कठिन ही था।

जिस समय यह पुस्तक लिखी गई थी उस समय ऐसी पुस्तक के प्रकाशक ही दुर्लभ थे और स्वान्तःसुखाय ग्रंथ का अनुवाद आरंभ कर देने पर भी आशा कम ही थी कि इस ग्रंथ का प्रकाशक सहसा अनायास प्राप्त हो जायगा, परन्तु नागरी-प्रचारिणी सभा के प्रधान संस्थापक स्व० बाबू श्रीश्यामसुन्दरदासजी की गुणग्राहकता की जितनी प्रशंसा की जाय वह कम ही है। आचार्य-परीक्षा के एक विद्यार्थी की इस कृति के कुछ आरम्भिक अंश को सुनते ही उनने कहा कि यह पुस्तक नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित कर दी जायगी और प्रथमानन का अनुवाद समाप्त होते ही उनने इसका प्रकाशन प्रारम्भ भी कर दिया, उसी का फल है कि आज यह पुस्तक संशोधित और परिवर्धित रूप में गुणग्राहकों की सेवा में पुनः उपस्थित हो रही है।

इस संस्करण की विशेषताएँ

(१) प्रथम संस्करण के आरम्भिक भाग में काव्य-लक्षण का जटिल परिष्कृत रूप अनुवाद में छोड़ दिया गया था, जिसके कारण कई संस्कृत पंडितों ने ग्रंथ को अपूर्ण भी कहने का साहस किया, पर विद्वानों का अनुरोध रहा कि आचार्य के विद्यार्थियों की सुविधा के लिए वह भी आवश्यक है, अतः इस आवृत्ति में वह सविवेचन संनिविष्ट कर दिया गया है।

छोड़ने का कारण यह था कि उस समय की परिस्थिति देखकर हमने प्रथमतः सोचा था कि रसगङ्गाधर का सारमात्र लेकर हिन्दी जानने-वालों के उपयुक्त एक पुस्तक तयार कर दी जाय, पर बाद में विदित हुआ कि ऐसा सार न तो हिन्दी वालों के उपयुक्त होगा, क्योंकि हिन्दी में इतनी उच्चता तक जाने की उस समय विशेष आशा नहीं थी और न संस्कृतवालों के उपयुक्त होगा, क्योंकि संस्कृतवालों को पंक्तियाँ लगाने में वैसा सार काम देता नहीं। अतः आगे कोई अंश न छोड़ कर ही अनुवाद करना उचित समझा गया, किन्तु प्रारम्भिक भाग छपना आरम्भ हो गया था, अतः वह अंश ज्यों का त्यों रह गया।

(२) पुराने संस्करण के प्रथम भाग में प्रथमानन मात्र था, किन्तु इस संस्करण में ध्वनि-विवेचन और शक्ति-लक्षणावाला समग्र अंश प्रथम भाग में ले लिया गया है, जिससे परीक्षार्थियों को सुविधा हो सके। अब अगले भाग में केवल अलंकारों वाला अंश ही रह गया है, जिससे विद्वानों की दृष्टि से भी विषय-विभाग उचित रूप में हो गया है।

ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक था कि पहले द्वितीय भाग में केवल उत्प्रेक्षान्त अंश ही आ पाया था, किन्तु अब रसगङ्गाधर का समग्र अनुवाद समाप्त हो चुका है, अतः इस अंश को प्रथम भाग में न ले लिया जाता तो वह भाग जो पहले से ही बड़ा था, बहुत बड़ा हो

जाता और हिन्दीरसगङ्गाधर को बिना तीन भागों में छापे काम न चलता।

(३) पुराने संस्करण में हमारे दूरस्थ रहने से अनुवाद-संबन्धी जो अशुद्धियाँ भूतपूर्व संशोधकों की स्वतन्त्रता अथवा असावधानी से रह गई थीं उन्हें इस संस्करण में ठीक कर दिया गया है।

पर इस संबन्ध में इतना कहना आवश्यक है कि सभा की ओर से इसके पुनःप्रकाशन का विचार आज से दो वर्ष पहले हो जाने पर भी प्रबन्धकारिणी सभा की रजत-जयन्ती-आदि कार्यों में व्यस्तता एवं सहज उपेक्षाबुद्धि के कारण प्रकाशन का काम टलता ही रहा, अतः निराश-से होकर हमें पुनः संपादन कार्य शिथिल-सा कर देना पड़ा और जब प्रकाशनकार्य आरम्भ हो गया तब अवकाशाभाव के कारण इतना समय नहीं था कि एक-एक पंक्ति को मूल पुस्तक से यथेष्ट रूप में मिलाकर छपवाया जाय। यद्यपि बहुत अंशों में यह कार्य कर लिया गया है, फिर भी कोई त्रुटि रह गई हो तो विद्वान् पाठकों से क्षमाप्रार्थना और सूचनार्थ निवेदन है।

(४) 'पण्डितराज का परिचय' वाला भूमिकाभाग उस समय के अनन्तर प्राप्त समस्त सामग्री द्वारा परिवर्धित और संशोधित कर दिया गया है। आशा है, इतिहासप्रेमियों को इससे संतोष होगा।

हाँ, इतना निवेदन आवश्यक है कि कुछ अक्षरों की सूक्ष्मता के कारण मेरे दृष्टिदोष से (क्योंकि मोतियाबिन्द होने लग गया है), तथा असावधानी से और कुछ मुद्रकों की उपेक्षा से अन्तिम प्रूफ के करेक्शन में छूट जाने के कारण अक्षराशुद्धियाँ रह गई हैं। कृपाकर विद्वान् पाठक शुद्धिपत्र से मिलाकर, अथवा स्वयं, संशोधित कर लें और क्षमा करें।

अन्त में मैं अपने प्रिय शिष्य तत्रभवान् काशीनरेश श्रीविभूति-नारायणसिंहजी एम० ए० को हार्दिक शुभाशीर्वाद देता हूँ, जिनके

आश्रय, उत्साह, प्रेरणा, सत्परामर्श और पुस्तकादि की सहायता से ही यह पुनःसंस्करण इस रूप में संपन्न हुआ है और 'पण्डितराज के परिचय' का परिवर्धन तो इन्हीं की सत्प्रेरणा का फल है। भगवान् इन्हें दीर्घायु और यशस्वी करें।

मेरे प्रिय शिष्य पं० श्री दामोदर झा साहित्याचार्य ने भी पुनः-संपादन कार्य में यथावसर जो सहायता की है उसके लिए उन्हें शुभाशीर्वाद देना आवश्यक समझता हूँ। शेष द्वितीय भाग में।

श्रीरामनवमी
सं० २०१२

पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी
राजपण्डित, श्रीकाशीनरेश,
रामनगर (बनारस)

भूमिका की विषय सूची

(ग)

ग्रन्थ की

विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक

विषय	पृष्ठांक

विषय	पृष्ठांक
अर्थगुण	१३७
श्लेष	१३७
प्रसाद	१३९
समता	१३६
माधुर्य	१४०
सुकुमारता	१४१
अर्थव्यक्ति	१४१
उदारता	१४२
ओज	१४२
कांति	१४६
समाधि	१४६
नवीन आचार्यों का मत	१४७
गुण २० न मानकर ३ ही मानने चाहिए	१४७
माधुर्यव्यञ्जक रचना	१५०
ओजोव्यंजक रचना	१५२
प्रसादव्यंजक रचना	१५३
रचना के दोष	१५६
साधारण दोष	१५६
विशेष दोष	१६२
संग्रह	१७०
भाव	१७३
भाव का लक्षण	१७६
भाव किस तरह ध्वनित होते हैं ?	१७६
भावों के व्यंजक कौन हैं ?	१७७

विषय	पृष्ठांक

विषय | पृष्ठांक

द्वितीयआनन

विषय | पृष्ठांक

विषय	पृष्ठांक

विषय	पृष्ठांक

प्रथम संस्करण के प्रथमानन का

निवेदन

पुञ्जीभूतिः सुबहुजनिभिः श्रेयसां संचितानाम्,
साक्षाद् भाग्यं ननु निवसतां नन्दपल्लीषु पुंसाम् ।
पात्रं प्रेम्णां व्रजनववधूमानसादुद्गतानाम्,
आम्नायानां किमपि हृदयं स्मर्यतां मञ्जुमूर्ति ॥

उद्देश्य और परिस्थिति

जिस समय मैं श्रीनाथद्वार की संस्कृतपाठशाला में अध्यापक था, उस समय मेरे एक मित्र वैद्य श्रीकृष्णशर्मा हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा दे रहे थे। वे कभी-कभी मेरे पास भी रसों और अलंकारों का विषय समझने के लिये आ जाया करते थे। मुझे उस समय अनुभव हुआ कि हिंदी भाषा में रसों और भावों के विषय को शास्त्रीय शैली से यथार्थ रूप में समझा देनेवाला कोई भी ग्रंथ नहीं है। उन्होंने मुझसे आग्रह भी किया था कि आप इस विषय में कुछ लिखिए; पर अवसराभाव से उस समय कुछ भी न हो सका। अस्तु।

उस बात को आज कोई चार-पाँच वर्ष हो गए। विक्रम संवत् १९८२ के माघ मास में मैंने किसी विशेष कारण-वश श्रीनाथद्वार छोड़ दिया। उसके कुछ ही दिनों बाद---चैत्र में---मुंबई निवासी गोस्वामि-कुलकौस्तुभ श्रीगोकुलनाथजी महाराज ने मुझे जूनागढ़ और चापासनी (जोधपुर, मारवाड़) के आचार्यासनों पर विराजमान चि० गोस्वामी

श्रीपुरुषोत्तमलालजी तथा चि० गोस्वामी श्रीव्रजभूषणलालजी के अध्यापन के लिये नियुक्त किया।

इसी अवसर में मुझे काशी को साहित्याचार्य परीक्षा के लिये रसगंगाधर के अध्ययन और मनन की आवश्यकता हुई। रसगंगाधर से परिचित सभी संस्कृताभिज्ञ इस बात को मानते हैं कि रसों और भावों का जैसा विशद विवेचन रसगंगाधर में है वैसा और कहीं नहीं है, अतः इस समय मेरे हृदय में अपने पूर्वोक्त मित्र के आग्रह की स्मृति जागरित हुई और विचार हुआ कि क्या ही अच्छा हो, यदि यह ग्रंथ हिंदी-भाषा-भाषियों के भी उपयोग में आ सके। इस विचार के कुछ दिन पूर्व, मेरे मित्र और भूपाल-नोबल्स-स्कूल, उदयपुर (मेवाड़) के अध्यापक साहित्यशास्त्री श्रीगिरिधरलालजी व्यास ने मुझसे इस अनुवाद के लिये कहा भी था। कदाचित् उनका यह विश्वास था कि मेरा अनुवाद संस्कृत रसगंगाधर के अध्येता छात्रों के लिये भी उपयोगी होगा।

चापासनी एक छोटा-सा गाँव है, इतना छोटा कि वहाँ सब मिलाकर सौ मनुष्यों की भी बस्ती नहीं है। यद्यपि अध्ययन, अध्यापन और भोजन-निर्माणादि के कारण (क्योंकि मैं यहाँ सकुटुंब नहीं रहता था) बहुत ही कम समय बच पाता था; तथापि यहाँ कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो मुझसे इस समय को भी छीन लेता। हाँ, यदि मैं उसका दुरुपयोग ही करना चाहता तो बात दूसरी थी। सो मैंने इस अनुवाद का कार्य आरम्भ कर ही डाला।

पर पूर्वोक्त आचार्यकुमार यहाँ स्थिर रूप से नहीं रह पाते। उन्हें भारतवर्ष के अधिकांश भाग में फिरते रहना होता है, और मैं तो रहा उनके साथ; इस कारण तथा अन्यान्य कारणों से भी मुझे खूब ही भ्रमण करना पड़ता है। सो इस (प्रथमानन के) अनुवाद के लिखते समय मैंने करांची, हैदराबाद (सिंध), जोधपुर (कई बार), जयपुर

(कई बार), अहमदाबाद, बड़ौदा, ईडर, बीकानेर, नागोर, जूनागढ़ (कई बार), काशी, मथुरा और श्रीनाथद्वार आदि अनेक प्रसिद्ध नगरों के अतिरिक्त काठियावाड़ के शतावधि गावँड़ों में—प्रायः आज पहुँचे और कल चले इस हिसाब से—भ्रमण किया है, और आज भी यही क्रम वर्त्तमान है।

गावँड़ों में प्रायः किसानों के घरों में रहना होता है। उन गोमय-गंधी अंधतमसावृत तथा खटमलों और पिस्सुओं के नियत निवासों में जिन कष्टों का अनुभव होता है, उन्हें अनुभविता के अतिरिक्त कौन समझ सकेगा? हाँ, कभी-कभी अच्छे घर भी प्राप्त हो जाते हैं; पर भाग्य से ही। फिर वहाँ पहुँचते ही घर जमाना, भोजन बनाना, पूर्वोक्त कुमारों को पढ़ाना और आवश्यकता हो तो व्याख्यानादि भी देना पड़ता है। इसके उपरांत यदि सद्भाग्य से कुछ समय प्राप्त हो गया और शरीर तथा मन स्वस्थ रहा तो इस अनुवाद के लिखने का अवसर आता है। पर, ऐसी परिस्थिति में एकाग्रता और स्वास्थ्य कहाँ तक रह सकते हैं; इसका पता भुक्तभोगी को ही हो सकता है।

मुझे इस बात का बोध है कि मैं यह सब लिखकर आपका और अपना दोनों का समय नष्ट कर रहा हूँ; तथापि यह समझकर कि मेरी परिस्थिति का अनुभव हो जाने के कारण, आप इस अनुवाद में कदाचित् कोई त्रुटि रह गई हो तो क्षमा कर सकेंगे, ये बातें लिख दी गई हैं। मैं आशा करता हूँ कि आप मुझे इस समयघातित्व के दोष से मुक्त कर देंगे।

अनुवाद

मैं अनुवाद उसे मानता हूँ, जिसे, जिस भाषा में वह लिखा गया है, उस भाषा मात्र को जाननेवाला मनुष्य समझ सके। उसे मूलग्रंथ की भाषा के अध्ययन की आवश्यकता ही न पड़े। पर आज-कल हिंदी-भाषा में संस्कृत-भाषा ऐसी मिल गई है कि बिना

उसके हिंदी का कुछ काम ही नहीं चल सकता; इसे उससे सर्वथा पृथक् कर देना असंभव ही है। जब समाचारपत्रों की भाषा भी संस्कृत-प्रचुर होती जा रही है, तब पुस्तकों की भाषा के विषय में तो कहना ही क्या है। फिर यह तो एक ऐसे ग्रंथ का अनुवाद है जिसके विषय और भाषा इतने गंभीर हैं कि उनकी टक्कर से ऐसे वैसे संस्कृतज्ञों का तो सिर चकराने लगता है। ऐसी स्थिति में हमारे-जैसा अल्पज्ञ और व्यग्रचित्त प्राणी इस कार्य में कृतकृत्य होने की आशा करे यह यद्यपि दुस्साहस-मात्र ही है, तथापि यह समझकर कि संस्कृत-भाषा के महाविद्वान् तो इस काम को हाथ में लेंगे नहीं; क्योंकि वे बहुधा हिंदी में लेख लिखने में अपना अपमान मानते हैं, हमने अपनी अयोग्यता समझते हुए भी यह कुचेष्टा कर ही डाली। हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं कि हमने अपने पूर्वोक्त सिद्धांत के अनुसार, जहाँ तक हो सका, अनुवाद के सरल और बामुहाविरे बनाने के प्रयत्न में किसी प्रकार की कमी नहीं की; और नव्य न्याय की शैली से लिखे हुए इस ग्रंथ के अनुवाद में भी, बिना किसी विशेष कारण के, कहीं अवच्छेदक तथा अवच्छिन्न शब्द नहीं आने दिया और उन स्थलों का तात्पर्य लिखने का प्रयत्न किया है। अब हम सफल हुए अथवा असफल, इस बात का निर्णय विद्वान् लोग करेंगे। वे कृपाकर इस बात को भी ध्यान में रखेंगे कि शास्त्रीय विषय सरल से सरल करने पर भी कहानी नहीं बन सकता।

पद्यानुवाद

हमने एक और कुचेष्टा की है। वह है उदाहरण-पद्यों का पद्यानुवाद[1]। इसका कारण केवल यह है कि पद्य में जो एक प्रकार की बन्ध-

---

१—यह पद्यानुवाद प्रथमानन मात्र में ही हो सका। आगे न तो सहस्राधिक पद्यों का अनुवाद करने के लिए समय ही था, न इस श्रम का कोई फल ही दिखाई दिया, अतः छोड़ दिया गया।

कृत विशेषता होती है, वह केवल गद्यानुवाद में नहीं आ सकती; और हमारी इच्छा थी कि हिंदी के ज्ञाता मात्र भी उसका अनुभव कर सकें। अतएव हमने अनुवाद में इस बात का ध्यान रखा है कि मूल में जहाँ नागरिका, उपनागरिका अथवा ग्राम्य वृत्ति है वहाँ अनुवाद में भी वही वृत्ति रहे, यहाँ तक कि जहाँ एक पद्य में तीन-तीन वृत्तियाँ बदली हैं वहाँ भी उनके निर्वाह का यथाशक्ति प्रयत्न किया जाय। इतने पर भी इस विषयमें मतभेद हो सकता है और ऐसा होना अनिवार्य भी है।

विषय-विवेचन

हमने एक अनधिकारचेष्टा और की है। वह है भूमिका का 'विषय-विवेचन' भाग। इसमें हमने जिन विषयों का विवेचन किया है, वे अत्यन्त गंभीर और अत्यधिक सामग्री तथा अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं, और हमें विश्वास है कि इस विषय में हमारे जैसे अल्पज्ञ और अल्पबुद्धि प्राणी से अनेक भूलें हुई होंगी और कई बातों की कमी तो हमारे जानते में भी रह गई है, जिसे हम पूरा नहीं कर सके।*

---

* बड़ी प्रसन्नता की बात है कि इस 'विषय विवेचन' भाग को संस्कृत और हिन्दी के विद्वानों ने बहुत ही पसन्द किया। अनेकों ने नाम सहित और अनेकों ने बिना नाम इसको अपनी-अपनी पुस्तकों में उद्धृत किया है।

महामहोपाध्याय श्री बालकृष्ण मिश्र, अध्यक्ष, संस्कृत महाविद्यालय हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी ने अपनी संमति में लिखा है—

'पं० पुरुषोत्तमचतुर्वेदिविरचिता रसगङ्गाधरस्य मया विलोकिता समस्ता प्रस्तावना, यत्र विषयविकाशक्रमः वक्रोक्तिः प्रसादः समालोचनाचानन्यसाधारणधमादधाति सौहित्यम्, साहित्य प्रवीणतां च प्रणेतुः सह सहृदयतया निवेदयति।'

इतने पर भी यह समझकर कि हमारे इस विषय के छेड़ देने पर, संभव है, कोई भावी विद्वान् इसे सर्वांगपूर्ण बना सके और इस समय भी जैसा कुछ संभव है, वह इन विषयों के अध्येताओं के उपयोगी हो, हमसे जो कुछ बन पड़ा, लिख ही दिया है। इसके लिखने में भी हमें अपनी परिस्थिति के कारण अत्यंत कष्ट उठाना पड़ा है। हम आशा करते हैं कि हमारे गुणग्राहक विद्वान् हमारी अल्पज्ञता और परिस्थिति को समझकर तथा भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की इस उक्ति को स्मरण करके कि "सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः" दोषों पर दृष्टि न देंगे और गुणग्रहण करेंगे। 'विषय विवेचन' प्रकरण में जो आचार्यों के काल लिखे गए हैं, वे प्रायः म० म० श्रीदुर्गाप्रसादजी द्विवेदी की साहित्यदर्पण की भूमिका से और श्रीसुशीलकुमार दे, एम० ए० के 'संस्कृत पोयटिक्स' से लिए गए हैं, एतदर्थ उन्हें धन्यवाद।

अड़चनें

अनुवाद करने में हमें अनेक अड़चनें भी उपस्थित हुईं। सबसे बड़ी अड़चन तो यह थी कि इस ग्रंथ पर कोई विवेचनापूर्ण और विशद व्याख्या नहीं है, केवल नागेश भट्ट की गुरुमर्मप्रकाश नामक टिप्पणी है, जिसमें उसके नामानुसार मोटे-मोटे मर्म्मों पर प्रकाश डाला गया है; अतः अधिकांश स्थलों की विवेचना का भार इस अल्पज्ञ की तुच्छ बुद्धि पर ही आ पड़ा। दूसरी अड़चन यह थी कि यह ग्रंथ अब तक दो स्थानों से प्रकाशित हुआ है। एक काशी से और दूसरा 'काव्यमाला' में बंबई से। पर, न जाने क्यों दोनों ही संस्करण स्थान स्थान पर अशुद्ध हैं। काशीवाला संस्करण तो मुद्रणोपयोगी लेख-चिह्नों से भी शून्य है, उसमें तो विशेषतः पाराग्राफ तोड़ने का भी परिश्रम नहीं किया गया। यथेष्ट व्याख्या से रहित अशुद्ध और

जटिल ग्रंथ को शुद्ध करके उसका यथोचित अनुवाद करने में कितनी कठिनता होती है, उसे वही समझ सकता है, जिसे यह काम पड़ा हो। सो यह भार भी इस तुच्छबुद्धि पर ही आ पड़ा। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि दोनों पुस्तकों के संवाद से हमें संशोधनकार्य में बहुत-कुछ सहायता मिली है। तीसरी अड़चन यह थी कि उपर्युक्त भ्रमण के कारण हमें अपेक्षित पुस्तकादि भी नहीं प्राप्त हो सकती थीं; और सुतरां काठियावाड़ में; क्योंकि यहाँ संस्कृत भाषा का बिलकुल प्रचार नहीं है। इसके अतिरिक्त हमारे स्वास्थ्य ने भी समय-समय पर अंतराय उपस्थित कर दिया। पर, इन सब अड़चनों के होते हुए भी जहाँ तक हो सका, हमने गड़बड़-घोटाला चलाने की कोशिश नहीं की; इस प्रकार प्रथमानन का यह अनुवाद आप की सेवा में उपस्थित है। इसमें संदेह नहीं कि यदि हमारी परिस्थिति और स्वास्थ्य अच्छे होते तो यह अनुवाद इससे कहीं अच्छे रूप में सिद्ध होता। अस्तु, ईश्वरेच्छा।

अनुग्राहक

अब अंत में हम अपनी अनुग्राहकमंडली का स्मरण करके इस कथा को समाप्त करते है—

इस विषय में हम सबसे पहले अपने परमपूजनीय पितृचरण पंडित श्रीमथुरालालजी चतुर्वेदी का, जो इस समय अनंत सुख का अनुभव कर रहे हैं, स्मरण करेंगे; क्योंकि यह जो कुछ आपके सामने है, वह उन्हीं के अकृत्रिम प्रेम, संस्कृत-शिक्षणश्रम और हार्दिक आशीर्वाद का फल है।

तदनंतर श्रीमद्वल्लभाचार्य के प्रधान पीठ पर विराजमान गोस्वामितिलक श्रीगोवर्द्धनलालजी महाराज और उनके विद्याप्रेमी कुमार श्री-

दामोदरलालजी महोदय के निःस्वार्थ अनुग्रह और मेरे विद्यागुरु शीघ्र-कवि श्रीनन्दकिशोर शास्त्रीजी के उपकार का स्मरण आवश्यक है; क्योंकि इस अकिंचन का, किशोरावस्था के अनंतर, शिक्षण और रक्षण उन्हीं की सहायता से हुआ है।

इसके बाद महामहोपाध्याय पं० श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदीजी का स्मरण अपेक्षित है; क्योंकि रसगंगाधर की अनेक ग्रंथ-ग्रंथियों के शिथिलीकरण में उनका भी हाथ है।

अब यदि इस अवसर पर हम अपने परम सुहृद् काशीनिवासी साहित्यभूषण श्रीसाँवलजी नागर का स्मरण न करें, तो कदाचित् हमारा-सा कृतघ्न कोई न होगा; क्योंकि इस पुस्तक का लेखन और प्रकाशन उनके उत्साहदान और निष्काम सौहार्द से बहुत कुछ संबंध रखता है।

अंत में श्री गोवर्द्धनधरण से प्रार्थना करते हैं कि वे इस अनुवाद को साहित्यानुरागियों का प्रेमपात्र और चिरायु करें। इति शम्।

बैशाख कृष्ण ८ शुक्रवार
सं० १९८४ जयपुर } पुरुषोत्तमशर्म्मा चतुर्वेदी



द्वितीय आनन का

निवेदन

नवविकसितनीलनीरजातद्युतिहारिस्वशरीरसौभगेन ।
मदनमददमाय दत्तपत्रं व्रजवनितादयितं विभुं स्मरामः ॥

परिस्थिति

प्रथम भाग के लिखने के समय जैसी परिस्थिति थी, प्रायः, वैसी ही परिस्थिति में यह भाग भी लिखा गया है। यद्यपि संयोगवशात् इस भाग का आरंभ और समाप्ति दोनों ही जूनागढ़ हवेली के अधिपति गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमलालजी महाराज के यहाँ रहते हुए ही हुए, तथापि कुछ अंश को छोड़कर इस भाग का सर्वांश मुंबई के श्रीगोकुलाधीश-मंदिर के अधिपति गोस्वामी श्रीमग्नलालजी (उपनाम श्रीगोपिकावल्लभ जी) महाराज के आश्रय में ही लिखा गया है और मुझे उनकी सहृदयता तथा सज्जनता की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी चाहिए कि उनके सद्व्यवहार ने मुझे इस घोर परिश्रम-साध्य कार्य के करने में कभी निराश अथवा हतोत्साह नहीं होने दिया। यद्यपि इसके लिखते समय एक बार भयङ्कर उदरशूल के कारण, जिसने लगभग आठ महीने मेरा पिण्ड नहीं छोड़ा, ऐसा प्रतीत होने लगा था कि यह कार्य अधूरा ही रह जायगा, तथापि श्रीगोवर्धनधरण की दया से किसी तरह उत्प्रेक्षांत भाग तो समाप्त हो ही गया। इस भाग के लिखते समय भी मुझे यद्यपि मध्यप्रदेश के नागपुर, वर्धा, हिंगनघाट आदि तथा गुजरात के अहमबाद, नडियाद आदि और राजस्थान के जयपुर,

जोधपुर आदि के अतिरिक्त काठियावाड़ (वर्तमान सौराष्ट्र) के अनेक गावड़ों में भटकना पड़ा है, तथापि इसका अधिकांश भाग मुंबई और वेरावल बंदर (प्रभास क्षेत्र) में ही लिखा गया है; क्योंकि हमारा अधिकांश वास उन दिनों वहीं रहा।

अनुवाद

अनुवाद के विषय में इतना कहना आवश्यक है कि हमने इस भाग में पद्यों का पद्यानुवाद नहीं रखा; क्योंकि एक तो इससे वैसे ही पुस्तक बहुत बड़ी हो जाती और दूसरे उसके लिए समय भी अधिक चाहिए था, जिसका हमारे पास प्रायः अभाव था।

विषय-विवेचन

इस विषय में हम इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि इस भाग में जो 'काव्य के आत्मा' के विषय में विचार किया गया है वह पूर्णतया प्राचीन होते हुए भी साहित्यदर्पण के अनुकूल नहीं है। आज-कल हिन्दीसाहित्यज्ञ लोग साहित्य दर्पण के अनुसार केवल 'रस' को ही काव्यात्मा मानने लग गए हैं। पर हम अपनी बुद्धि के अनुसार जहाँ तक समझ पाए हैं ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और रसगङ्गाधर के कर्त्ताओं के मत अलङ्कारसर्वस्व के ही अनुकूल पाते हैं और इसलिए हमने केवल रस को नहीं, किन्तु त्रिविध (वस्तु, अलंकार और रस रूप) व्यङ्ग्य को (चाहे वह प्रधान हो अथवा गुणीभूत[1]) काव्य का आत्मा माना है। इस विषय में मतभेद को अवकाश है और यदि कोई सहृदय

---

१ "गुणीभूतोऽप्ययं व्यङ्ग्यः कविवाचः पवित्रयतीत्यमुना द्वारेण तस्यैवात्मत्वं समर्थयितुमाह"—श्री अभिनवगुप्त (लोचन तृ० उ० ३४ कारिका)

विद्वान् निष्पक्ष होकर इस विषय में कुछ विचार करना चाहेंगे तो हम उनके विचारों को सोचने-समझने और स्वीकार करने के लिए अवश्य उद्यत हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस पुस्तक में जो विचार हमने प्रकट किए हैं अभीतक हम उन्हीं विचारो के हैं।

प्रोत्साहन

प्रथम भाग यद्यपि वैसी परिस्थिति में लिखा गया था, तथापि अनेक विद्वानों ने उसकी लिखित और प्रकाशित प्रति को विवेचनापूर्ण दृष्टि से देखकर और हमारे श्रम की प्रशंसा करके हमको पूर्णतया प्रोत्साहित किया है। उनमें से मुख्य मुख्य मान्य विद्वानों के नाम धन्यवाद सहित नीचे लिखे जाते हैं।

स्थानाभाव तथा आत्मप्रशंसा को उचित न समझने के कारण उनकी विस्तृत सम्मतियाँ प्रथम संस्करण में नहीं दी जा सकीं थीं। अब उनमें से कुछ दी जा रही है।

महामहोपाध्याय श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, प्रिंसिपल, संस्कृत-कालेज, जयपुर।

*स्व० महामहोपाध्याय श्रीहरनारायणजी शास्त्री, प्रोफेसर, हिंदू-कालेज, देहली।

स्व० महामहोपाध्याय श्रीरामकृष्णशास्त्री, अहमदाबाद (गुजरात)

स्व० महामहोपाध्याय श्रीदेवीप्रसाद, कविचक्रवर्त्ती, काशी।

महामहोपाध्याय श्रीबालकृष्ण मिश्र, प्राच्यविभागाध्यक्ष, विश्व-विद्यालय, काशी।

---

* हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि म० म० श्री हरनारायण जी शास्त्री की द्वितीय भाग देखने की प्रबल इच्छा थी और उन्होंने मुझसे कहा भी था, किंतु अभाग्यवश वे इस भाग के प्रकाशन से पूर्व ही स्वर्गवासी हो गये।

स्व० श्रीमान् भट्ट नंदकिशोरजी शास्त्री, आशुकवि, विद्याविभागाध्यक्ष, श्रीनाथद्वारा

श्रीमान् बालकृष्णजी शास्त्री, भूतपूर्व प्रधानाध्यापक, श्रीगोवर्द्धन-संस्कृत पाठशाला, नाथद्वारा।

श्रीमान् चन्द्रदत्तजी ओझा, व्याकरणाचार्य, वाइस प्रिंसपल, संस्कृत कालेज, जयपुर।

स्व० श्रीमान् बिहारीलालजी, साहित्यवेदांताचार्य, भू० पू० साहित्य-प्रधानाध्यापक, जयपुर।

श्रीमान् भट्ट मथुरानाथ जी शास्त्री, साहित्याचार्य, साहित्यप्रधानाध्यापक, जयपुर।

* महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथ जी रेउ, साहित्याचार्य, अध्यक्ष पुरातत्त्वविभाग, जोधपुर।

+ महामहोपाध्याय श्री परमेश्वरानन्दजी शास्त्री, संस्कृतप्रधानाध्यापक, सनातनधर्म कालेज, लाहौर।

उपसंहार

अंत में हम श्री गोवर्धनधरण से विनम्र प्रार्थना करते हैं कि वह इस परिश्रम से संपादित अनुवाद को विद्वानों का प्रेम भाजन बनावें।

गणेश चतुर्थी
सं० १९९४

पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी
मेयो कालेज, अजमेर।

---

* आपने सरस्वती में समालोचना लिखी थी। आपने हमें जोधपुर राजकीय पुस्तकालय से प्रथम भाग और द्वितीय भाग की भूमिका लिखते समय अनेक पुस्तकें देकर भी अनुगृहीत किया था। तदर्थ अनेक धन्यवाद।

+ आपने हिन्दी रसगङ्गाधर के कई हिन्दी पद्य 'अलंकार-कौमुदी' नामक स्व-रचित ग्रन्थ में उद्धृत भी किए हैं।

पंडितराज का परिचय

जाति, वंश, अभ्युदय और शिष्य आदि

पंडितराज जगन्नाथ तैलंग जाति[1] के ब्राह्मण थे। उनका जातीय उपनाम वेगिनाडु अथवा वेल्लनाडु था, जिसे वेल्लनाटीय[2] भी कहा जाता है और जो श्रीमद्वल्लभाचार्य के सजातीय उत्तरभारतीय तैलंगों का, अब तक, उपनाम है। इनका व्यक्तिगत उपनाम 'त्रिशूली'[3] था, जो कि जयपुर की जनता में अब तक भी प्रसिद्ध है। उनके पिता का नाम पेरुभट्ट[4] अथवा पेरम भट्ट[5] था और माता का नाम 'लक्ष्मी'[6]। पेरुभट्ट महाविद्वान् थे। उनने ज्ञानेंद्र भिक्षु[7] नामक विद्वान् यति से वेदांत शास्त्र, महेंद्र पंडित से न्याय और वैशेषिक शास्त्र, खंडदेव पंडित

१—'...तैलंग कुलावतंसेन पंडितजगन्नाथेन...' ('आसफविलास' का आरंभ)।

२—कुलपति मिश्र ने (आगे उद्धृत) अपने पद्य में 'वेलनाटीय' शब्द ही लिखा है।

३—मिश्र जी ने भी यह उपनाम लिखा है; अतः यह संदेह अनुचित है कि त्रिशूली जगन्नाथ कोई अन्य था।

४—रसगंगाधर में।

५—प्राणाभरण में।

६—रसगंगाधर में।

७—रसगंगाधर के आरंभ का द्वितीय पद्य।

से पूर्वमीमांसा शास्त्र और शेष[1] वीरेश्वर पंडित से व्याकरणमहाभाष्य पढ़ा था। इसके अतिरिक्त वे वेदादिक अन्य शास्त्रों के भी ज्ञाता थे, जैसा कि रसगंगाधर के 'सर्वविद्याधर'[2] पद से सूचित होता है। पंडितराज ने प्रायः अपने पिता से अध्ययन किया था; पर इनके गुरु शेष वीरेश्वर से भी कुछ पढ़ा हो ऐसा प्रतीत होता है; यह बात 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक ग्रंथ के 'अस्मद्गुरुपंडितवीरेश्वराणाम्' इस पद से सूचित होती है। पण्डितराज स्वयं भी वेद, वेदांत, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, व्याकरण और साहित्य आदि शास्त्रों के महाविद्वान् थे, ऐसा रसगंगाधर में स्थान-स्थान पर उद्धृत प्रमाणों, लेखों और प्रतिपादन-शैली से सिद्ध है और इस विषय में किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती।

जब ये नवयुवक ही थे उसी समय इनका तत्कालीन बादशाह शाहजहाँ के दरबार में प्रवेश हो गया था और बादशाह ने इनकी विद्वत्ता से संतुष्ट होकर इन्हें 'पंडितराज'[3] पदवी प्रदान की थी। इनकी युवावस्था का अधिकांश शाहजहाँ[4] तथा उसके पुत्र दाराशिकोह[5] की छत्रच्छाया में ही व्यतीत हुआ था। शाही जमाने के संस्कृत-पंडितों में हम इन्हें परम भाग्यशाली मानते हैं, क्योंकि 'तख्त-ताऊस' और 'ताजमहल' आदि परम-रम्य वस्तुओं के बनवानेवाले और

१—यह उनका उपनाम था।

२—'एतेन तदितरशास्त्रवेदादिज्ञातृत्वं सूचितम्' (गुरुमर्मप्रकाशः)।

३—'...सार्वभौमश्रीशाहजहाँप्रसादादधिगतपंडितराजपदवीकेन...' (आसफविलास' का आरंभ)।

४—'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः' (भामिनी-विलास)।

५—'जगदाभरण' नामक ग्रंथ में दाराशिकोह का ही वर्णन है।

बड़ी भारी शान-शौकत से रहनेवाले सार्वभौम शाहजहाँ के उस शक्रोपम वैभव के भोग में इनका भी एक भाग था।

'संग्राम-सार'[1] और 'रस-रहस्य'[2] आदि ग्रंथों के निर्माता, जयपुर-नरेश श्रीरामसिंहजी प्रथम के आश्रित, व्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि माथुर चतुर्वेदी श्रीकुलपति मिश्र, जो आगरे के रहनेवाले थे, इनके शिष्य थे और इनपर उनकी अत्यंत श्रद्धाभक्ति थी। इसके प्रमाण में हम 'संग्राम सार' के दो पद्य उद्धृत करते हैं। वे ये हैं—

शब्द-जोग में शेष, न्याय गौतम कनाद मुनि।
सांख्य कपिल, अरु व्यास ब्रह्मपथ, कर्मनु जैमिनि॥
वेद अंग-जुत पढ़ैं, शील-तप ऋषि बसिष्ठ सम।
अलंकार-रस-रूप अष्टभाषा-कविता-क्षम॥
तैलग वेलनाटीय द्विज जगन्नाथ तिरशूलधर।
शाहिजहाँ दिल्लीश किय पंडितराज प्रसिद्ध धर॥
उनके पग को ध्यान धरि इष्टदेव सम जानि।
उक्ति-जुक्ति बहु भेद भरि ग्रंथहि कहौं बखानि॥

—संग्रामसार, प्रथम परिच्छेद, पद्य ४-५

इसके अतिरिक्त 'रस-रहस्य' में जो उन्होंने काव्यलक्षण लिखा है, वह भी इन्हीं की शैली का है। काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण के

१—'संग्राम-सार' वि० सं० १७३३ में बना था, यह म० म० श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदीजी के पिता कविवर श्रीगोकुलचंद्रजी का कथन है।

२—'रस-रहस्य' का समय तो कवि ने स्वयं ही लिखा है—'संवत् सत्रह सौ बरष (अरु) बीते सत्ताईस। कातिक बदि एकादशी बार बरनि बानीश।' (रसरहस्य, अष्टम-वृत्तांत, पद्य २११)

काव्यलक्षण पृथक् लिखे गए हैं तथा साहित्यदर्पण के काव्यलक्षण का तो खंडन भी किया गया है। रसरहस्य का काव्यलक्षण यों है—

जग ते अद्भुत सुख-सदन शब्द रु अर्थ कवित्त।
यह लक्षण मैंने किया समुझि ग्रंथ बहु चित्त॥

पर मिश्रजी के इस पद्य से एवम् उनके रचित समग्र रसरहस्य से भी यह सिद्ध होता है कि जिस समय पंडितराज और मिश्रजी का समागम रहा उस समय या तो पंडितराज रसगंगाधर लिख नहीं पाए थे या इनका समागम ही स्वल्प रहा था; क्योंकि उस पुस्तक में केवल इस लक्षण के अतिरिक्त जितनी बातें लिखी गई हैं वे सब काव्यप्रकाश से ली गई हैं और इस लक्षण में भी शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना गया है, जो कि रसगंगाधर के लक्षण के विरुद्ध है।

पंडितराज के एक दूसरे शिष्य का भी पता लगता है। वे पंडितराज के सजातीय थे और उनका नाम नारायण भट्ट था। उनके विषय में उनके भतीजे हरिहर भट्ट ने, स्वनिर्मित 'कुलप्रबंध' नामक काव्य में यों लिखा है कि—

लब्ध्वा विद्या निखिलाः पंडितराजाज्जगन्नाथात्।
नारायणस्तु दैवादल्पायुः स्वःपुरीमगमत्॥

अर्थात् पंडितराज जगन्नाथ से सब विद्याएँ प्राप्त करके नारायण भट्ट तो, भाग्यवशात्, थोड़ी ही अवस्था में स्वर्ग को सिधार गए[1]।

१—नारायण भट्ट और हरिहर भट्ट के वंश में इस समय (प्रथम संस्करण के समय) शुद्धाद्वैतभूषण भट्ट श्रीरमानाथ शास्त्रीजी (बंबई) तथा साहित्याचार्य्य भट्ट श्रीमथुरानाथ शास्त्रीजी (जयपुर) आदि अनेक भट्ट विद्यमान हैं और उनकी प्राप्त की हुई जीविका को भोग रहे हैं।

इस सबसे यह पता लगता है कि पंडितराज के, संस्कृत और हिंदी दोनों भाषाओं के ज्ञाता, अनेक अच्छे-अच्छे विद्वान् शिष्य थे।

किंवदंतियाँ

पंडितराज के विषय में अनेक किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग कहते हैं कि 'जगन्नाथ पंडितराज ने तैलंग देश से जयपुर आकर वहाँ एक पाठशाला स्थापित की थी और वहीं उन्होंने किसी काजीको, जो दिल्ली से आया था, मुसलमानोंके मजहबी ग्रंथों को बहुत शीघ्र पढ़कर विवाद में हरा दिया था। वह काजी जब दिल्ली गया, तो उसने बादशाह के सामने पंडितराज की विद्या-बुद्धि की बड़ी प्रशंसा की। बादशाह यह सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने जयपुर से दिल्ली बुलाकर इनका बड़ा आदर-सत्कार किया। वहाँ ये महाशय किसी यवन-कन्या पर आसक्त हो गए और बादशाह की कृपा से इनका उसके साथ ब्याह भी हो गया। इस तरह इन्होंने अपनी यौवनावस्था बादशाह के आश्रय में सुखपूर्वक बिताई। जब ये बुड्ढे हुए तब काशी[1] चले गए। पर वहाँ अप्पयदीक्षित आदि विद्वानोंने यह कह कर कि 'यह तो यवनी के संसर्ग से दूषित है' इनका तिरस्कार किया और इन्हें जाति से निकाल दिया। तब ये गंगातट पर गए और सबसे ऊपर की सीढ़ी पर बैठकर उसी समय बनाए हुए अपने पद्यों से (जिनका संग्रह 'गंगालहरी' नामक पुस्तक में है) लगे गंगाजी का स्तुति करने। फिर क्या था, भक्तवत्सला गंगाजी

---

१ काशी चले जाने की बात मिथ्या प्रतीत होती है, क्योंकि आगे उद्धृत 'अमृतलहरी' के तीसरे और आठवें श्लोकों से तथा भामिनी-विलास के श्लोक से अन्तिम अवस्था में उनका मथुरा में रहना ही सिद्ध है। (देखिए आगे)

प्रसन्न हुईं और प्रत्येक श्लोक पर एक-एक सीढ़ी चढ़ती गईं और बावनवें पद्य के पढ़ने पर पंडितराज के पास आ पहुँचीं, एवं उस यवन कन्या सहित इन महाशय को अपनी प्रेमपूर्ण गोदी में बिठाकर स्नान करवा दिया। ईर्ष्या-द्वेष से कलुषित बेचारे काशी के पंडित पंडितराज के इस प्रभाव को देखकर अत्यंत चकित हो गए और फिर कुछ न बोल सके।"

दूसरे लोगों का यह भी कहना है कि—"जब ये महाशय दिल्ली-नरेंद्र शाहजहाँ के कृपापात्र हो गए और उनकी कृपा से इन्हें अच्छी संपत्ति प्राप्त हो गई, तब जवानीके दिन तो थे ही, इनके विवेक का प्रकाश लुप्त हो गया और ये अंधे होकर किसी यवनयुवती पर आसक्त हो गए। पर थोड़े समय बाद वह मर गई। बेचारे पंडितराज उसके विरह में बड़े घबड़ाए और दिल्ली छोड़कर काशी चले गए। पर वहाँ के पंडितों ने, जो पहले इनके आचरणों को सुन चुके थे, इनका अनादर किया और ये स्वयं भी पंडितों के तिरस्कार एवं प्रियतमा की विरहाग्नि से दुःखित हुए और कहीं चैन न पा सके। परिणाम यह हुआ कि अपनी बनाई हुई गंगालहरी को पढ़ते हुए, जब बरसात में गंगा की बाढ़ आ रही थी तब, उसमें कूद पड़े और डूबकर मर गए।[1]"

एक किंवदंती यह भी है कि—"जब ये वृद्ध होकर काशी में आ रहे थे, तब एक दिन प्रभात के समय, ठंडी ठंडी हवा में, पंडित-

---

1—ये दोनों किंवदंतियाँ काव्यमाला में प्रकाशित रसगंगाधर की भूमिका से ली गई हैं। वहाँ यवनी की आसक्ति के अनुमापक श्लोक भी लिखे हैं, पर उन्हें अश्लील समझकर हमने छोड़ दिया है और वे सर्वत्र प्रसिद्ध भी हैं।

राज अपनी उस यवनयुवती को बगल में लिए, गंगातट पर मुँह पर वस्त्र ओढ़े सोए हुए थे और इनकी सफेद चोटी खटिया से नीचे लटक रही थी। इतने में अप्पय दीक्षित वहाँ स्नान करने चले आए। उन्हें एक वृद्ध मनुष्य की यह दशा देखकर दुःख हुआ और कहने लगे कि 'किं-निश्शङ्कं शेषे, शेषे वयसि त्वमागते मृत्यौ—अर्थात् महाशय, मौत आ चुकी है, अब इस शेष वय में क्यों निडर होकर सो रहे हो! अब तो कुछ ईश्वर का स्मरण-भजन करो और अपने जीवन को सुधारो।' पर, इस पद्य के सुनते ही पंडितराज ने ज्योंही मुँह उघाड़कर उनकी तरफ देखा त्योंहीं पंडितराज को पहचान कर अप्पयदीक्षित ने इस पद्य का उत्तरार्ध यों पढ दिया कि "अथवा सुखं शयीथा निकटे जागर्त्ति जाह्नवी भवतः अर्थात् अथवा आप सुख से सोते रहिए, क्योंकि आपके पास में भागवती जाह्नवी जग रहीं हैं आपकी फिकर उन्हें है, आप निडर रहिए[1]।"

यह भी कहा जाता है कि "पंडितराज जिस समय काशी में पढ़ते थे, उस समय जयपुर-नरेश मिरजा राजा जयसिंहजी काशीयात्रा करने गए थे। वहाँ की विद्वन्मडली में इनकी प्रगल्भता देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए और इन्हें अपने साथ जयपुर ले आए। साथ ले आने का कारण यह था कि शाही दरबार में राजपूत लोगों के विषय में मुल्ला लोग यह कहा करते थे कि 'आप लोग वास्तविक क्षत्रिय नहीं हैं; क्योंकि जब परशुरामजी ने पृथ्वी को २१ बार निःक्षत्रिय कर दिया तो फिर आप

१—यह किंवदंती कुवलयानंद (निर्णय सागर) की भूमिका में है। यह किंवदंती भी मिथ्या प्रतीत होती है, क्योंकि यह श्लोक अप्पयदीक्षित का बनाया नहीं, किन्तु पंडितराज का बनाया है (देखिए इसी पुस्तक का आक्षेपालंकार)।

लोगों के पूर्वज बच कहाँ से सकते थे ?' दूसरे, यह भी कहा जाता था कि 'अरबी भाषा संस्कृत-भाषा से प्राचीन है'। ये बातें पूर्वोक्त नरेश को बहुत खटका करती थीं। पंडितराज ने वादा किया था कि हम उन्हें निरुत्तर कर देंगे। जब वे उन्हें साथ ले आए, तब पंडितराज ने कहा कि—'पहली बात का—अर्थात् राजपूत लोगों के वास्तविक क्षत्रिय होने का—जवाब तो हम आज ही दे सकते हैं; पर दूसरी बात का—अर्थात् अरबी संस्कृत से प्राचीन है इसका—जवाब तब दिया जा है जब हम अरबी पढ़ लें। सो राजाजी ने उन्हें अरबी पढ़ने की अनुमति दी और उन्होंने कुछ दिन आगरे में रहकर अरबी का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया। तदनंतर ये बादशाह के सामने उपस्थित किए गए। पूछने पर इन्होंने पहली बात का यह प्रत्युत्तर दिया कि—'निःक्षत्रिय होने का अर्थ यदि यह लगाया जाता है कि एक भी क्षत्रिय नहीं बचा, तो फिर आप ही कहिए कि पृथ्वी २१ बार कैसे निःक्षत्रिय हुई; क्योंकि क्षत्रियमात्र की समाप्ति तो एक ही बार में हो गई होगी। और यदि यह कहो कि कुछ बच रहते थे, तो जब २० वार बचते रहे तो २१ वीं बार भा अवश्य ही कुछ बच रहे होंगे। बस, उन्हीं की संतान ये राजपूत लोग हैं।' और दूसरी बात के उत्तर के विषय में यो कहा जाता है कि अरबी भाषा में मुसलमानों की एक धर्म पुस्तक बताई जाती है, जिसका नाम 'हदीस' है। उसमें एक जगह यह लिखा है कि—'ऐ मुसलमानों ! हिंदू लोग जिस तरह मानते हैं, उससे उलटा तुम्हें मानना चाहिए।' सो पंडितराज ने कहा कि 'बिना भाषा के तो कोई धर्म हो नहीं सकता और आपका 'हदीस' इस बात की सूचना देता है कि उस वाक्य से पहले भी हिंदुओं का कोई धर्म था। अतः जब धर्म था तो भाषा अवश्यमेव थी और हिंदुओं की धार्मिक भाषा संस्कृत के अतिरिक्त अन्य कोई हो नहीं सकती; इस कारण आपको मानना पड़ेगा कि संस्कृत अरबी से प्राचीन है।' कहा जाता है कि

इन तर्कों से बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और तब से शाही दरबार में इनका भारी दबदबा हो गया[1] ।"

पंडितराज का कार्यकाल

यह तो हुई किंवदंतियों की बात । अब समय का विचार कीजिए । इस विषय में अब तक लोगों ने मोटे तौर पर यह सोच लिया है कि शाहजहाँ का राज्यभिषेक सन् १६२८ ई० में हुआ और सन् १६५८ ई० में औरंगजेब के द्वारा वह कैद कर लिया गया तथा सन् १६६६ ई० में मर गया । बस, यही पंडितराज का समय है । अतएव यह कहा जाता है कि 'अप्पय दीक्षित पंडितराज के समकालिक नहीं थे एवं उनके इनके कुछ विरोध नहीं था' इत्यादि ।

पर, इस विषय में अब कुछ नवीन प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं । जिन पर विचार आवश्यक है । अप्पयदीक्षित का एक ग्रंथ 'सिद्धान्त-लेशसंग्रह' नाम का है । उसके कुंभकोणवाले संस्करण की भूमिका में विद्वान् भूमिका-लेखक ने २–३ श्लोक ऐसे लिखे हैं जिनसे पंडितराज के समय के विषय में कुछ सूक्ष्म विचार हो सकता है और पहली किंवदंती का कुछ अंश (यवनसंसर्गमात्र) सिद्ध-सा हो जाता है । उनमें से पहला श्लोक, जिसको उन्होंने काव्यप्रकाश की व्याख्या में नागेश भट्ट का लिखा हुआ बतलाया है, यह है—

> **दृप्यद्द्राविडदुर्ग्रहग्रहवशान्म्लिष्टं गुरुद्रोहिणा**
> **यन्म्लेच्छेति वचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना ।**

१—यह किंवदंती महामहोपाध्याय श्रीगिरिधरशर्माजी चतुर्वेदी के मुख से सुनी गई है और अन्य किंवदंतियों की अपेक्षा कुछ प्रामाणिक प्रतीत होती है ।

तत्सत्यापितमेव धैर्यनिधिना यत्स व्यमृद्नात्कुचं
निर्बध्याऽस्य मनोरमामवशयन्नप्पय्यदीक्षितान् स्थितान् ॥

अर्थात् गर्वयुक्त द्राविड़ (अप्पय दीक्षित अथवा द्राविड़ लोगों) के दुराग्रह रूपी भूत के आवेश से गुरुद्रोही भट्टोजिदीक्षित ने भरी सभा में बिना सोचे-समझे (पंडितराज से) अस्पष्टतया जो 'म्लेच्छ' यह शब्द कह दिया था उसको धैर्यनिधि पंडितराज ने सत्य कर दिखाया; क्योंकि इतने अप्पयादिक विद्वानों के विद्यमान रहते हुए, उन्हें विवश करके भट्टोजिदीक्षित की मनोरमा (सिद्धांतकौमुदी की व्याख्या) का कुचमर्दन (खंडन) कर दिया—जब पंडितराज को म्लेच्छ ही बना दिया गया तो वे म्लेच्छ कहनेवाले की मनोरमा (स्त्री) का कुचमर्दन करके क्यों न उसे म्लेच्छता का चमत्कार दिखा देते।

दूसरा श्लोक 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन' नामक पुस्तक का है। वह यों है—

"**अप्पय्यदुर्ग्रहविचेतितचेतनानामार्यद्रुहामयमहं शमयेऽवलेपान्** ।

अर्थात् अप्पय दीक्षित के दुराग्रह से जिनकी बुद्धि मूर्छित हो गई है, उन गुरुद्रोहियों के गर्वों को यह मैं शांतकर रहा हूँ।"

तीसरा श्लोक बालकवि का बनाया हुआ बताया जाता है, जिनको अप्पयदीक्षित के भ्राता के पौत्र नीलकंठ ने 'नलचरित' नामक ग्रंथ में अप्पयदीक्षित के समकालिक माना है। उन्होंने लिखा है कि—

"**यष्टुं विश्वजिता यता परिधरं सर्वे बुधा निर्जिता**
भट्टोजिप्रमुखाः, स पण्डितजगन्नाथोऽपि निस्तारितः।
पूर्वेऽर्धे, चरमे द्विसप्ततितमस्याऽब्दस्य सद्विश्वजि—
द्याजी यश्च चिदम्बरे स्वमभजज्ज्योतिः सतां पश्यताम् ॥

अर्थात् अप्पय दीक्षित ने अपनी आयु के ७२ वें वर्ष के पूर्वार्ध में, विश्वजित् यज्ञ करने के लिये, पृथ्वी के सब ओर घूमते हुए भट्टोजि दीक्षित आदि सब विद्वानों का विजय किया और उस—सुप्रसिद्ध—पंडित जगन्नाथ का भी उद्धार कर दिया। फिर उसी वर्ष के उत्तरार्ध में विश्वजित् यज्ञ किया और चिदम्बर क्षेत्र में सब सज्जनों के देखते हुए आत्मज्योति को प्राप्त हो गए।"

अब यहाँ विचार करने की बात यह है कि अप्पय दीक्षित पंडितराज के समकालिक हो सकते हैं अथवा नहीं। हमारी समझ से समकालिक हो सकते हैं। कारण यह है कि भट्टोजि दीक्षित के गुरु शेष श्रीकृष्ण थे[1]। और शेषवीरेश्वर शेषश्रीकृष्ण के पुत्र थे यह भी सिद्ध है[2]। यही शेषवीरेश्वर पंडितराज के पिता पेरुभट्ट के एवं पंडितराज के गुरु हैं, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। सो यह सिद्ध हो जाता है कि शेषवीरेश्वर और भट्टोजि दीक्षित समकालिक थे; क्योंकि एक शेष श्रीकृष्ण के पुत्र थे और दूसरे शिष्य और बहुत संभव है कि शेषवीरेश्वर भट्टोजि दीक्षित से बड़े रहे हों। कारण, एक तो उन्होंने अपने विद्यमान रहते भी मनोरमा का खंडन अपने शिष्य (पंडितराज) के द्वारा करवाया और अपने पिता की पुस्तक के खंडन के प्रतिवाद में स्वयं कुछ भी न लिखा, जिसका रहस्य यही प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने से छोटों की प्रतिद्वंद्विता करना अनुचित समझा हो। यह असंभव भी नहीं; क्योंकि प्राचीन पंडितों के शिष्य तो अतिवृद्धावस्था तक—किंबहुना, देहावसान तक—हुआ करते थे और आज-दिन भी ऐसा

१—'......शेषवंशावतंसानां श्रीकृष्णपंडितानां चिरायार्चितयोः पादुकयोः प्रसादादासादितशब्दानुशासनाः......' ('मनोरमाकुचमर्दन' में भट्टोजि दीक्षित का विशेषण)।

२—'मनोरमाकुचमर्दन' का वही आरंभ का भाग।

देखा जाता है। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि दोनों (पण्डितराज और भट्टोजि दीक्षित समकालिक थे।)

साथ ही पूर्वोद्धृत श्लोकों से भी यह सिद्ध हो जाता है कि भट्टोजि दीक्षित और अप्पय दीक्षित समकालिक थे। तब, जब पंडितराज शेष-वीरेश्वर से पढ़ सकते थे, तो भट्टोजि दीक्षित और अप्पय दीक्षित भी उनके समय में रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पर, यहाँ एक और भी विचारणीय बात है, जिसने कि अप्पय दीक्षित को जगन्नाथ के समकालिक मानने में ऐतिहासिकों को भ्रांत कर दिया है। वह यह है कि पूर्वोक्त नीलकंठ दीक्षित जो अप्पय दीक्षित के भ्राता के पौत्र थे, अपने बनाए हुए 'नीलकंठविजय' नामक चंपू में लिखते हैं—

> "अष्टत्रिंशदुपस्कृतसप्तशताधिकचतुःसहस्रेषु ।
> कलिवर्षेषु गतेषु प्रथितः किल नीलकंठविजयोऽयम् ॥

अर्थात् यह 'नीलकंठविजय' कलियुग के ४७३८ वर्ष बीतने पर लिखा गया है।"

यह समय ईसवी सन् १६३६ के लगभग होता है और उस समय शाहजहाँ का राजत्वकाल था। सो यह सिद्ध किया जाता है कि यह नीलकंठ पंडितराज का समकालिक था, इसके दादा अप्पय दीक्षित नहीं।

नीलकंठ ने स्वनिर्मित 'त्यागराजस्तव' में अप्पय दीक्षित के विषय में यह लिखा है कि—

> योऽतनुताऽनुजसूनुजमनुग्रहेणात्मतुल्यमहिमानम् ॥

अर्थात् जिन (अप्पय दीक्षित) ने अपने छोटे भाई के पौत्र (मुझ) को, अनुग्रह करके, अपने समान प्रभाववाला बना दिया। इससे यह

सिद्ध होता है कि नीलकंठ ने अप्पय दीक्षित से अध्ययन किया था। पर उसी भूमिका में 'ब्रह्मविद्यापत्रिका' का हवाला देकर यह लिखा गया है—"नीलकंठविजय' को कवि ने अपनी आयु के तीसवें वर्ष में लिखा है और कवि जिस समय बारह वर्ष का था, उसी समय सत्तर वर्ष के वृद्ध अप्पय दीक्षित ने उस पर अनुग्रह किया था। अतः अप्पय दीक्षित का जन्म सन् १५५० ई० होता है[1]।"

ऊपर उद्धृत बालकवि के श्लोक से यह सिद्ध होता है कि अप्पय दीक्षित का देहावसान ७२ वर्ष की अवस्था में हुआ था। महामहोपाध्याय श्री गंगाधर शास्त्रीजी ने सिद्धांतलेशसंग्रह के काशीवाले संस्करण की भूमिका में एक पद्य स्वयं अप्पय दीक्षित का भी उद्धृत किया है। वह यों है—'वयांसि मम सप्ततेरुपरि नैव भोगे स्पृहा न किंचिदहमर्थये शिवपदं दिदृक्षे परम्—अर्थात् मेरी अवस्था इस समय ७० वर्ष से ऊपर है, अब मुझे विषय-भोग की अभिलाषा नहीं रही, अब तो केवल कैलासवास की इच्छा है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि उनका प्रयाण उपर्युक्त श्लोक के वर्णित समय में ही हुआ होगा। सो ब्रह्मविद्यापत्रिका के अनुसार उनका मृत्युकाल १६२२ ई० सिद्ध होता है, जो शाहजहाँ के राजत्वकाल से पहले है।

पर यह बात पूर्णतया निर्णीत नहीं कही जा सकती। क्योंकि यह मानना कि 'दीक्षितजी ने सत्तर वर्ष की अवस्था में १२ वर्ष के पौत्र पर अनुग्रह किया था' केवल किंवदंतीमूलक है और पूर्वोक्त सिद्धांत-

---

१—"ब्रह्मविद्यापत्रिकाकारास्तु—'नीलकंठविजयश्च कविना त्रिंशे वर्षे प्राणायि। कविश्च द्वादशवर्ष एव सप्ततिवयसा दीक्षितेनानुगृहीतः। अतस्तेषामवतारकालः कलप्त्यब्दाः ४६५०: शकाब्दः १४७१, सन् १५५०' इत्युजादहुः"। (सिद्धांतलेशभूमिका)।

लेशसंग्रह के भूमिका-लेखक भी इसके मानने में विप्रतिपन्न हैं, अतः हमारी समझ में तो यह आता है कि 'नीलकंठविजय' के लिखते समय दीक्षितजी भी उपस्थित थे, और पौत्र की अवस्था उस समय ३० वर्ष की थी। नीलकंठ ने स्वयं भी अप्पय दीक्षित की वंदना में वर्तमान काल का प्रयोग किया है[१], और ७०-७२ वर्ष के दादा के तीस वर्ष का पौत्र होना कुछ असंभव भी नहीं। सो यह सिद्ध हो जाता है कि अप्पय दीक्षित भी शाहजहाँ के राजत्वकाल तक विद्यमान थे।

अब यह विचार कीजिए कि पंडितराज दारा के विनाश और शाहजहाँ के कारावास तक दिल्ली में थे अथवा नहीं। यह कहा जा सकता है कि दारा के अभ्युदय और यौवन तक वे वहाँ थे, जैसा कि 'जगदाभरण' के प्रणयन से सिद्ध होता है। सो यह तो उस दुर्घटना के बहुत पूर्वकाल में भी बन सकता है। कारण, औरंगजेब के राज्यारोहण का वय चालीस वर्ष है, जो इतिहासप्रसिद्ध है। तब वह शाहजहाँ के राज्यारोहण के समय दस वर्ष का सिद्ध होता है और दारा तो उससे लगभग ६ वर्ष बड़ा होना चाहिए; क्योंकि औरंगजेब से बड़ा शुजा और उससे बड़ा दारा था। सो ई० सन् १६३६ तक जो 'नीलकंठविजय' का लेखनकाल है, दारा सत्ताईस वर्ष के लगभग सिद्ध होता है, जब कि उसका पूर्ण यौवन कहा जा सकता है। अब, यदि हम पंडितराज को दारा के समवयस्क मान लें तो कोई अनुपपत्ति न होगी; प्रत्युत यह सिद्ध हो सकता है कि समवयस्कों में प्रीति अधिक हुआ करती है, इस कारण समवयस्क ही रहे हों। और, यदि यह माना जाय कि दारा का उनके पास अध्ययनादि, जो कि उसके हिंदूधर्म की अभिरुचि और सस्कृतज्ञान आदि ऐतिहासिक वृत्तों से विदित है, हुआ हो, तो अधिक वय भी हो सकता है। निदान यह सिद्ध हो जाता है कि पंडितराज

१—'श्रीमानप्पयदीक्षितः स जयति श्रीकंठविद्यागुरुः' (नीलकंठ-विजय)।

अप्पय दीक्षित की वृद्धावस्था में अवश्य विद्यमान थे। हाँ, यह कहा जा सकता है कि अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित आदि वृद्ध रहे होंगे और पंडितराज युवा। अतएव उस समय के उन कट्टर सामाजिक लोगों ने, बादशाही दरबार में रहने के कारण इन पर संदेह करके इन्हें तिरस्कृत किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अप्पय दीक्षित द्राविड़ थे, भट्टोजि दीक्षित महाराष्ट्र और पंडितराज तैलंग; और आज तक भी इन जातियों में परस्पर सहभोज होता है; अतः अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित ने, जो उस समय वृद्ध थे, इनकी पंचायती में प्रधानता पाई हो तो कोई असंभव बात नहीं। अप्पय दीक्षित अंतिम वय में कुछ समय काशी रहे भी थे और वहाँ के समाज में उनका अच्छा सम्मान था, यह भी उसी भूमिका से सिद्ध होता है। पंडितराज ने भी रसगंगाधर में अप्पय दीक्षित के नाम के स्थान पर, कई जगह, 'द्रविडशिरोमणिभिः' और 'द्रविडपुङ्गवैः' शब्द लिखे हैं, जो कि इनके सरपंच होने की सूचना देते हैं।

महामहोपाध्याय P. V. Kane की 'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स्' से यह बात अब और भी संदेहरहित हो गई है कि भट्टोजि दीक्षित और पण्डितराज समकालिक हैं। उनने पडितराज का कार्यकाल १६२० और १६५० ईसवी के मध्य सिद्ध किया है और भट्टोजि दीक्षित का कार्यकाल १५८० और १६३० ईसवी के मध्य। अतः हमारा अनुमान ठीक ही है कि भट्टोजि दीक्षित और पण्डितराज समकालिक थे तथा भट्टोजिर्दीक्षित वय में बड़े थे और पण्डितराज उनसे छोटे।[१]

---

१ A ms. of the चित्रमीमांसाखण्डन is dated samvat 1709 (i. e. 1652-53 A. D.). Therefore both the रसगङ्गाधर and the चित्रमीमांसाखण्डन were composed before 1650 and after 1641 A. D. and they are

अब यह बात ठीक हो गई कि अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित इनके समय में थे, तो पूर्वोक्त श्लोकों के अर्थ को मिथ्या मानने में कोई विशेष उपपत्ति नहीं रह जाती। अब यह बात सामने आती है कि भट्टोजि दीक्षित ने इन्हें भरी सभा में 'म्लेच्छ' क्यों कहा था। विचारने पर इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि यवनसम्राट् के दरबार में रहने के कारण इन पर यवनों के संसर्ग का आक्षेप किया गया हो, और दूसरा वही, जो सर्वत्र प्रसिद्ध है कि इनका किसी यवन-युवती से संपर्क रहा हो। पहले कारण में तो प्रमाण देने की कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वे शाहजहाँ और दाराशिकोह के कृपापात्र

---

the products of a mature mind. Therefore the literary activity of जगन्नाथ lies between 1620 and 1660 A. D. ············ A ms. of the प्रौढमनोरमा at the B. O. R. I; (No. 657 of 1883-84 of D. C. Collection) is dated samvat 1713 (i. e. 1656-7 A. D.) and a ms. of शब्दकौस्तुभ is dated 1633 A. D. नृसिंहाश्रम, teacher of भट्टोजि, composed his तत्त्वविवेक in 1547 A. D., while Bhattoji's pupil नीलकण्ठशुक्ल wrote his शब्दशोभा in 1637 A. D. Therefore भट्टोजि's literary activity may be placed somewhere between 1580 and 1630 A. D.

History of Sanskrit Poetics.
by
Mahamahopadhyaya P.V. Kane. M.A.LL.M., D. Litt. (All.) Page 309-313.

थे यह निस्संदेह है। रही दूसरी बात, सो वह भी सर्वथा असंभव तो नहीं है; क्योंकि दिल्लीश्वर के कृपापात्र अतएव सर्वविध संपत्ति से संपन्न और तत्कालीन दिल्ली—जैसे विलासमय नगर के निवासी नवयुवक को, उन उन्मादक नवयौवन के दिवसों ने, जो कंगालों को भी पागल बना देते हैं, यदि किसी यवनविलासिनी पर आसक्त होने के लिये विवश कर दिया हो और उन्होंने किसी यवनी को रख लिया हो तो आश्चर्य की क्या बात है। रही काव्यमालासंपादक की यह बात, कि यवन-युवती की आसक्ति को प्रमाणित करनेवाले श्लोक उनकी किसी पुस्तक में नहीं मिलते। सो यह कोई ऐसी दुःसमाधेय बात नहीं है; क्योंकि सभी कवियों के सभी पद्य पुस्तकों में संगृहीत नहीं होते, कुछ फुटकर भी रह जाते हैं। फिर पंडितराज—जैसे विद्वान् अपनी पुस्तक में उन उन्मादक-दिवसों के लिखे हुए कुसंसर्गसूचक श्लोकों को संगृहीत करते यह भी अघटित ही है।

अस्तु, कुछ भी हो। हम एक महाविद्वान् को कलंकित नहीं करना चाहते; पर इतिहास की दृष्टि से हमारे विचार में जो कुछ सत्य आया, उसे छिपाना भी उचित नहीं था। हाँ, इतना अवश्य सिद्ध है कि अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित पंडितराज के समय में वर्त्तमान और जाति के सरपंच थे, और उनको इन पर यवन-संसर्ग का संदेह था, तथा इसी कारण इनका उनका मनोमालिन्य था। बालकवि के श्लोक से यह भी सिद्ध है कि अप्पय दीक्षित को अंतिमावस्था में इनका निस्तार भी हो गया था। पर, इनका वर्षों का द्वेष इतने मात्र से सर्वथा शुद्ध न हुआ और वह रसगंगाधर में झलक ही आता है।

हाँ, दूसरी किंवदंती में जो यह कहा गया है कि वे डूब मरे, सो सर्वथा मिथ्या है; क्योंकि रसगंगाधर गंगालहरी के बहुत पीछे बना है और इसमें स्थान-स्थान पर गंगालहरी के पद्य उद्धृत हैं। तीसरी किंवदंती

तो सर्वथा मिथ्या है; क्योंकि अप्पय दीक्षित के सामने पंडितराज का वृद्ध होना किसी तरह सिद्ध नहीं होता और न वह श्लोक ही अप्पय दीक्षित का है, जैसा कि पहले टिप्पणी में लिखा जा चुका है।

स्वभावादि

पंडितराज का स्वभाव उद्धत, अभिमानपूर्ण और महान् से महान् पुरुष के भी दोषों को सहसा उघाड़ देनेवाला था। नमूने के तौर पर कुछ उदाहरण सुनिए। किसी कवि से उसके बनाए हुए पद्य सुनने के पहले आप कह रहे हैं—

> **निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव-**
> **न्मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम्।**
> **काव्यं तर्हि सखे! सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां**
> **नो चेद्दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्बहिर्मा कृथाः।**

हे सखे! यदि आप अत्यंत पक जाने के कारण टपकती हुई दाख और शहद की मधुरता के मद को दूर कर देने में तत्पर वचनों की रचना के पूर्णतया मर्मज्ञ हैं, तब तो अपनी कविता को मेरे ऐसे मनुष्यों के सामने बड़े मजे से कहते रहिए। पर यदि आप में वह शक्ति न हो तो जिस तरह मनुष्य अपने किए पाप को किसी के सामने प्रकट नहीं करता, उसी तरह आप भी अपनी कविता को अपने हृदय से बाहर न होने दीजिए। आप अपने इस अपराध को मन-के मन-में ही रखिए, कहीं ऐसा न हो कि जबान पर आ जाय।

देखिए तो कैसी उद्धतता है। कविता को अपराध तो बना ही दिया केवल सजा देना बाकी रह गया। सो, शायद, वह बेचारा वैसे पद्य बोला ही न होगा, अन्यथा अधिक नहीं तो एकाध थप्पड़ का पुरस्कार तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता।

अब अभिमान की बात सुनिए। आप कहते हैं—

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधे-
यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥

सुमेरु पर्वत की तरहटी से लेकर मलयाचल से घिरे हुए समुद्रतट तक, जितने भी कविता करने में निपुण पुरुष हैं, वे निर्भय होकर कहें कि दाखों के अंदर से निकलनेवाली चिकनी रसधारा की मधुरता का भाग्य जिन्हें प्राप्त है—अर्थात् जिनकी कविता उसके समान मधुर है उन वाणियों के आचार्य पद का अनुभव करने के लिए मेरे अतिरिक्त कौन पुरुष धन्य हो सकता है। इस विषय में तो मैं एक ही धन्य हूँ, दूसरे किसी की क्या मजाल कि वह इस पद को प्राप्त कर सके।

देखिए तो आचार्यजी महाराज कितने अभिमत्त हो गए हैं। आपने किसी दूसरे के धन्यवाद की भी तो अपेक्षा नहीं रखी, उस रस्म को भी अपने आप ही पूरा कर लिया; क्योंकि शायद किसी अन्य को यह धन्यवाद देने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता तो आचार्यजी को कृतज्ञता दिखाने के लिये उसके सामने थोड़ी देर तो आँखें नीची करनी पड़तीं ही।

अच्छा, अब दोषोद्घाटन की तरफ भी दृष्टि दीजिए। अप्पय दीक्षितादि को तो छोड़िए; क्योंकि उनके दोषोद्घाटन में तो आपने हद ही की है। पर आप ध्वनिकार श्रीआनंदवर्धनाचार्य और काव्यप्रकाश-कार श्रीमम्मट भट्ट के परम भक्त हैं, समय-समय पर आपने उनका बड़े आदर से स्मरण किया है; किंतु उस दोषदर्शिनी दृष्टि के पंजे से वे भी कैसे बच सकते थे! एक जगह (रूपकध्वनि के उदाहरण में) चक्कर

में आ ही गए। फिर क्या था, झट से लिख दिया 'आनंदवर्धनाचार्यस्तु...' और 'तच्चिन्त्यम्'।

आपके उदाहरणों में शाही जमाने की झलक भी आ ही जाती है। उस समय कबूतरों के जोड़े पालने का बहुत प्रचार था और अब भी यवनों में इस बात का प्रचार है। सो आपने लज्जा-भाव की ध्वनि के उदाहरण में लिख ही दिया—

"निरुद्ध्य यान्तीं तरसा कपोतीं कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने।
मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं सा मन्दमन्दं नमयाम्बभूव॥[1]"

उत्तर भारत में रहने पर भी आप पर दाक्षिणात्यता का प्रभाव ज्यों-का-त्यों था। देखिए तो भावशबलता का दृष्टांत किस तरह का दिया गया है—

"नारिकेलजलक्षीरसिताकदलमिश्रणे।
विलक्षणो यथा स्वादो भावानां संहतौ तथा॥

अर्थात् जिस तरह नारियल के जल, दूध, मिश्री और केलों के मिश्रण में विलक्षण स्वाद उत्पन्न हो जाता है, उसी तरह भावों के मिश्रण में भी होता है।" क्या इस विलक्षण मिक्स्चर को दाक्षिणात्यों के सिवा कोई पहचान सकता है ?

इसी तरह अन्यान्य बातें भी इस पुस्तक के पाठ से आपके हृदय में अवतीर्ण हो सकेंगी। हम अधिक उदाहरण देकर इस प्रकरण को विस्तृत नहीं करना चाहते।

धर्म और अंतिम वय

आप शाङ्कर वेदान्त और वैष्णवधर्म के अनुयायी एवं भगवान् श्रीकृष्णचंद्र तथा भगवती भागीरथी के परम भक्त थे; यह मंगलाचरण

1—इसका अर्थ अनुवाद में देख लीजिए।

में लिखित और स्थान स्थान पर उदाहृत श्लोकों से सिद्ध है। पर शिव तथा देवी आदि की स्तुति करने में भी हिचकते नहीं थे। श्रीमद्भागवत[1] और वेदव्यास[2] पर आपको अत्यंत श्रद्धा थी। भगवन्नामोच्चारण में आपको बड़ा आनंद प्राप्त होता था। देखिए, आपने लिखा है कि—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः।
तत्त्वं ब्रूहि मदीय जीव ! भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः॥

हे मेरे जीवात्मन् ! तूने अंगूर चाखे हैं, मिश्री अच्छी तरह खाई है और दूध तो खूब ही पिया है। इसके अतिरिक्त (पहले जन्मों में कभी) स्वर्ग में जाने पर अमृत भी पिया है और (स्वर्गीय अप्सरा) रंभा के अधर को भी कितने ही प्रकारों से खंडित किया है। सो तू बता कि संसार में बार-बार घूमते हुए तूने, 'कृष्ण' इन दो अक्षरों में जो मधुरता का उभार है, उसे भी कहीं देखा है ? ओह ! यह अपूर्व माधुरी और कहीं कैसे प्राप्त हो सकती है ! देखा भावोद्रेक !

वास्तव में सरसहृदयों के लिये, भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई, भगवत्प्राप्ति का सर्वोत्तम और सुंदर साधन है भी नहीं।

१—देखिए, 'रस नव ही क्यों हैं' आदि प्रकरण।

२—'ऋतुराजं भ्रमरहितं यदाहमाकर्णयामि, नियमेन। आरोहति स्मृतिपथं तदैव भगवान् मुनिर्व्यासः' (स्मरणालंकार) आदि।

अंतिम वय में पंडितराज मथुरा अथवा काशी में जा बसे थे और भगवत्सेवा करते थे।[1]

अन्तिम अवस्था उतनी सुखमय नहीं थी

विदित होता है कि पंडितराज की अन्तिम अवस्था सुखमय न थी। 'भामिनीविलास' इस स्थिति की स्पष्ट सूचना देता है। यह ग्रंथ कोई स्वतन्त्र काव्य नहीं है, किन्तु उनके प्रकीर्णक पद्यों का संग्रह-मात्र है। वे स्वयं भामिनीविलास के अन्त में कहते हैं—

दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शङ्कया।
मदीयपद्यरत्नानां मञ्जूषैषामयाकृता॥
(भा० वि० ४–४६)

दुराचारी रण्डापुत्र चुरा लेंगे इस भय से मैंने अपने श्रेष्ठ पद्यों की यह मञ्जूषा बना दी है।"

संग्रह भी उस समय का है जब वे सब छोड़छाड़ कर मथुरा में रहने लगे थे। वे लिखते हैं—

"शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि सम्भाविताः
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।
सम्प्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते
सर्वं पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाधिकम्॥
(भा० वि० ४–४५)

१—'भामिनीविलास' के अंत में 'संप्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते' लिखा हुआ है। काव्यमालाकार कहते हैं कि कुछ पुस्तकों में 'सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्त्वं परं चिन्त्यते' यह पाठ भी है, पर हमने जो पुस्तकें देखी हैं उनमें यह पाठ कहीं नहीं है।

पंडितराजों की पंक्ति के तिलक (मैं) ने सभी काम सब लोगों से बढ़चढ़ कर किए। शास्त्रों पर विचार-विमर्श किया, सभी नित्य विधियाँ (जिनके न करने से शास्त्र में दोष लिखा है) अच्छे प्रकार से कीं, नवीन वय (यौवन) दिल्लीपति (बादशाह) के पाणिपल्लव के नोचे व्यतीत किया और इस समय वासनाएँ छोड़कर मथुरापुरी में हरि-सेवा की जा रही है। सारांश यह कि मेरी बाल्य, यौवन और वार्धक्य तीनों अवस्थाएँ सफल रहीं।''

उक्त दोनों श्लोकों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि यह संग्रह अन्तिम अवस्था का है। संभावना है तो केवल यही कि रसगंगाधर अन्तिम अवस्था में भी लिखा जाता रहा हो, क्योंकि उसकी अनवसर समाप्ति और उसके बाद का कोई ग्रंथ प्राप्त न होना यही सूचित करती है। इसके अतिरिक्त 'अमृतलहरी' के निम्न-लिखित श्लोक भी, जो निस्सन्देह अन्तिम वय के लिखे हुए हैं, यही सूचित करते हैं, क्योंकि पांचों लहरियां (जिनमें 'अमृतलहरी' भी सम्मिलित है) रसगंगाधर के प्रथमानन की समाप्ति के पूर्व ही लिखी जा चुकी थीं। वे प्रथमानन की समाप्ति में कहते हैं—''मन्निर्मिताश्चपञ्च लहर्यो भावस्य—अर्थात् मेरी बनाई हुई पांचों लहरियां 'भाव' का उदाहरण हैं।''

'अमृतलहरी' के वे श्लोक ये हैं—

''दानान्धीकृतगन्धसिन्धुरघटागण्डप्रणालीमिलद्-
भृङ्गाली मुखरीकृताय नृपतिद्वाराय बद्धोऽञ्जलिः।
त्वत्कूले फलमूलशालिनि मम श्लाघ्यामुरीकुर्वतो
वृत्तिं हन्त ! मुनेः प्रयान्तु यमुने ! वीतज्वरा वासराः॥
पायं पायमपायहारि जननि ! स्वादु त्वदीयं पयो
नायं नायमनायनीमकृतिनां मूर्त्तिं दृशोः कैशवीम्।
स्मारं स्मारमपारपुण्यविभवं कृष्णेति वर्णद्वयं
चारं चारमितस्ततस्तव तटे मुक्तो भवेयं कदा॥

मद से अन्धे बनाए गए गन्धगजों के समूह के कपोलों के परनालों में इकट्ठी हुई भौंरों की पंक्तियों से शब्दायमान राजद्वार को हाथ जोड़ लिए—अब वहाँ रहना समाप्त है। हे यमुने! फल मूलों से सुशोभित तुम्हारे तटपर मैं प्रशंसनीय मुनिवृत्ति को स्वीकार कर रहा हूँ। मेरे दिन कष्टरहित व्यतीत हों।

हे माता; अपाय के हरण करनेवाले आप का स्वादिष्ट जल पी-पीकर और केशवभगवान् (उस समय मथुरा के सबसे बड़े मन्दिर के देव) की मूर्ति को, जो अकुशलों के नेत्रों का विषय नहीं है, नेत्रों में ले-लेकर तथा जिनका पुण्य वैभव अपार है उन 'कृष्ण' इन दो वर्णों का स्मरण करते-करते एवं आप के तट पर इधर-उधर घूमते कब मुक्त हो जाऊँ—(बस यही इच्छा है)। अस्तु।

भामिनीविलास में वे अपने किसी बन्धु के स्वर्गप्रयाण के साथ ही अपनी मनोव्यथा की भी चर्चा करते हैं। कहते हैं—

दैवे पराग्वदनशालिनि हन्त जाते
या ते च सम्प्रति दिवं प्रति बन्धुरत्ने।
कस्मै मनः कथयितासि निजामवस्थां
कः शीतलैः शमयिता वचनैस्तवाधिम्॥

(कृ० वि० १)

हे मन, खेद है, कि, जब भाग्य ने मुँह मोड़ लिया और अब बन्धु-रत्न जब स्वर्ग चला गया तो तुम अपनी अवस्था किससे कहोगे और कौन शीतल वचनों से तुम्हारी मनोव्यथा को शान्त करेगा।"

उनकी पतिव्रता सुन्दरी पत्नी का उनके समक्ष ही देहावसान हो गया। 'भामिनी विलास' का समग्र द्वितीय विलास इसका साक्षी है। विस्तार के भय से वह समग्र यहाँ उद्धृत नहीं किया जा सकता है। पर,

कुछ पद्य जो पत्नी-शोक के स्पष्ट परिचायक हैं, यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं:—

धृत्वा पदस्खलनभीतिवशात् करं मे
या रूढवत्यसि शिलाशकलं विवाहे।
सा मां विहाय कथमद्य विलासिनि ! द्या-
मारोहसीति हृदयं शतधा प्रयाति ॥

(तृ० वि० ५)

हे विलासिनि, विवाह के समय, मानों पैर फिसल न जाय इस डर से, मेरा हाथ पकड़कर, जो तुम शिलाखण्ड पर चढ़ी थीं, आज वही तुम मुझे छोड़कर स्वर्गारोहण कर रही हो, इस कारण मेरे हृदय के सैकड़ों टुकड़े हुए जा रहे हैं।

केनापि मे विलसितेन समुद्गतस्य
कोपस्य किन्तु करभोरु ! वशंवदाऽभूः।
यन्मां विहाय सहसैव प्रतिव्रतापि
यातासि मुक्तरमणीसदनं विदूरम् ॥

(तृ० वि० ९)

हे करभोरु, क्या तुम मेरी किसी चेष्टा से उत्पन्न क्रोध की वशवर्तिनी हो गेई हो, जो पतिव्रता भी तुम मुझे सहसा ही छोड़कर रमणीनिवास (जनाने मकान) को छोड़ती हुई दूर चली गई हो।

भूमौ स्थिता रमण नाथ मनोहरेति
सम्बोधनैर्यमधिरोपितवत्यसि द्याम्।
स्वर्गं गता कथमिव क्षिपसि त्वमेण-
शावाक्षि तं धरणिधूलिषु मामिदानीम् ॥

(तृ० वि० १३)

हे मृगशावकनयने, जब तुम पृथ्वी पर थी तो तुमने मुझे हे रमण, हे नाथ, हे मनोहर इत्यादि सम्बोधनों से स्वर्ग पर चढ़ा दिया था, पर अब स्वर्ग में गई हुई तुम मुझे पृथ्वी की धूल में क्यों फेंक रही हो।

कान्त्या सुवर्णवरया परया च शुद्धया
नित्यं स्विकाः खलु शिखाः परितः क्षिपन्तीम्।
चेतोहरामपि कुशेशयलोचने! त्वां
जानामि कोपकलुषो दहनो ददाह॥
(तृ० वि० १५)

तुम सुवर्ण से श्रेष्ठ (अपनी) कान्तिद्वारा और परम शुद्धता (निर्मलता) के द्वारा नित्य ही अग्निशिखाओं को चारों ओर फेंकती रहती थी—उनका तिरस्कार करती रहती थी, अतः जान पड़ता है कि हे कमलनयने, कोप से मलिन अग्नि ने तुम—ऐसी मनोहर को भी जला दिया।

स्वप्नान्तरेऽपि खलु भामिनि! पत्युरन्यं
या दृष्टवत्यसि न कञ्चन साभिलाषम्।
सा सम्प्रति प्रचलिताऽसि गुणैर्विहीनं
प्राप्तु कथं कथय हन्त! परं पुमांसम्॥
(तृ० वि० १७)

हे भामिनि, तुमने सपने में भी पति के अतिरिक्त किसी को अभिलाषासहित नहीं देखा। अब तुम गुणहीन (निर्गुण + मूर्ख) पर पुरुष (परब्रह्म + जार) को पाने के लिए कैसे चल पड़ी। इत्यादि।

कुछ लोगों का अनुमान है कि पण्डितराज को पुत्रशोक भी सहना पड़ा। इसके प्रमाण में वे यह श्लोक उपस्थित करते हैं—

आ

> "रे रे मनो मम मनोभवशातनस्य
> पादाम्बुजद्वयमनारतभामन ·स्वम् ।
> किं मां निपातयसि संसृतिगर्त्तमध्ये
> नैतावता तव गमिष्यति पुत्रशोकः
>
> (च० वि० ३३)

हे मेरे मन, तू शिवजी के दोनों चरणारविन्दों का निरन्तर स्मरण कर। क्यों मुझे संसार रूपी खड्डे में गिरा रहा है। इतने से तेरा पुत्र-शोक मिटने का नहीं।"

पर यह ठीक नहीं है। कारण, एक तो इस श्लोक का संग्रह पत्नी-वियोग के समान 'करुण विलास' में न होकर 'शान्त विलास' में है। यदि इससे शोकजनकता सूचित करनी होती तो इसका संग्रह 'करुण विलास' में ही होता। दूसरे, 'रसगङ्गाधर' में भी यह 'प्रत्यनीक' अलंकार के उदाहरण में दिया गया है। प्रत्यनीक अलंकार वहीं होता है जहाँ 'शत्रुपर आक्रमण करने की शक्ति न होने से उसके किसी संबंधी पर आक्रमण किया जाय।' सो यहाँ इसका प्रकृत अर्थ यही है कि 'हे मन, तू तेरे पुत्र 'मनोभव' को मारनेवाले शिव का बदला मुझ शिवभक्त को संसार में डालकर क्यों चुका रहा है। इससे पुत्रशोक जा नहीं सकता।' अतः इससे निज पुत्रशोक की बात उठाना व्यर्थ है।

इनके अतिरिक्त अप्रस्तुतप्रशंसा के कुछ उदाहरण, जो 'भामिनी-विलास' में भी संगृहीत किए गए हैं, उनकी प्राचीन-वैभव-स्मृति को व्यक्त करते हैं, जो, प्रतीत होता है, अन्त में उनके हाथ से निकल चुकी थी। उदाहरणार्थ; जैसे—

> "पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खल-
> त्परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः ।

स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्ततताम् ॥

जिसकी वय (जीवन) पहले मानस-सरोवर के खिले हुए कमलों की पंक्ति से गिरते हुए पराग से सुगन्धित जल में व्यतीत हुई, वह हंसों के कुल का स्वामी अब अनेक (झुण्डों के झुण्ड) मेंढकों से गंदे किए गए तलैया के पानी में, कहिए, कैसे निर्वाह करे ।

'समुपागतवति दैवादहेलां कुटज ! मधुकरे मा गाः ।
मकरन्दतुन्दिलानामरविन्दानामयं महामान्यः ॥'

हे कुटज, दैव से तुम्हारे पास आए हुए मधुकर की अवज्ञा न करो । यह मकरन्दों से भरे अरविन्दों का महामान्य है ।'' इत्यादि ।

पण्डितराज की प्रशस्ति

पण्डितराज जगन्नाथ विद्वन्मण्डली में सदा अभिनन्दनीय रहे । सभी विद्वान् उनका सादर स्मरण करते हैं । यहाँ आधुनिक विद्वानों के कुछ मत उद्धृत किए जाते हैं ।

(१)

'ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर' में A Berriedale Keith D. C. L; D. Litt. लिखते हैं—

"In the seventeenth century the great authority on poetics, jagannath, wrote his Bhaminivilasa, admirable in many respects both as an eratic poem, an elegy, and a store of gnomic sayings.

सत्रहवीं शताब्दी में कविता के अधिकारी विद्वान् जगन्नाथ ने अपना 'भामिनीविलास' लिखा है जो शृङ्गार, करुण दोनों रसों और लोकोक्तियों के सम्बन्ध में प्रशंसार्ह है।"

(२)

'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स' में श्री सुशील कुमार डे, एम्. ए. डी. लिट्. लिखते हैं--

"Jagannatha's style is esudit and frightens the students by its involued language, its subtle reasoning and its unsparing criticism of earlier writers. ...Jagannath's work displays an acute and independent treatment or at least an attempt at a rethinking of the old problems. He shows himself conversant with the poetic theories of endeavours to harmonise with the new currents of thought, Along with some other important writers of the new School, Jagannath marks a reaction in this respect, and the school of Mammata and Ruyyaka does not receive from him unqualified homage.

जगन्नाथ की शैली पाण्डित्यपूर्ण है और अपनी जटिल भाषा, अति सूक्ष्म विचार और प्राचीन लेखकों की निर्मम आलोचना के कारण विद्यार्थियों के लिए भयप्रद है।...जगन्नाथ की कृति प्राक्तन समस्याओं के पुनर्विचार पर तीव्र और स्वतन्त्र शास्त्रार्थ तथा पूर्वग्रहविमुक्त आक्र-

मण प्रकट करती है। वे प्राचीन आलंकारिकों के सिद्धान्तों में अपनी निपुणता दिखाते हैं और इन सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं करते, किन्तु नवीन विचार-प्रवाहों के साथ इनके एकीकरण का प्रयास करते हैं। इस संबंध में जगन्नाथ नवीन पद्धति के कुछ महत्वपूर्ण अन्य लेखकों के साथ इस दृष्टि से एक प्रतिक्रिया प्रस्तुत करते हैं और मम्मट तथा रुय्यक का संप्रदाय उनके द्वारा विशिष्ट मान्यता प्राप्त करता है।''

(३)

'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयट्क्स्' में पी. वी. काणे M. A. D. Litt. रसगंगाधर के विषय में लिखते हैं--

"रसगङ्गाधर—This is a standard work on poetics, particularly on alankaras. The Rasgangadhar stands next only to the ध्वन्यालोक and the काव्यप्रकाश in the field of Poetics. Though a modern writer he has a wonderful command over classical Sanskrit......His verses are composed in an easy, flowing and graceful style and exhibit great poetic talent. His method is first to define a topic, then to discuss it and elucidate it by citing his own examples and to comment on the views of his predecessors. His prose is characterised by a lucid and vigorous style and displays great critical acumen. His criticism displays great sanity of judgment, maintains a high level of brilliant polemics and acuteness and is generally couched in courteous

language except when dealing with the views of Appaya. The justice of his criticism has to be acknowledged in most cases. Jagannath was a poet of great creative genius and also possesse the faculty of aesthetic appreciation in an eminent degree. Jagannath is the last great writer on sanskrit Poet.

अर्थात् यह (रसगङ्गाधर) साहित्य पर, विशेषतः अलङ्कारों पर एक प्रामाणिक कृति है। साहित्य के क्षेत्र में केवल ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के अनन्तर इसका स्थान है। यद्यपि (ग्रन्थकार) आधुनिक लेखक है तथापि शास्त्रीय संस्कृत पर उसका अद्भुत अधिकार है।... इसके पद्यों की रचनाशैली सरल, सुन्दर और धारावाहिनी है और महती कविप्रतिभा को निदर्शित करती है। इनकी पद्धति है कि प्रथम प्रस्तुत वस्तु का लक्षण बनाना, फिर लक्षण का विवेचन करना, तदनन्तर स्वनिर्मित उदाहरण द्वारा उसे स्पष्ट करना और अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के विचारों की आलोचना करना। इनका गद्य प्रसन्न और ओजस्वी शैली द्वारा गुणदोषविवेचक है तथा आलोचना की सूक्ष्मता का प्रदर्शन करता है। इनकी आलोचना श्रेष्ठ निर्णयशक्ति प्रकट करती है। यह आलोचना विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थ के उच्च स्तर से, सूक्ष्म विवेचना से एवं साधारणतया शिष्टभाषा से समन्वित होती है, केवल अप्पय दीक्षित की आलोचना के अवसर पर ही इसका अपवाद उपस्थित होता है। अधिकांश विषयों में उनकी आलोचना का निष्कर्ष स्वीकार्य होता है। जगन्नाथ श्रेष्ठ उत्पादिका प्रतिभा के कवि तथा प्रचुर परिमाण में सौन्दर्याङ्कन की क्षमता से संपन्न हैं। जगन्नाथ संस्कृत साहित्यशास्त्र के चरम लेखक हैं।"

निर्मित ग्रंथ

१—**अमृतलहरी**—इसमें यमुनाजी की स्तुति है। यह काव्यमाला में मुद्रित हो चुकी है।

२—**आसफविलास**—इसमें नवाब आसफखाँ का वर्णन है। काव्यमाला-संपादक ने लिखा है कि यह ग्रंथ हमें नहीं मिल सका, कुछ पंक्तियाँ ही मिली हैं।

३—**करुणालहरी**—इसमें विष्णु की स्तुति है। यह काव्यमाला में मुद्रित हो चुकी है।

४—**चित्रमीमांसाखंडन**—इसमें रसगंगाधर में स्थान-स्थान पर जो चित्रमीमांसा के अंशों का खंडन किया गया है, उसका संग्रह है और काव्यमाला में छप चुका है।

५—**जगदाभरण**—इसमें शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह की प्रशंसा है। काव्यमाला के संपादक का कथन है कि प्राणाभरण में और इसमें इतना ही भेद है कि इसमें प्राणनारायण के नाम के स्थान पर दाराशिकोह का नाम है।

६—**पीयूषलहरी**—इसका सुप्रसिद्ध नाम गंगालहरी है और यह अनेक जगह अनेक बार छप चुकी है।

७—**प्राणाभरण**—इसमें नैपालनरेश प्राणनारायण का वर्णन है और यह काव्यमाला में छप चुका है।

८—**भामिनीविलास**—यह पण्डितराज के पद्यों का संग्रह है और अनेक स्थानों से अनेक बार छप चुका है।

९—**मनोरमाकुचमर्दन**—यह सिद्धान्तकौमुदी की मनोरमा व्याख्या का खंडन है, पर इसका प्रचार नहीं है।

१०—यमुनावर्णन—यह ग्रंथ गद्य में लिखा गया था; क्योंकि रसगंगाधर के उदाहरणों में इसके दो तीन गद्यांश उद्धृत किए गए हैं; पर मिलता नहीं।

११—लक्ष्मीलहरी—इसमें लक्ष्मीजी की स्तुति है और यह काव्य-माला आदि में छप चुकी है।

१२—रसगंगाधर—यह आपके सामने प्रस्तुत है। पंडितराज का सबसे प्रौढ़ और मुख्य ग्रंथ यही है; परंतु आज दिन तक यह न पूरा हो सका और न पूरा मिलने की अब आशा है।

कुछ लोगों का कथन है कि इनके अतिरिक्त 'शशिसेना' तथा 'पंडितराजशतक' नामक दो और ग्रंथ भी पंडितराज के बनाए हुए हैं; पर वे देखने में नहीं आते।

अंतिम ग्रंथ

काव्यमाला-संपादक का कथन है कि—रसगंगाधर पंडितराज का अंतिम ग्रंथ नहीं है, इसके बनाने के अनंतर भी वे जीवित रहे। इसका कारण वे यह बताते हैं कि पंडितराज ने इसके अनंतर 'चित्रमीमांसा-खंडन' लिखा है। पर, हमारी समझ में, यह हेतु यथेष्ट नहीं। इसका कारण यह है कि 'चित्रमीमांसाखंडन' कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है, उसमें रसगंगाधर के वे अंश, जिनमें उस पुस्तक का खंडन आया है, ज्यों के त्यों संगृहीत कर लिए गए हैं। संग्रह का कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय आज-कल की तरह मुद्रण-कला का प्रचार नहीं था, इस कारण किसी भी ग्रंथ का दूर देशों तक प्रचार बहुत विलंब से होता था और पंडितराज को अप्पय दीक्षित के हिमायतियों को उनकी भूलें दिखा देने की बहुत आतुरता थी; वे चाहते थे कि लोगों पर जो अप्पय दीक्षित

का प्रभाव पड़ा हुआ है, वह मेरे सामने ही कम हो जाय। सो पूर्वोक्त संग्रह की अनेक प्रतियाँ, जो समग्र रसगंगाधर की अपेक्षा थोड़े समय और व्यय में हो सकती थीं और रसगंगाधर की समाप्ति के पूर्व ही उन लोगों के हाथों में पहुँचाई जा सकती थीं, लिखवाकर उन्होंने उन सब लोगों के पास भिजवा दीं और आगे का ग्रंथ लिखते रहे। अन्यथा जो सब बातें रसगंमाधर में आ गई थीं उनके पृथक् संग्रह की—और वह भी ऐसे संग्रह की कि जिसमें कुछ भी नवीनता नहीं है[1]—क्या आवश्यकता थी। "चित्रमीमांसा खण्डन" के आरंभ में यह श्लोक लिखा है—

सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरितानामप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरण विदध्यात्तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि॥

अर्थात् इस अप्पयदीक्षित की कृति (चित्रमीमांसा) में मैंने, सूक्ष्म विचार करके जो कुछ दूषण दिखाए हैं, उनका यदि कोई निर्मत्सर पुरुष उद्धार कर दे तो उस निर्मलबुद्धि पुरुष के दोनों पैरों को मै अपने सिर पर रखूँगा। इससे भी इस संग्रह का कारण यही प्रतीत होता है।

काव्यमाला-संपादक ने यह भी लिखा है कि "इतना अनुमान किया जा सकता है कि पंडितराज ने अप्पय दीक्षित के द्वेष से रसगंगाधर के द्वारा 'चित्रमीमांसा' का अनुकरण करना प्रारंभ किया था, सो उन्होंने भी अपने ग्रंथ को असमाप्त ही छोड़ दिया।" पर यह बात बनती नहीं। कारण, यदि यह ग्रंथ चित्रमीमांसा के अनुकरण पर ही लिखा गया होता तो चित्र मीमांसा में तो काव्यलक्षण, रस, भाव, गुण आदि का कहीं

---

१ चित्रमीमांसाखण्डन में वे स्वयं कहते हैं—

"रसगङ्गाधरे चित्रमीमांसाया मयोदिताः।
ये दोषास्तेऽत्र संक्षिप्य लिख्यन्ते विदुषां मुदे।"

निशान भी नहीं । फिर भला इस पुस्तक में इन सब विषयों के विवेचन की क्या आवश्यकता थी ? और यदि वैसा ही करना था—अर्थात् अधूरा ही छोड़ना था—तो क्या पंडितराज भी चित्रमीमांसा की तरह ही, कोई श्लोक बनाकर अंत में नहीं रख सकते थे, क्यों उत्तरालंकार के उदाहरण के तीन पादों पर ही ग्रंथ लटकता रह गया ?

दूसरे, इस बात को तो काव्यमाला-संपादक भी मानते हैं कि पंडितराज रसगंगाधर के पाँच आनन बनाना चाहते थे, अतएव उन्होंने इस पुस्तक के प्रकरणों का नाम 'आनन' रखा था; क्योंकि गंगाधर (शिव) के पाँच आनन (मुख) होते हैं । फिर, चित्रमीमांसा का अनुकरण तो अधिक से अधिक अलंकारसमाप्ति तक हो सकता था, जो दूसरे आनन में समाप्त हो जाता । यदि उसका अनुकरण ही करना था, तो वे क्यों आगे लिखना चाहते थे । तीसरे, रसगंगाधर के उद्देश्यों में भी यह बात नहीं है कि जिससे यह अनुमान किया जाय ।

अतः हमारी तुच्छ बुद्धि के अनुसार तो यह मानना उचित है कि पंडितराज का अंतिम ग्रंथ रसगंगाधर ही है और इसकी समाप्ति के पूर्व ही उनका देहावसान हो गया था ।

अन्य जगन्नाथ

इसके अतिरिक्त एक और बात समझ लेने की है । वह यह कि अब तक संस्कृत भाषा में ग्रंथ निर्माण करनेवाले अनेक जगन्नाथ पंडित हो गए हैं, सो उनके नाम हम यहाँ काव्यमाला की भूमिका से इसलिये उद्धृत कर रहे हैं कि कोई उनकी पुस्तकों को भी पंडितराज की पुस्तकें न समझ ले ।

१—तंजौरवासी जगन्नाथ—इनके ग्रंथ अश्वधाटी, रतिमन्मथ और वसुमतीपरिणय हैं ।

२—जयपुरनिवासी सम्राट् जगन्नाथ—इनके ग्रंथ रेखागणित, सिद्धांतसम्राट् और सिद्धांतकौस्तुभ हैं।

३—जगन्नाथ तर्कपंचानन—इनका ग्रंथ विवादभंगार्णव है।

४—जगन्नाथमैथिल—इनका ग्रंथ अतंद्रचंद्रिक नाटक है।

५—श्रीनिवास के पुत्र जगन्नाथ पंडित—इनका ग्रंथ अनंगविजय भाण है।

६—जगन्नाथ मिश्र—इनका ग्रंथ सभातरंग है।

७—जगन्नाथ सरस्वती—इनका ग्रंथ अद्वैतामृत है।

८—जगन्नाथ सूरि—इनका ग्रंथ समुदायप्रकरण है।

९—जगन्नाथ—इनका ग्रंथ शरभगजविलास है।

१०—नारायण दैवज्ञ के पुत्र जगन्नाथ—इनका ग्रंथ ज्ञानविलास है।

११—जगन्नाथ—इसका ग्रंथ अनुभोगकल्पतरु है।[१]

वैशाख वदि द्वितीया शनिवार
संवत् १९८५
७ एप्रिल १९२८

पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी
जयपुर।

१—इस प्रकरण में जिन विद्वानों से साक्षात् अथवा उनके पुस्तकादि के द्वारा सहायता प्राप्त हुई है, उनका, और विशेषतः काव्यमाला-संपादक का, लेखक हृदय से कृतज्ञ है।

विषय-विवेचन

काव्यलक्षण का विवेचन

कवि और काव्य

इस ग्रन्थ को स्वयं ग्रन्थकर्ता ने 'काव्यमीमांसा'[1] कहा है, और सबसे पहले काव्य-लक्षण का ही विवेचन किया है; अतः यह सोचिए कि जिसकी मीमांसा इस ग्रन्थ में की जा रही है और जिसका लक्षण सबसे प्रथम लिखा गया है, वह काव्य क्या वस्तु है ? अर्थात् काव्य शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है ? और साथ ही यह भी सोचिए कि वह काव्य-लक्षण अब तक किन-किन विवेचकों की टक्करें खाकर किस-किस रूप में परिणत हो चुका है।

'काव्य' शब्द का अर्थ, व्याकरण की रीति से, 'कवि[2] की कृति' होता है, अर्थात् कवि जो कार्य करता है, उसे 'काव्य' कहा जाता है। तब यह समझने की आवश्यकता होती है कि कवि शब्द का अर्थ क्या है, और वह क्या कार्य करता है। अच्छा तो कवि शब्द का अर्थ भी समझिए और उसके बाद काव्यलक्षण पर ऐतिहासिक क्रम से एक आलोचनात्मक दृष्टि भी डाल जाइए। व्याकरण के अनुसार कवि शब्द

१—मननतरितीर्णविद्यार्णवो जगन्नाथपंडितनरेन्द्रः।
रसगङ्गाधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम्।
—प्रथमानन, ७ श्लोक।

२—'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति कर्मणि ष्यञ्।

का अर्थ किसी विषय का कहनेवाला[१] अथवा प्रतिपादन करनेवाला होता है और कोषकार उसे पंडित[२] शब्द का पर्यायवाची मानते हैं। अतः व्याकरण और कोष दोनों अथवा यों कहिए कि योग और रूढ़ि दोनों की दृष्टि से एक साथ विचार करने पर इस शब्द का अर्थ 'किसी विषय का प्रतिपादन करनेवाला विद्वान्' होता है। इसी बात को सीधे शब्दों में यों कह सकते हैं कि कवि उस जानकार का नाम है, जो अपनी जानी हुई बातों का प्रतिपादन कर सके।

आरंभ में यह शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत होता था। अतएव वेद में सर्वज्ञ और वेदों के द्वारा सब पदार्थों का सूक्ष्म रूप से प्रतिपादन करनेवाले जगदीश्वर के लिये इस शब्द का प्रयोग हुआ है—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" (शुक्लयजुः-संहिता अ० ४० म० ८)। इसी प्रकार वेदों के सर्व-प्रथम विद्वान् प्रकाशयिता ब्रह्मा को भी पुराणों में "आदिकवि" कहा गया है—"तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये" (श्रीमद्भागवत १–१–१)। जिस तरह वैदिक वाणी के प्रथम-प्रकाशक ब्रह्मा को यह पदवी प्राप्त हुई, उसी प्रकार लौकिक वाणी के सर्वप्रथम वर्णयिता महर्षि वाल्मीकि भी 'आदिकवि' पदवी से विभूषित किए गए। उनके अनंतर महाभारत जैसे महोपाख्यान और अष्टादश महापुराणों के प्रणेता महामुनि कृष्ण द्वैपायन (वेदव्यास) 'कवि' पदवी के अधिकारी हुए। इसी तरह पुराणों के समय तक अन्यान्य विद्वान् वर्णयिताओं को, चाहे उनकी रचनाओं में सौंदर्य अधिक मात्रा में होता या न होता, कवि कहा जाता था; जैसे राजनीति आदि के लेखक शुक्राचार्य आदि को। कवि शब्द का वह व्यापक अर्थ, जिसके द्वारा प्रत्येक वर्णयिता

१—'कुङ्-शब्दे' कवते इति कविः; 'कबृवर्णे' इत्यनेन तु नेदं सिध्यति, तस्य पवर्गीयोपधत्वात्।

२—'संख्यावान् पंडितः कविः' इत्यमरः।

को कवि कहा जा सकता था, पुराणों के समय तक प्रचलित था। यह बात अग्निपुराण के काव्यलक्षण से स्पष्ट हो जाती है जिसका वर्णन अभी किया जायगा।

परन्तु पीछे से यह शब्द उन विद्वानों के लिए व्यवहृत होने लगा, जो सौंदर्यपूर्ण विषय का सौंदर्यपूर्ण वर्णन करते थे और जिनके वर्णन को सुनकर मनुष्य मुग्ध हो जाते थे। अतएव व्यास और वाल्मीकि को कवि मान लेने पर भी, किसी ने मनु, याज्ञवल्क्य अथवा पराशर जैसे विद्वानों को, यद्यपि उन्होंने भी छन्दोबद्ध ग्रंथ लिखे हैं, कवि नहीं कहा। काव्यलक्षण में अनेक परिवर्तन होते हुए भी, शास्त्रीय दृष्टि से, यह शब्द आज दिन भी प्रायः इसी अर्थ में व्यवहृत होता है। 'शास्त्रीय दृष्टि से' शब्द हमने चलाकर लिखा है और वह इस लिए कि आजकल बहुतेरे लोग वास्तव में विद्वान् न होते हुए भी साधारण दृष्टि के लोगों द्वारा कवि कहे जाते हैं।

अच्छा यह तो हुई 'कवि' की बात। अब यह समझिए कि उसका कार्य क्या है। उसका कार्य, कवि शब्द के साधारण अथवा प्रारंभिक अर्थ के अनुसार 'किसी विषय का प्रतिपादन' और विशेष अथवा आधुनिक अर्थ के अनुसार 'किसी सौंदर्यपूर्ण विषय का सौंदर्यपूर्ण वर्णन' है। प्रतिपादन अथवा वर्णन शब्दों के रूप में होता है, अतः यह समझना भी कठिन नहीं कि वह शब्द ही कवि का कार्य है।[1] तब यह निष्कर्ष

१—यद्यपि कवि का कार्य शब्दों की योजना है, तथापि जिस तरह कुम्हार का काम घड़े का निर्माण होने पर भी घड़ा भी कुम्हार का काम माना जाता है, उसी तरह शब्द भी कवि का कार्य कहलाता है। तात्पर्य्य यह कि यहाँ कर्म शब्द से की जानेवाली वस्तु ली गई है, क्रिया नहीं और यह बात शास्त्रसिद्ध एवं विद्वत्संमत है।

निकलता है कि प्रारंभ में किसी विषय के प्रतिपादन करनेवाले शब्दों को काव्य कहा जाता था।

अब आप देखिए कि काव्य का यह साधारण लक्षण किन-किन विवेचकों की कैसी-कैसी विचारधाराओं में प्रवाहित हुआ और अनेक टक्करें खाकर आज वह किस रूप में है।

अग्निपुराण (समय अनिश्चित)

सबसे प्रथम 'काव्यलक्षण' प्राप्य ग्रंथों में से अग्निपुराण में मिलता है। वहाँ लिखा है—

संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यम्............................ ॥

अर्थात् संक्षेप से जो वाक्य होता है उसका नाम काव्य है और संक्षेप से वाक्य का अर्थ यह है कि जिस अर्थ को कहना चाहते हैं वह जितने से कहा जा सकता है, उससे न अधिक और न न्यून, इस तरह की पदावली काव्य है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि "काव्य उस पदावली को कहते हैं, जिसमें, जो कुछ हम कहना चाहते हैं वह थोड़े में पूर्णतया कह दिया जाय; न तो व्यर्थ का विस्तार हो और न यही हो कि जो बात कह रहे हैं वही साफ-साफ न कही जा सके।"

दंडी (छठी शताब्दी, अनुमित)

'काव्यादर्श' कार आचार्य 'दण्डी' का भी, जिनको कि प्राचीन आचार्यों में माना जाता है, प्रायः यही काव्यलक्षण है। उन्होंने अग्नि-पुराण के लक्षण में से 'संक्षेपाद् वाक्यम्' इस भाग को निकालकर केवल उसकी व्याख्या को ही स्वीकार किया है; पर दोनों में भेद कुछ भी नहीं है। वे कहते हैं—"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।"

रुद्रट (वामन[1] से पूर्व)

इनके बाद आलंकारिकशिरोमणि रुद्रट का समय आता है। उन्होंने अथवा उनके पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य ने, अपनी सूक्ष्म दृष्टि से, एक गहरी बात सोची है। वह यों है—

हम पहले कह आए हैं कि काव्य शब्द का वास्तविक अर्थ कवि की कृति है। अब सोचिए कि कवि जिस तरह शब्दों को ढंग से जोड़ कर पद्यादिक के रूप में परिणत करता है, उसी तरह वह जिन अर्थों का वर्णन करता है उनको भी आवश्यकतानुसार नए साँचे में ढाल देता है। यही क्यों, यदि यथार्थ में सोचें तो यह कहा जा सकता है कि कवि के वर्णन किए जानेवाले पदार्थ उसी के होते हैं, वे ईश्वरीय सृष्टि के वास्तविक पदार्थों से पृथक् एवं केवल कविकल्पनाप्रसूत होते हैं। सच पूछिए तो ऐतिहासिक सीता-शकुंतला से भवभूति और कालिदास की सीता-शकुंतला निराली हैं। इसी प्रकार कालिदास का हिमालय और श्रीहर्ष का चंद्र भी लौकिक हिमालय और चंद्र से विलक्षण हैं। थोड़ा और सोचिए; सीता-शकुंतला आदि का तो इतिहास से कुछ संबंध भी है; पर भवभूति के 'मालतीमाधव' को लीजिए; वह नाटक नहीं प्रकरण है; और यह सिद्ध है कि प्रकरण का कथानक कल्पित होता है। अब बताइए, उसमें जिन मालती, माधव तथा अन्यान्य पात्रों का वर्णन है, उन्हें किसने उत्पन्न किया? विवश होकर यही कहना पड़ेगा—कवि ने। बस तो इसी बात को अन्यत्र

१—यद्यपि रुद्रट का समय पूर्णतया निश्चित नहीं हो सका है तथापि अलंकारसर्वस्वकार ने, जो कि काव्यप्रकाशकार से प्राचीन हैं, उन्हें वामन से प्राक्तन आचार्यों में समझा है, सो हमने भी वही समय स्वीकृत किया है।

भी लगाइए और समझिए कि कवि के वर्णनीय अर्थ मानस होते हैं, वास्तविक नहीं; अतः शब्दों की तरह वे भी कवि की कृति ही हैं। अतएव अग्निपुराण के ही शब्दों को लेकर ध्वन्यालोक में लिखा है—

"अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ॥

अर्थात् काव्यरूपी जो अनंत जगत् है उसमें कवि ही प्रजापति[1] है—उस जगत् का सृष्टिकर्त्ता वही है; उसे जिस तरह का संसार पसंद होता है, इस जगत् को उसी प्रकार बदल जाना पड़ता है।"

सो अब तक जो केवल शब्द (पदावली) को काव्य कहा जाता था, रुद्रट को न जँचा और उन्होंने उसके साथ अर्थ को भी जोड़ दिया। उन्होंने कहा—"ननु[2] शब्दार्थौ काव्यम्।" तात्पर्य यह कि रुद्रट के, अथवा रुद्रट और दण्डी के मध्य के, समय में पदावली और उससे वर्णन किए जानेवाले अर्थ दोनों को काव्य कहा जाने लगा।

वामन (नवम शताब्दी के पूर्वार्ध से पहले)

इनके अनंतर सुप्रसिद्ध आलंकारिक वामन का समय आता है। यद्यपि सौंदर्ययुक्त वर्णन को काव्य मानना अग्निपुराण के समय से ही प्रचलित हो गया है; यह बात उसके लक्षण से पूर्णतया सिद्ध न होने पर भी अग्निपुराणीय विवेचन से सिद्ध है; तथापि वामन के समय से काव्य में सौंदर्य का प्राधान्य समझा जाने लगा। यह बात उनके अलंकार-सूत्रों से स्पष्ट हो जाती है। वे कहते हैं—"काव्यं ग्राह्यमलंकारात्" जिसका तात्पर्य यह है कि काव्य का ग्रहण करना उचित है; क्योंकि उसमें सुंदरता होती है।

१—स्रष्टा प्रजापतिर्वेधाः' इत्यमरः ।

२—"पृष्टप्रतिवाक्ये ननुः" इति तट्टीकाकर्तुर्नमिसाधोर्विवरनम् ।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि वामन के समय में काव्य की सुंदरता का कारण गुणों और अलंकारों का माना जाता था। उन्होंने लिखा ही है—"सौन्दर्यमलङ्कारः" "स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्"; अर्थात् सौन्दर्य ही अलंकार है और वह सौंदर्य दोषों के छोड़ देने और गुणों तथा अलंकारों के ग्रहण करने से होता है। अतएव वे पूर्वोक्त सूत्रों की स्वनिर्मित वृत्ति में 'काव्यलक्षण' के विषय में कहते हैं—"काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते अर्थात् जिन शब्दों और अर्थों में गुणों और अलंकारों की पुट लगी हो, वे काव्य कहलाते हैं।"

पर उनके ग्रंथ से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द और अर्थ के साथ 'गुणों और अलंकारों से युक्त' विशेषण उनकी अभिनव ही सृष्टि है; क्योंकि वे उसी के साथ लिखते हैं कि "भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनो गृह्यते"। इसका तात्पर्य यह होता है कि, अब तक जो 'केवल शब्द और अर्थ' को काव्य कहा गया है वह काव्यस्वरूप का वास्तविक विवेचन न होने के कारण कहा गया है और अब वह रूढ़ हो गया है; पर उसे काव्य शब्द का मुख्य अर्थ नहीं, किंतु लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिए। सो वामन के सिद्धांत के अनुसार काव्य शब्द का अर्थ 'गुणों और अलंकारों से युक्त शब्द और अर्थ' हुआ।

आनंदवर्धनाचार्य (नवम शताब्दी का उत्तरार्ध)

इनके अनंतरभावी व्यंग्यविवेचना के प्रथम प्रवर्तक ध्वनिमर्मज्ञ श्री आनंदवर्धनाचार्य ने काव्यलक्षण को स्पष्ट रूप में तो नहीं लिखा है; पर यह अवश्य स्वीकार किया है कि काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है। वे एक प्रसङ्ग में कहते हैं कि "शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्।"

भोज (ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध)

इनके बाद संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध प्रेमी धाराधराधीश्वर महाराज भोज का नंबर आता है। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से कोई 'काव्यलक्षण'

नहीं लिखा है; तथापि उनके "निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्त्तिं प्रीतिं च विन्दति।" इस सरस्वतीकंठाभरणस्थ पद्य से यह सिद्ध होता है कि वे भी शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य मानते हैं, क्योंकि एक तो उन्होंने जो काव्य को 'रसान्वितम्' विशेषण दिया है वह अर्थ को काव्य माने बिना ठीक-ठीक नहीं घट सकता; क्योंकि रस का साक्षात् अन्वय केवल शब्दों से नहीं हो सकता। दूसरे 'अलकारैः' से भी उन्हें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों अभीष्ट हैं; सो अर्थ को काव्य माने बिना अर्थालंकार अलंकृत किसे करेंगे ?[1]

मम्मट (बारहवीं शताब्दी)

अब आगे चलिए। आगे आलंकारिक जगत् के देदीप्यमान रत्न महामति मम्मटाचार्य का स्थान है। उन्होंने वामन के मत को अपनी आलोचनात्मक दृष्टि से देखा। वामन का 'गुणसहित' कहना तो उनकी समझ में आया; पर अलंकारों पर उतना जोर देना उन्हें न जँचा। बात भी ठीक है; काव्य में अलंकारों का अनिवार्य होना सर्वथा आवश्यक भी नहीं है। सो उन्होंने कहा कि "सब जगह अलंकार रहें; पर यदि कहीं वे स्पष्ट न भी रहें; तथापि दोषरहित और गुणसहित शब्द और अर्थ को काव्य कहा जाना चाहिए।"[2]

वाग्भट (बारहवीं शताब्दी, मम्मट के पीछे)

पर, पीछे के विद्वानों का ध्यान, ध्वनिकार के सिद्धांतों का अच्छा प्रचार हो जाने के कारण, काव्य के जीवन रस की ओर गया। सो वाग्भट ने देखा, वामन गुणो और अलंकारों सहित शब्द और अर्थ

१—वामनाचार्य झलकीकर ने काव्यप्रकाश की भूमिका में जो यह लिखा है—"निर्दोषं गुणालंकाररसवद् वाक्यं काव्यमिति भोजमतम्" सो प्रतीत होता है कि पुरःस्फूर्तिक है।

२—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"—काव्यप्रकाश।

को काव्य और रीति को काव्य का आत्मा मानते हैं और काव्यप्रकाश-कार दोषरहित और गुणसहित शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं; तो लाओ हम इन सभी को लिख डालें। इसलिये उन्होंने "गुण, अलंकार रीति और रससहित तथा दोषरहित शब्द और अर्थ" को काव्य कहा।

पीयूषवर्ष (बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध)

इधर पीयूषवर्ष (चंद्रालोककार जयदेव) तो और भी बढ़े। वे तो दोषरहित[1] एवं लक्षण, रीति, गुण, अलंकार, रस और वृत्ति—इन सबसे सहित वाणी को काव्य कहने लगे। अर्थात् अब तक जो कुछ उत्कर्षाधायक, जीवनदायक अथवा शोभाविधायक धर्म उन्हें दिखाई पड़े, उन्होंने उन सबको वाक्य के साथ में लगाकर एक लंबा लक्षण बना डाला। पर, यह बात एक प्रकार से मानी हुई ही है कि उनका लक्षण-निर्माण सरल और हृदयङ्गम होने पर भी उतना विवेचनापूर्ण नहीं है। वही बात यहाँ भी हुई है।

विश्वनाथ (चौदहवीं शताब्दी)

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी से काव्यलक्षण का रुख फिर से बदला और उसकी लंबाई को कम करने का यत्न होने लगा। जहाँ तक हम समझते हैं, सबसे पहले, सुप्रसिद्ध निबंध 'साहित्यदर्पण' के रचयिता महापात्र विश्वनाथ ने उसे कम किया और कहा कि "जिसकी[2] जीवन-ज्योति रस-भाव आदि हैं, जो इन्हीं के द्वारा चमत्कारी होता है, उस वाक्य का नाम 'काव्य' है।" उनका अभिप्राय यह है कि वाक्य में चाहे अलंकार आदि कोई उत्कर्षाधायक वस्तु न हो और दोष भी हों;

१—"निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यशब्दभाक्।" चन्द्रालोकः

२—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"—साहित्यदर्पण

तथापि यदि उससे रस, भाव और उनके आभासों की अभिव्यक्ति होती हो तो उसे काव्य कहा जा सकता है।

यह बात कुछ नवीन नहीं, बहुत पुरानी है। शौद्धोदनि नामक एक आचार्य ने इस बात को बहुत पहले ही लिख दिया था, महापात्रजी ने प्रायः उसी को उठाकर लिख दिया है। यह बात केशव मिश्र के 'अलंकारशेखर' से स्पष्ट हो जाती है। वे कहते हैं—'अलंकारसूत्र-कार भगवान् शौद्धोदनि ने काव्य का स्वरूप यों लिखा है—"काव्यं रसादि-मद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्।" अर्थात् जिस वाक्य में रस आदि हों, उसे 'काव्य' कहा जाता है। 'रस आदि' में जो 'आदि' शब्द है, उससे उन्होंने (केशव मिश्र ने) अलंकार का ग्रहण किया है और कहते हैं कि रस अथवा अलंकार दोनों में से एक के होने पर वाक्य को काव्य कहा जा सकता है। पर साहित्यदर्पणकार को अलंकारमात्र के होने पर काव्य मानना अभीष्ट नहीं; अतः उन्होंने आदि शब्द को उड़ा दिया और केवल 'रस' शब्द लिखकर उससे रस भाव-आदि आस्वादनीय व्यंग्यों का ग्रहण कर लिया है।

गोविंद ठक्कुर[1] *(सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध, अनुमित)*

तदनंतर 'काव्यप्रकाश' के मर्मज्ञ 'काव्यप्रदीप'-कार श्रीगोविंद ठक्कुर का समय आता है। उन्होंने 'काव्यप्रकाश' के लक्षण का विवेचन करते हुए यह लिखा है कि—काव्यप्रकाशकार को रस-रहित होने पर और अलंकार के स्पष्ट न होने पर भी शब्द और अर्थ को काव्य मानना अभीष्ट है। पर यह उचित नहीं। क्योंकि जहाँ रस न होगा, और अलंकार भी स्पष्ट न होगा, तो बताइए, वहाँ चमत्कार किसका होगा?

१—ये यद्यपि व्याख्याकार हैं, तथापि हम इन्हें आचार्यों में मानते हैं और हमें विश्वास है कि 'प्रदीप' के मर्मज्ञों को इसमें विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

और काव्य में चमत्कार ही असली वस्तु है, यदि वही न रहा, तो उसे काव्य कहा ही कैसे जायगा ? अतः यह मानना चाहिए कि जहाँ रस हो वहाँ यदि अलंकार स्पष्ट न हो तथापि शब्द और अर्थ को काव्य कहा जा सकता है; पर जहाँ रस न हो वहाँ अलंकार का होना आवश्यक है। सो रस और अलंकार—इन दोनों में से किसी एक से भी युक्त शब्द और अर्थ को काव्य कहा जाना चाहिए। इनका यह लक्षण प्रायः केशव मिश्र के लक्षण से मिल जाता है।

पंडितराज (सत्रहवीं शताब्दी)

इनके अनंतर अनुवाद्य ग्रंथ के निर्माता मार्मिक तार्किक श्री पंडितराज का समय है। इन्होंने इस विषय में जो मार्मिक विवेचन किया है, वह तो आपके सामने है और उस पर जो इस अकिञ्चित्कर की टिप्पणी है वह भी आपके सम्मुख है। अतः इस विषय में अधिक लिखकर हम आपका समय व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहते।

उपसंहार

जहाँ तक हमारा ज्ञान है, हम कह सकते हैं कि पंडितराज के अनंतर इस विषय का मार्मिक विवेचन किसी ने नहीं किया। अतएव इसी लक्षण को अंतिम समझकर हम पूर्वोक्त लक्षणों का सिंहावलोकन करते हुए इस विषय को समाप्त करते हैं—

यह कहा जा चुका है कि वेदादिक के समय में 'किसी भी अर्थ के वर्णन' को काव्य कहा जाता था। उसके अनंतर, पुराणों के समय में, लक्षण के प्रायः प्राचीन रूप में रहने पर भी, 'कविकल्पित'[१] सुदर

१—'अग्निपुराण' में ऐतिहासिक व्यक्तियों को भी प्रबंध (आख्यायिका आदि) के अनुरूप बना लेने की अनुमति है और थोड़ा भी फेर-फार होने पर ऐतिहासिकता नष्ट हो जाती है; क्योंकि इतिहास में कल्पना को किंचित् भी स्थान नहीं। अतः हमने अर्थ को 'कवि-

अर्थ के सौंदर्ययुक्त वर्णन' को काव्य माना जाता था। यह बात अग्निपुराण के पाठ से पूर्णतया सिद्ध हो जाती है; क्योंकि उसके लक्षण में सौंदर्य पर उतना जोर न दिया जाने पर भी, पदार्थों के वर्णन के लिये जिस सौंदर्य का संपादन अपेक्षित है उसका उसमें विस्तृत विवेचन किया गया है। यह मत संभवतः दंडी तक चलता रहा।

तदनंतर रुद्रट, अथवा उनके पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य, के समय से 'सुंदर शब्द अर्थ का नाम काव्य हुआ। बाद में, वामन के समय से, 'सौंदर्यपूर्ण अर्थ और उसके 'सौंदर्यपूर्ण वर्णन' का काव्य कहा जाने लगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि वामन और उनके पूर्व के समय में शब्द और अर्थ दोनो के सौंदर्य का कारण गुणो और अलंकारो को ही माना जाता था।

उनके बाद आनंदवर्धनाचार्य के समय में सौंदर्य का पूर्णतया अन्वेषण हुआ और तब सौंदर्य के मूल 'रस' का प्राधान्य हो जाने के कारण अलंकारोंका आदर कम हो गया।

काव्यप्रकाशकार ने अलंकारों को गौण कर दिया और गुणों को केवल रस का धर्म मानकर उनको अभिव्यक्त करनेवाली रचना का अधिक सम्मान किया। उनके हिसाब से रस और रचना सौंदर्य का प्रधान कारण थे और अलंकार अप्रधान। तदनुसार वे भी 'सौंदर्यपूर्ण अर्थ और उसके सौंदर्यपूर्ण वर्णन' को काव्य मानने लगे।

कल्पित' विशेषण लगाया है। इसी—अर्थात् वर्णनीय अर्थों को इच्छानुसार चित्रित कर डालने के हो—कारण, हमने, काव्य में वर्णित ऐतिहासिक और अनैतिहासिक सभी अर्थों को 'कल्पित' माना है, क्योंकि वे यथास्थित पदार्थों से पृथक् हो जाते हैं। सो इस विशेषण को काव्यलक्षण में सर्वत्र अनुस्यूत समझिए।

वाग्भट और पीयूषवर्ष के लक्षण उतने क्षोदक्षम नहीं हैं; अतः उन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं।

साहित्यदर्पणकार सौंदर्यपूर्ण अर्थ को काव्य नहीं मानते; किंतु उसके वर्णनमात्र को काव्य मानते हैं; और सौंदर्य का कारण एक मात्र रस को समझते हैं। ये महाशय वर्णन में सौंदर्य को आवश्यक मानते हैं; पर अनिवार्य नहीं। अतएव इनके हिसाब से वर्णन की निर्दोषता और सालंकारता सर्वथा अपेक्षित नहीं। यही बात पंडितराज के विषय में भी समझ लीजिए। परंतु पंडितराज के तर्क इस विषय में इनकी अपेक्षा ठोस हैं। यह भी पाठकों से छिपा नहीं रहेगा।

केशव मिश्र और गोविंद ठक्कुर दोनों ही सौंदर्य का कारण रस और अलंकार दोनों को मानते हैं। पर पहले महाशय साहित्यदर्पण के समान 'सौंदर्यपूर्ण अर्थ के वर्णन' को काव्य मानते हैं और दूसरे काव्यप्रकाश के अनुयायी होने के कारण 'सौंदर्यपूर्ण अर्थ और उसके सौंदर्यपूर्ण वर्णन' दोनों को काव्य मानते हैं।

उनके बाद पंडितराज ने भी 'सौंदर्यपूर्ण अर्थ के वर्णन' को काव्य माना है; पर वे समग्र सौंदर्य की मूलकारणता एक रस को ही दे देना उचित नहीं समझते। उनका कहना है कि चाहे जिस-किसी अर्थ के ज्ञान से हमें अलौकिक आनंद, वह थोड़ा हो या तन्मय कर देनेवाला हो, प्राप्त हो जाय, वह प्रत्येक अर्थ सौंदर्य का कारण हो सकता है। उसका रस के साथ सर्वथा संबंध होना आवश्यक नहीं।

रही हमारी टिप्पणी। सो हमसे और पंडितराज से केवल इतना ही मतभेद है कि हम केवल वर्णन को ही कवि की कृति नहीं समझते; किंतु काव्य में वर्णित अर्थों को भी उसी की कृति मानते हैं, जैसा कि रुद्रट का मत लिखते समय हम सिद्ध कर आए हैं।

काव्य का कारण

यह तो हुई काव्य की बात। अब इसके आगे इस ग्रंथ में काव्य के कारण का विवेचन है। काव्य का कारण प्रतिभा, जिसे शक्ति भी कहा जाता है, है, इस विषय में तो आज दिन तक न किसी को विप्रतिपत्ति हुई और न आगे है, कभी हो सकती है। पर मतभेद एक तो इस बात में है कि कुछ विद्वान् केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हैं और कुछ प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को और जोड़ते हैं। अर्थात् कुछ विद्वानों के हिसाब से काव्य का एक कारण है 'प्रतिभा'; और कुछ के हिसाब से तीन हैं—प्रतिभा, व्युपत्ति और अभ्यास।

प्रतिभा क्या पदार्थ है यह विषय भी विवादग्रस्त है।

अब देखिए, काव्य का एक कारण माननेवालों में रुद्रट, वामन और पंडितराज आदि विद्वान् हैं; और तीन माननेवालों में दंडी, मम्मट, वाग्भट और पीयूषवर्ष आदि हैं। अब इन विद्वानों के विचारों को सुनिए और उनपर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाल जाइए।

इनमें से प्राचीनतर आचार्य दंडी का कहना है कि

"नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं च बहु निर्मलम्,
अमन्दश्चाऽभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः ॥

अर्थात् स्वतःसिद्ध प्रतिभा, अत्यंत और निर्दोष शास्त्रश्रवण—अर्थात् व्युत्पत्ति, तथा अनल्प अभ्यास[1]—अर्थात् किसी प्रकार की कमी न करते हुए बार-बार पद्य बनाते रहना, ये सब काव्य की संपत्ति—

१—'अभियोगः पौनःपुन्येनाऽनुसन्धानम्' इति बीकानेरराजकीय-पुस्तकालयस्था लिखिता काव्यदर्शव्याख्या। तथाऽभ्यास एवेत्यस्म-दुक्तेऽर्थे न काचन विप्रतिपत्तिः।

अर्थात् उसके उत्कृष्ट होने के कारण हैं। पर साथ ही वे एक और बात कहते हैं, जो अवश्य ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

अर्थात् यद्यपि पूर्वजन्म की वासना के गुण जिसके पीछे लगे हुए हैं वह संसार को चकित कर देनेवाली प्रतिभा नहीं है, तथापि शास्त्र-श्रवण—अर्थात् व्युत्पत्ति, और यत्न—अर्थात् अभ्यास—के द्वारा सेवन की हुई वाणी कुछ न कुछ अनुग्रह करती ही है। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि यद्यपि काव्य के उत्कृष्ट होने के लिये स्वाभाविक प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों आवश्यक हैं, पर यदि वैसी प्रतिभा न हो, तथापि यदि व्युत्पत्ति और अभ्यास का बल उत्पन्न किया जाय तो काव्य बनाया जा सकता है। सारांश यह है कि विशिष्ट प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास उत्कृष्ट काव्य के कारण हैं; पर साधारण प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास से भी काव्य बन सकता है।

इनके अंनतर रुद्रट एक शक्ति (प्रतिभा) को ही काव्य का कारण मानते हैं और उसका विवेचन करते हुए यों लिखते हैं—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य,
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥

अर्थात् जिसके होने पर अच्छी तरह एकाग्र किए हुए मन में अनेक प्रकार के अर्थों की स्फूर्त्ति होती है और अक्लिष्ट अर्थात् सरल और सुंदर पद सूझ पड़ते हैं उसका नाम शक्ति है। फिर वे आगे लिखते हैं कि

सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
उत्पाद्या तु कथञ्चिद् व्युत्पत्त्या जन्यते परया।

अर्थात् वह शक्ति दो प्रकार की होती है—एक सहज—अर्थात् स्वतः सिद्ध और दूसरी उत्पाद्य—अर्थात् उत्पन्न की जानेवाली। उनमें से सहज शक्ति तो ईश्वरदत्त अथवा अदृष्टजन्य होती है; अतः उसके विषय में तो कुछ कहना है नहीं; पर जो उत्पाद्य शक्ति है वह अत्यंत उत्कृष्ट व्युत्पत्ति से उत्पन्न की जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रतिभा दो तरह की है; जिनमें से एक का कारण अदृष्ट है और दूसरी का व्युत्पत्ति।

उनके बाद वामन ने भी काव्य का कारण केवल प्रतिभा को ही माना है। वे लिखते हैं कि "कवित्वबीजं प्रतिभानम्" और उसका विवरण यों करते हैं कि "कवित्वस्य बीजं संस्कारविशेषः कश्चित्; यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्"। अर्थात् कविता का कारण एक विशेष प्रकार का संस्कार है, जिसके बिना काव्य नहीं बन पाता अथवा यों कहिए कि बना हुआ भी हँसी का पात्र होता है उसे सुनकर लोग उसकी खिल्ली उड़ाते हैं।

अब आगे काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य हैं। वे कहते हैं—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

अर्थात् शक्ति (प्रतिभा) और लोकव्यवहार तथा शास्त्रों और काव्यादिकों के विमर्श से उत्पन्न हुई निपुणता—अर्थात् व्युत्पत्ति, एवं जो लोग उत्कृष्ट काव्य का बनाना और विचारना जानते हैं उनकी शिक्षा से अभ्यास; ये तीनों सम्मिलित रूप में काव्य के कारण हैं। सारांश यह है कि काव्य का कारण तीन वस्तुएँ हैं—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास।

इस श्लोक को हम यदि 'नैसर्गिकी च प्रतिभा······" इस

पूर्वोक्त दंडी के श्लोक का सुसंस्कृत अनुवाद कहें तो मर्मज्ञ विद्वानों को कुछ भी विप्रतिपत्ति न होगी। हाँ, इतना अवश्य है कि मम्मट ने अपनी व्याख्या में व्युत्पत्ति और अभ्यास का अच्छा विवेचन किया है, पर प्रतिभा की व्याख्या करते हुए उन्होंने जो शब्द लिखे हैं, वे तो ज्यों के त्यों वामन के कहे जा सकते हैं। सो इसे दंडी और वामन दोनो के अभिप्रायों का संकलन कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

वाग्भट लिखते हैं—

प्रतिभा कारणन्तस्य, व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्यादि कविसंकथा॥

अर्थात् प्रतिभा काव्य को उत्पन्न करती है, व्युत्पत्ति उसको सुशोभित बनाती है और अभ्यास उसकी उत्पत्ति को बढ़ाता है, इत्यादि कवि लोगों का कथन है। तात्पर्य यह कि काव्य का प्रतिभा उत्पादक, व्युत्पत्ति सौंदर्याधायक अर्थात् पोषक और अभ्यास-वर्धक कारण है।

इसी बात को पीयूषवर्ष ने दृष्टांत देकर स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं—

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसंबद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥

अर्थात् व्युत्पत्ति और अभ्यास सहित प्रतिभा कविता का कारण है; जिस तरह कि मिट्टी और जल से युक्त बीज की उत्पत्ति लता का। इसका तात्पर्य यह है कि जिस तरह लता का बीज उत्पादक, मिट्टी पोषक और जल वर्धक कारण है; उसी तरह प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के कारण हैं।

पंडितराज का कथन यह है कि कविता का साक्षात् कारण एक-मात्र प्रतिभा है; व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके साक्षात् कारण नहीं, किंतु परंपरा से हैं। अर्थात् व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के पोषक और वर्धक नहीं, किंतु प्रतिभा के पोषक और वर्धक हैं और उसको पुष्ट तथा विवर्धित करके काव्य को उपकृत करते हैं।

प्रतिभा क्या वस्तु है ?

अच्छा, अब इन सब विचारों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालिए। सबसे पहले यह सोचिए कि प्रतिभा है क्या पदार्थ ? वास्तव में प्रतिभा एक प्रकार की बुद्धि का नाम है। अतएव यह कहा जाता है—

बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

अर्थात् जिसमें नई-नई सूझ होती है उस बुद्धि को प्रतिभा माना जाता है।

अब यह देखिए कि साहित्य के प्राचीन आचार्यों ने प्रतिभा अथवा शक्ति का क्या अर्थ किया है ? दंडी तो इस विषय में कुछ विशेष लिखते नहीं; पर उनके दिए हुए प्रतिभा के विशेषणों से कुछ सिद्ध हो जाता है, जिसे हम आगे लिखेंगे। हाँ, रुद्रट ने 'शक्ति' की व्याख्या अवश्य की है, जो पहले लिखी जा चुकी है। उससे यही सिद्ध होता है कि वे एक प्रकार के संस्कार को शक्ति मानते हैं; क्योंकि उनके हिसाब से 'शक्ति' वह पदार्थ है, जो कविता के अनुकूल अर्थों और शब्दों की स्मृति का निमित्त है। इनके बाद वामन और मम्मट ने तो स्पष्ट शब्दों में एक प्रकार के संस्कार का नाम 'शक्ति' स्वीकार किया ही है।

अब देखिए, संस्कार क्या वस्तु है ? वास्तव में संस्कार एक प्रकार का स्वतंत्र गुण है, जिसे पूर्वजन्म के ज्ञान की वासना कह सकते हैं।

पर 'काव्यप्रदीप' के 'संस्कारविशेषः' शब्द की व्याख्या करते हुए नागेश ने 'उद्द्योत' में लिखा है कि शक्ति शब्द से यहाँ एक विशेष प्रकार का अदृष्ट (पूर्वजन्म के कर्मों का फल) लिया गया है। वे लिखते हैं कि "देवताराधनादिजन्यं विलक्षणादृष्टं 'शक्नोति काव्यनिर्माणाऽनये'ति योगाच्छक्तिरित्युच्यते।" अर्थात् व्याकरण की रीति से शक्ति शब्द का अर्थ 'जिसके द्वारा काव्य बनाया जा सकता है' तदनुसार देवता के आराधन आदि से उत्पन्न अदृष्ट को 'शक्ति' कहा जाता है। पर दंडी और रुद्रट जिसे प्रतिभा और शक्ति कहते हैं, उसका और नागेश की व्याख्या का परस्पर कुछ भी मेल नहीं मिलता। देखिए, दंडी ने अपने पद्यों में प्रतिभा को दो विशेषण दिए हैं, जिनसे उनका अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है कि वे किसे प्रतिभा मानते हैं। उनका एक विशेषण है 'नैसर्गिकी' और दूसरा है, 'पूर्ववासनागुणानुबंधि'; जिनका अर्थ हम पहले कर आए हैं। अब सोचिए कि नागेश के कथनानुसार यदि 'संस्कार-विशेष' का अर्थ अदृष्ट माने तो उसे 'स्वाभाविक' विशेषण देना व्यर्थ है; क्योंकि अदृष्ट तो पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न होता है, फिर वह स्वाभाविक कैसा ? दूसरे, उनका 'पूर्ववासनागुणानुबंधि' विशेषण भी घटित नहीं हो सकता; क्योंकि अदृष्ट तो पूर्व कर्मों के फल का नाम है, सो वह पूर्वजन्म के संस्कार से उत्पन्न गुणों का अनुगामी नहीं, किंतु जनक हो सकता है। इस कारण; इनके हिसाब से तो 'प्रतिभा' का अर्थ एक प्रकार की बुद्धि ही हो सकता है, न किसी प्रकार का संस्कार और न अदृष्ट।

अब रुद्रट की तरफ चलिए। वे प्रतिभा को सहज और उत्पाद्य दो तरह की मानते हैं, और उत्पाद्य प्रतिभा को व्युत्पत्ति के द्वारा उत्पन्न होनेवाली मानते हैं। क्या आप कह सकते हैं कि व्युत्पत्ति से भी कोई अदृष्ट उत्पन्न होता है और वही प्रतिभा है ? यदि नहीं तो बात दूसरी ही है। हमारी समझ में तो वामन और मम्मट के 'संस्कारविशेष'

शब्द का अर्थ पूर्वजन्मीय वासना मानना ही उचित है। ऐसी स्थिति में दंडी भी तो इनके सर्वथा अनुकूल नहीं; क्योंकि वे प्रतिभा को 'वासना' नहीं, किंतु 'वासनागुणानुबंधि' मानते हैं। रहे रुद्रट, सो उनकी इनकी भी राय एक नहीं हो सकती; क्योंकि वे तो उसे इस जन्म में भी व्युत्पत्ति के द्वारा उत्पन्न हो सकनेवाली मानते हैं, केवल सहज ही नहीं। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों का मत मिलता नहीं है।

यह तो हुआ इन लोगों का आपस का मतभेद। अब आप यह सोचिए कि वास्तव में काव्य बनाने में कवि को क्या करना पड़ता है ? इसका उत्तर यही होगा कि सुंदर पदों की योजना तथा सुन्दर अर्थों की कल्पना। अब आप थोड़ा सा विचार करते ही समझ सकते हैं कि यह काम बुद्धि से होता है। न तो वह हमारी भोग्य वस्तुओं की तरह हमें अदृष्ट के द्वारा सिद्धरूप में प्राप्त होता है और न संस्कार से ही बन सकता है। तात्पर्य यह कि यह काम बिना बुद्धि के नहीं हो सकता। अदृष्ट और संस्कार यदि कारण हो सकते हैं, तो हमारी बुद्धि को वैसी तीव्र बनाने के कारण हो सकते हैं, स्वतंत्रतया काव्य के कारण नहीं हो सकते। तब यदि प्रतिभा को काव्य का कारण मानना है, तो उसके सुप्रसिद्ध अर्थ 'नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि' को ही 'प्रतिभा' शब्दका अर्थ स्वीकार करना पड़ेगा, संस्कार अथवा अदृष्ट को नहीं।

इस संबंध में पंडितराज कितना अच्छा कह रहे हैं। वे कहते हैं कि काव्य बनाने के अनुकूल शब्दों और अर्थों की उपस्थिति (याद आ जाने) का नाम प्रतिभा है, जो आपकी वही 'नवनवोन्मषशालिनी बुद्धि' हुई। और यह भी कहते हैं कि उसको वैसी बनाने का कारण कहीं अदृष्ट होता है और कहीं व्युत्पत्ति और अभ्यास, जो अनुभव-सिद्ध है। अब इस विषय का शेष विवरण आप अनुवाद और उसकी टिप्पणी में देख सकते हैं।

काव्यों के भेद

इसके आगे प्रस्तुत पुस्तक में काव्यों के भेदों का वर्णन है; पर उनके विषय में हमें विशेष नहीं लिखना है; क्योंकि इस विषय में अधिक मतभेद नहीं है। जहाँ तक हमारा ज्ञान है—इस विषय का विशेषरूपेण विवेचन 'ध्वन्यालोक' के तात्पर्यानुसार काव्यप्रकाशकार ने ही किया है। उन्होंने काव्यों के तीन भेद माने हैं; ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य और चित्र; जिन्हें उत्तम, मध्यम और अधम भी कहा जाता है। पर साहित्यदर्पणकार ने इनमें से पहले दो भेदों को ही काव्य माना है; वे 'चित्रकाव्य' को काव्य मानना नहीं चाहते। इसका कारण यही है कि वे रस आदि के अतिरिक्त गुणों और अलंकारों को सौंदर्य का कारण नहीं मानते; जैसा कि हम 'काव्यलक्षण' के विवेचन में दिखा आए हैं। पर यह बात ठीक नहीं; क्योंकि लक्ष्य के अनुसार लक्षण हुआ करते हैं, लक्षण के अनुसार लक्ष्य नहीं। जब कि सारा संसार आज दिन तक केवल गुणों और अलंकारों से युक्त वर्णन को भी काव्य मानता चला आया है और आज भी वही परिपाटी प्रचलित है, तब आप उन्हें काव्यभेदों में से कैसे निकाल सकते हैं? हाँ, यह हो सकता है कि आप उन्हें अधम अथवा उससे भी नीचे दरजे का मान लें।

'चित्रमीमांसाकार' ने 'काव्यप्रकाश' के भेदों को ही लिखा है, उनमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं की है।

इनके बाद पंडितराज ने इस विषय पर कलम उठाई है। उन्होंने काव्यप्रकाशकार के भेदों में एक भेद और बढ़ाकर उन्हें चार कर दिया है, जिसे आप अनुवाद में देख लेंगे। हाँ, इतना कह देना आवश्यक है कि पंडितराज ने जो एक भेद बढ़ाया है, वह मार्मिक है; काव्यों के भेदों को समझनेवाले उसका किसी तरह निषेध नहीं कर सकते। दूसरे, काव्यप्रकाशकार की अपेक्षा उन्होंने उसे विशद

भी अच्छ किया है और अप्पयदीक्षित के साथ शास्त्रार्थ करके ध्वनि का मर्म समझने की शैली भी स्पष्ट कर दी है।

रस

अब रसों की ओर ध्यान दीजिए। यह इतना गंभीर विषय है कि इसपर आज तक अनेक विद्वानों ने विचार किया है और आगे भी न जाने कहाँ तक होता रहेगा। परंतु हम प्रस्तुत विषय की ओर चलने के पहले आपसे नाटकों (दृश्य[1] काव्यों) की उत्पत्ति के विषय में कुछ कहना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि रस का अनुभव, श्रव्य-काव्यों की अपेक्षा, दृश्य-काव्यों में ही स्पष्ट रूप से होता है। अतएव आज दिन तक उन्हीं को लेकर इस विषय का विवेचन किया गया है।

जब किसी भी प्राणी को इष्ट (जिसे वह चाहता है उस) की प्राप्ति और अनिष्ट (जिसे वह नहीं चाहता उस) की निवृत्ति होती है तो उसके अंगों में अपने-आप ही एक प्रकार की स्फूर्त्ति उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् प्रकृति का नियम है कि आनंदित प्राणी के अंग-उपांग विचलित हो उठते हैं। जो प्राणी गंभीर होते हैं उनमें, वह स्फूर्ति केवल मुख-विकास नेत्र-विकास आदि ही करके रह जाती है। पर, जो इतने गंभीर नहीं होते, वे ऐसी घटनाओं के होते ही एकदम उछल पड़ते हैं, और उनका वह आनंद इस तरह सब पर प्रकट हो

१—काव्य की पुस्तकें दो विभागों में विभक्त हैं—एक दृश्य और दूसरे श्रव्य। दृश्य-काव्य उन्हें कहते हैं, जिनमें वर्णित चरित्रों का अभिनय किया जाता है—जैसे शाकुन्तल आदि और श्रव्य-काव्य उनका नाम है, जिनका अभिनय नहीं होता, किन्तु लोग उन्हें सुनकर ही आनन्द उठा लेते हैं—जैसे रघुवंश आदि।

जाता है। परिणाम यह होता है कि वह आनन्द उस व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहता, किंतु जो लोग उसके सुहृत्, संबंधी अथवा हितैषी होते हैं, जिनमें ईर्ष्या-द्वेष की प्रवृत्ति उस आनंद के अनुभव का प्रतिबंध नहीं करती, वे भी आनंदित हो उठते हैं, और उससे सहानुभूति प्रकट करने लगते हैं। बच्चों में यह बात बहुत स्पष्ट रूप से देख पड़ती है। यही उछल-कूद नाट्य की आदि-जननी है। शुरू-शुरू में इष्टप्राप्ति अथवा अनिष्टनिवृत्ति के समय उसका प्राप्त करनेवाला और उससे सहानुभूति रखनेवाले लोग इसी तरह उछल-कूद किया करते थे।

पर प्रकृति का एक नियम और है। मनुष्य को वास्तविक वस्तुओं के देखने में जो आनंद प्राप्त होता है, उससे कहीं अधिक उसका अनुकरण देखने में प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये कल्पना कीजिए कि एक सिटल्लू बनिया आप का पड़ोसी है, जिसे आप सदा देखा करते हैं, और उसकी चाल-ढाल आदि को देखकर आप को कुछ कौतुक भी हुआ करता है; पर उसके देखने में आपको वह आनंद नहीं आ सकता, जिसे कि एक भाँड अथवा बहुरूपिया उन्हीं सेठजी की नकल दिखलाकर अनुभूत करा सकता है।

इसके बाद एक बात और भी है। वह यह कि वास्तविक एवं वर्त्तमान व्यक्ति के हर्षादि के अनुकरण में हमें सहानुभूति भी नहीं हो सकती, क्योंकि उसके वर्त्तमान होने से हमारा उसके साथ किसी-न-किसी प्रकार का राग-द्वेषमूलक संबंध हो जाता है; इसलिये उस अनुकरण को देखकर राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ जग उठती हैं, और वे सहानुभूति में, और कभी कभी तो अभिनय में हो, बाधक हो जाती हैं, और विना सहानुभूति के आनन्द की अभिव्यक्ति होती नहीं। इस कारण, यदि किसी प्राचीन अथवा कल्पित घटना का अनुकरण किया जाय तो उस घटना से संबद्ध व्यक्तियों के साथ हमारा आधुनिक संबंध

न होने के कारण हमें अभिनय के द्वारा उद्बोधित आनंद का यथार्थ अनुभव हो सकता है; क्योंकि वहाँ बाधक प्रवृत्तियाँ नहीं रहतीं। अतएव अंततोगत्वा मनुष्यों के मनोरंजन के लिये इस तरह के अनुकरणमूलक अभिनय होने लगे।

इन अभिनयों के लिये कवि प्राचीन अथवा कल्पित घटनाओं को पद्यादिबद्ध कर देते थे, जिससे वे और भी अधिक रोचक हो जायँ, जैसे कि आज कल भी कई-एक ग्राम्य खेलों में होता है। इन्हीं अभिनयों का विकसित रूप हैं आपके दृश्य-काव्य और आधुनिक नाटक-ड्रामा आदि। बस, दृश्य-काव्यों की बात हम इतनी ही करेंगे; क्योंकि हमारे इस प्रकरण से इसका इतना ही संबंध है।

१—प्रारंभ ही प्रारंभ में लोग जब इन अभिनयों को देखने लगे तब उन्हें अनुभव हुआ कि इनमें कुछ आनद अवश्य है। साथ ही उनमें से जो लोग बुद्धिमान् और तर्कशील थे, उन्होंने सोचना शुरू किया कि नाट्य की वस्तुओं में से यह आनंद किस वस्तु में रहता है। फिर क्या था, उसकी खोज प्रारंभ हुई। वही वस्तु साहित्य की परिभाषा में 'रस्यतेऽसौ रसः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा 'रस' कही[१] जाती है।

सोचते-सोचते पहले-पहल वे लोग स्थूल विचार के द्वारा इस परिणाम पर पहुँचे कि जिससे हम प्रेम आदि करते हैं, वह प्रेम आदि का आलंबन अर्थात् प्रेमपात्र, नट को अभिनय करते देखकर, हमारे ध्यान में आ जाता है और उसका बार-बार अनुसंधान करने से हमें आनंद का अनुभव होता है; अतः वह प्रेम आदि का आलंबन—वह विभाव ही रस है। वे कहने लगे कि—"भाव्यमानो विभाव

१—इस बात के समझने के लिए 'नाट्यशास्त्र' का छठा अध्याय देखिए।

एव रसः"। अर्थात् बार-बार अनुसंधान किया हुआ प्रेम-आदि का आलंबन ही रस है। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में नौवाँ है।

२—पर, पीछे से लोगों को इस बात के मानने में विप्रतिपत्ति हुई। उन्होंने सोचा कि यदि प्रेम आदि का आलंबन ही रसरूप हो तो जब वह प्रेम-आदि के प्रतिकूल चेष्टा करे, अथवा प्रेम आदि के अनुकूल चेष्टाओं से रहित हो, तब भी उसे देखकर हमें आनंद आना चाहिए; क्योंकि आलंबन तो तब भी वही था और अब भी वही है, उसमें कुछ फेर-फार तो हुआ नहीं। पर ऐसा होता नहीं। इस बात को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर लीजिए। कल्पना कीजिये कि एक नट ने पहले दिन सीता अथवा शकुंतला का पार्ट लिया था और उसे देखकर—उसे अपने प्रेम का आलंबन मानकर—सहस्रों सामाजिक (दर्शक) मुग्ध हो गए थे। उसी नट को, यदि कोई, दूसरे दिन, उन वेष-भूषाओं और चेष्टाओं से रहित देखे, तो क्या तब भी वह उसी आनन्द को प्राप्त कर सकेगा? कभी नहीं। बस, तो यही समझकर लोगों के विचारों में परिवर्तन हुआ और उन्होंने सोचा कि दृश्य काव्यों में प्रेम आदि का आलंबन रस नहीं, किंतु बार-बार अनुसंधान की हुई उसकी चेष्टाएँ और शारीरिक स्थितियाँ, जिन्हें अनुभाव कहा जाता है, रस हैं। वे कहने लगे कि "अनुभाव-स्तथा"। अर्थात् बार-बार अनुसंधान की हुई विभाव की चेष्टाएँ और शारीरिक स्थितियाँ रस हैं। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में दसवाँ है।

३—इसके बाद लोग कुछ और आगे बढ़े। उनका ध्यान प्रेम-पात्र की चित्तवृत्तियों की तरफ गया। उन्होंने सोचा कि कोई भी नट या नटी हजार लटका करे; पर यदि वह उस पात्र के अंतःकरण के भावों को दर्शकों के सामने यथार्थ रूप में प्रकट न कर सके तो कुछ भी मजा नहीं आता। अतः यह मानना चाहिए कि न विभाव रस है, न अनुभाव, किंतु प्रेम आदि के आलंबन अथवा आश्रय की जो

चित्तवृत्तियाँ हैं, जिन्हें व्यभिचारी भाव कहा जाता है, वे बार-बार अनुसंधान करने पर रसरूप बनती हैं। वे कहने लगे कि "व्यभिचार्येव तथा-तथा परिणमति"। अर्थात् प्रेम आदि के आलंबन तथा आश्रय की चित्तवृत्तियाँ ही उस-उस रस के रूप में परिणत होती हैं। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में ग्यारहवाँ है।

४—इसके अनंतर उनमें से बहुतेरे लोगों ने पूर्वोक्त मतों की आलोचना आरंभ की। उन्होंने सोचना शुरू किया कि इन तीनों मतों में से कौन ठीक है। अनेक नाट्यों के देखने से उन्हें अनुभव हुआ कि किसी नाट्य में सुंदर और सुसज्जित पात्र, किसी में उनके नयन-विमोहक अभिनय तथा किसी में मनोभावों का मनोहर विश्लेषण मनुष्य को मुग्ध करता है और किसी में ये तीनों ही रद्दी होते हैं और कुछ मज़ा नहीं आता। तब उन्होंने यह निश्चय किया कि इन तीनों में से जहाँ जो चमत्कारी हो, जो कोई दर्शक के चित्त को आह्लादित कर सके, वहाँ उसे रस कहना चाहिए, और यदि चमत्कारी न हो तो तीनों में किसी को भी रस कहना उचित नहीं। वे कहने लगे—"त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः, अन्यथा तु त्रयोऽपि न"। अर्थात् तीनों में से जो कोई चमत्कारी हो, वही रस है, और यदि चमत्कारी न हों तो तीनों ही रस नहीं कहला सकते। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में आठवाँ है।[१]

१—पंडितराज इस मत के अनुसार भी भरत सूत्र (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः) की व्याख्या करते हैं। यदि यह मत भरत-सूत्रों के बनाने के अनंतर चला हो तो मानना पड़ेगा कि इस समय जो 'नाट्यशास्त्र' प्राप्त होता है वह भरत का बनाया हुआ नहीं है; क्योंकि उसमें स्थायी भावों को रसस्वरूप मानने का विस्तृत विवरण है और विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव इन तीनों में से किसी

५—अब आगे चलिए। आगे यह बात हुई कि रस का अन्वेषण करते करते जब लोगों की दृष्टि मनो-भावों की तरफ गई तो उनका भी विवेचन होने लगा। विवेचन करने पर विदित हुआ कि उन भावों में से ८ अथवा ६ भाव ऐसे हैं कि जो नाट्य भर में प्रतीत होते रहते हैं; जैसे शृङ्गार के अभिनय में प्रेम, करुण के अभिनय में शोक इत्यादि। और शेष ऐसे विदित हुए कि जो कभी प्रतीत होते थे और और कभी नहीं; जैसे हर्ष, स्मृति, लज्जा-आदि। जो भाव नाट्य भर में प्रतीत होते रहते थे, उन्हें लोग स्थायी कहने लगे; क्योंकि वे स्थिर थे और, जो कभी-कभी प्रतीत होते थे, उन्हें व्यभिचारी अथवा संचारी कहा जाने लगा; क्योंकि वे व्यभिचरित होते रहते थे अर्थात् कभी प्रेम के साथ रहते थे तो कभी शोक आदि के साथ। जब स्थायी भावों का ज्ञान हो गया तब उन्होंने पूर्वानुभूत रस को उन्हीं के अनुसार नौ भेदों में विभक्त कर दिया, जिनका सविस्तर वर्णन प्रस्तुत पुस्तक में है।

जब यह विभाग हो गया, तब लोगों को पूर्वोक्त चारों मतों की निस्सारता प्रतीत हुई। उनको ज्ञात हुआ कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन तीनों में से किसी एक को (फिर वह चमत्कारी हो अथवा अचमत्कारी) रसरूप मानना सर्वथा भ्रम है। इसका कारण यह था कि जिस तरह व्याघ्र आदि प्राणी भयानक रस के विभाव होते हैं, वैसे ही वीर, अद्भुत और रौद्र रस के भी हो सकते हैं; क्योंकि वे जिस प्रकार भय के आलंबन होते हैं, उसी प्रकार

एक को रस मानने का तो कहीं नाम भी नहीं है। और यदि यही नाट्यशास्त्र भरत-निर्मित है तो कहना पड़ेगा कि यह व्याख्या कल्पित है। पर, इस झगड़े को ऐतिहासिकों पर छोड़ देने के सिवाय, इस समय, हमारे पास और कोई उपाय नहीं है।

उत्साह, आश्चर्य और क्रोध के भी आलंबन हो सकते हैं। इसी प्रकार अश्रुपात आदि भी जैसे शृङ्गार-रस के अनुभाव होते हैं, वैसे ही करुण और भयानक रस के भी हो सकते हैं; क्योंकि ये जिस तरह प्रेम के कारण उत्पन्न होते हैं, उसी तरह शोक और भय के कारण भी उत्पन्न हो सकते हैं। व्यभिचारी भावों की भी यही दशा है; क्योंकि चिंता आदि चित्तवृत्तियाँ जिस तरह शृङ्गार-रस के स्थायी भाव प्रेम को पुष्ट करती हैं, उसी तरह वीर, करुण और भयानक रसों में यथावसर उत्साह, शोक और भय को भी पुष्ट कर सकती हैं। अब यदि इन तीनों में किसी एक को रस माना जाय, तो जो प्रेम आदि एक ही चित्तवृत्ति की प्रत्येक नाट्य के पूरे भाग में स्थिर रूप से प्रतीत होती है, वह न बन सके। अतः वे लोग यह मानने लगे—"विभावादयस्त्रयः समुदिता रसाः"। अर्थात् विभावादिक तीनों इकट्ठे रसरूप हैं, उनमें से कोई एक नहीं। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में सातवाँ है।

६—स्थायी भावों का ज्ञान हो जाने और उसके अनुसार रस का विभाग स्थिर हो जाने के अनंतर विद्वानों ने उस पर फिर विचार किया और उन्हें पूर्वोक्त मत भी न जँचा। उनको विदित हुआ कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव तीनों ही पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित—किसी भी रूप में—रस नहीं हो सकते, क्योंकि जिस वस्तु का हम आस्वादन करते हैं, जिससे हमें यह आनंद प्राप्त होता है, वह ये नहीं, किंतु वही पूर्वोक्त चित्तवृत्ति है, जो भिन्न-भिन्न नाट्यों में भिन्न भिन्न रूपों में स्थिरतया प्रतीत होती रहती है। अर्थात् यह निर्णीत हुआ कि प्रेम आदि स्थायी भावों का नाम रस है। साथ ही यह भी विदित हुआ कि विभाव उस चित्तवृत्ति को उत्पन्न करते हैं, अनुभाव उसके द्वारा उत्पन्न होते हैं और व्यभिचारी भाव उसके साथ रहकर उसे पुष्ट करते हैं। इसलिये यह सिद्ध हो गया कि इन सब में स्थायी भाव ही प्रधान हैं; क्योंकि ये सब उसके उपकरणभूत हैं; और इन

तीनों के संयोग से वह रसरूप बनकर हमें आनंदित करता है। अर्थात् नाट्यादिक में हम इन तीनों से संयुक्त, परंतु इन सब से प्रधान[1], उसी चित्तवृत्ति का आस्वादन करते हैं।

इसी विमर्श को नाट्य-शास्त्र के परमाचार्य महामुनि भरत ने लिखा है। उन्होंने पूर्वोक्त सिद्धान्त को अपने नाट्य-शास्त्र में अच्छी तरह स्थिर कर दिया, और

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

यह सूत्र बनाया। यह सूत्र आज दिन तक प्रमाण माना जाता है और अनंतरभावी आचार्यों ने इसी सूत्र पर अपने विचार प्रकट किए हैं। इस सूत्र का अर्थ यों है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग—अर्थात् मिश्रण—से स्थायी भाव रसरूप बनते हैं। यद्यपि इस सूत्र की अनेक व्याख्याएँ हुई हैं, तथापि हमारी अल्प बुद्धि के अनुसार यह प्रतीत होता है कि भरत मुनि ने इस सूत्र को पूर्वोक्त अर्थ में ही लिखा है; क्योंकि नाट्यशास्त्र में इस सूत्र की जो व्याख्या[2] लिखी गई है, उससे यही बात सिद्ध होती है।

१—यथा नाराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह।

नाट्यशास्त्र, अ० ६

२—"को दृष्टांतः? अत्राह—यथा नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।" इसका तात्पर्य यह है कि जिस तरह गुड़ वगैरह वस्तुओं, मसालों और धनिया-पोदीना वगैरह से चटनी वगैरह तैयार की जाती है, उसी तरह अनेक भावों से मिश्रित भी स्थायी भाव ही रस बनते हैं।

भरत मुनि ने इस बात को दृष्टांत देकर स्पष्ट करने के लिये जो दो श्लोक लिखे हैं उन्हें हम यहाँ उद्धृत करते हैं; क्योंकि इनसे उनके विचार विशदरूपेण विदित हो जाते हैं। वे ये हैं—

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यंजनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥
भावाभिनयसंबद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥

अर्थात् जिस तरह भात के रसज्ञ पुरुष अनेक पदार्थों से मिश्रित दाल शाक आदि अनेक व्यञ्जनों से युक्त भात को खाते हुए भात का आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार विद्वान् लोग भावों और अभिनयों से संबद्ध स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं; अतः (स्थायी भावों को) नाट्य के 'रस' कहा जाता है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि विभावादिक रसरूप नहीं, किंतु इनसे परिष्कृत स्थायीभाव रसरूप होते हैं[1]।

१—यद्यपि इसके आगे हमें अग्निपुराण का रस-विवेचन लिखना चाहिए था, क्योंकि भरत के अनंतर वही क्रमप्राप्त है: तथापि शुद्ध पुस्तक प्राप्त न होने के कारण हम उस पर विशेष विवेचन न कर सके। इस कारण, जो कुछ हमें उपलब्ध हुआ उस भाग को और उसके यथा-मति भावार्थ को हम टिप्पणी में दे रहे हैं। आशा है कि विद्वान् लोग इसका यथा-विधि उपयोग करेंगे। अग्निपुराण में लिखा है—

अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥

पूर्वोक्त भरत-सूत्र की सबसे पहली व्याख्या[1] आचार्य भट्ट-लोल्लट ने लिखी है जिसे मीमांसा के अनुसार माना जाता है। उन्होंने इस सूत्र

आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहङ्कार इति स्मृतः ।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम् ॥
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी ।
व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते ॥
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः ।
स्वस्वस्थायिविशेषोथ (त्थ) परिषो (पो) षस्वलक्षणा ॥
सत्त्वादिगुणसन्तानाज्जायन्ते परमात्मनः ।
रागाद् भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते ॥
वीरोऽवष्टम्भजः सङ्कोचभूर्बीभत्स इष्यते ।
शृंगाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः ॥
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद् बीभत्साद् भयानकः ।
शृङ्गारवीरकरुणरौद्रवीरभयानकाः ॥
बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो (?) रसाः ।
लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा ॥

अर्थात् जिसे वेदान्तों में अविनाशी, नित्य, अजन्मा, व्यापक, अद्वितीय, ज्ञानरूप, स्वतः प्रकाशमान अथवा तमोनिवर्तक और सर्वसमर्थ परब्रह्म कहा गया है उसमें स्वतःसिद्ध आनंद विद्यमान है। वह आनंद किसी समय प्रकट हो जाया करता है। और उस आनंद की वह अभिव्यक्ति चैतन्य, चमत्कार अथवा रस नाम से पुकारी जाती है। उसी (अनंदरूप परब्रह्म) का जो पहला विकार है उसे अहंकार माना जाता है। उस अहंकार से अभिमान अर्थात् ममता उत्पन्न होती है, जिसमें यह सारी त्रिलोकी समाप्त हो गई है। तात्पर्य यह कि त्रिलोकी में एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो किसी न किसी की ममता

की व्याख्या यों की है—'कामिनी-आदि आलंबन विभाव रति-आदि स्थायी भावों को उत्पन्न करते हैं, बाग-बगीचे आदि उद्दीपन विभाव उन्हें उद्दीप्त करते हैं, कटाक्ष और हाथों के लटके आदि अनुभाव उनको प्रतीत होने के योग्य बनाते हैं तथा उत्कंठा आदि व्यभिचारी भावें उन्हें

का पात्र न हो। उसी अभिमान—अथवा ममता—से रति अर्थात् प्रेम अथवा अनुराग उत्पन्न होता है। वही रति व्यभिचारी-आदि भावों की समनता से—अर्थात् समान रूप में उपस्थित व्यभिचारी आदि से—परिपुष्ट होकर शृंगार-रस कहलाती है। उसी के हास्यादिक अन्य भी अनेक भेद हैं। (वही रति सत्त्वादि गुणों के विस्तार से राग, तीक्ष्णता, गर्व और संकोच इन चार रूपों में परिणत होती है; उनमें से) राग से शृंगार की, तीक्ष्णता से रौद्र की, गर्व से वीर की और संकोच से बीभत्स की उत्पत्ति मानी जाती है। स्वभावतः ये चार ही रस हैं। पर, बाद में, शृंगार से हास, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति हुई। (और रति—अथवा अनुराग के अभाव रूप निर्वेद से शांत रस की उत्पत्ति हुई; अर्थात् रति-भाव से आठ रसों की और रति के अभाव से एक रस की उत्पत्ति हुई।) इस तरह रसों के शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ नाम हुए। जिस तरह किसी के पास लक्ष्मी—अर्थात् संपत्ति—हो, पर वह किसी भी काम में उसका त्याग—अर्थात् व्यय अथवा दान—न करता हो, तो वह शोभित नहीं होती—लोगों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता; ठीक वही दशा बिना रस की वाणी की होती है। अर्थात् नीरस वाणी कृपण के धन के समान निरुपयोगी और प्रभावशून्य होती है और उसका होना न होना समान है।

१—यहाँ से चार मतों के क्रम आदि काव्यप्रकाश तथा काव्यप्रदीप से लिए गए हैं।

पुष्ट करते हैं और तब वे रसरूप बन जाते हैं।' इसके अनंतर उन्होंने इस पर यों विमर्श किया है कि यह सब तो ठीक है; पर यह सोचिए कि वे रति-आदि स्थायी भाव, जिन्हें आप रसरूप मानते हैं, रहते किसमें हैं ? मान लीजिए कि आप एक ऐसे काव्य का अभिनय देख रहे हैं जिसमें दुष्यन्त और शकुंतला के प्रेम का वर्णन है। अब यह बताइए कि वह प्रेम काव्य में वर्णन किए हुए दुष्यंत से संबंध रखता है अथवा आप जिसका अभिनय प्रत्यक्ष देख रहे हैं उस नट से ? आपको विवश होकर यही कहना पड़ेगा कि दुष्यंत से; क्योंकि काव्य में वर्णित शकुंतला का प्रेम नट से तो हो नहीं सकता। पर यदि ऐसा मानें तो यह शंका उत्पन्न होती है कि, भला, उस दुष्यंत के प्रेम से सामाजिक (दर्शक) लोगो को कैसे आनंद मिल सकता है; क्योंकि दुष्यंत तो उनके सामने है नहीं, है तो नट। इसका समाधान वे यह करते हैं कि सामाजिक लोग नट को उसी रंग-ढंग का देखकर उस पर दुष्यंत का आरोप कर लेते हैं—अर्थात् उसे झूठे ही दुष्यंत समझ लेते हैं। बस, इसी कारण उन्हें आनंद प्राप्त होता है, दूसरा कुछ नहीं। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में पाँचवाँ है।

७—पर, इसी सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार आचार्य श्रीशंकुक को, जिनकी व्याख्या न्यायशास्त्र के अनुसार मानी जाती है, यह बात न जँची। उन्होंने कहा—आप जो यह कह रहे हैं कि "रस मुख्यतया दुष्यंत आदि में रहता है, और नट पर उसका आरोप कर लिया जाता है" सो ठीक नहीं। इसका कारण यह है कि खींच-खाँचकर नट पर रस का आरोप कर लेने पर भी दर्शक लोगों से तो उसका कुछ संबंध हुआ नहीं; फिर बतलाइए, उन्हें किस तरह आनंद आ सकता है ? यदि आप कहें कि उन्हें नट के ऊपर आरोपित रस का ज्ञान होता है— वे उसे जानते हैं; अतः उन्हें आनंद का अनुभव होता है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यदि जान लेने मात्र से ही आनंद प्राप्त होता हो

तो यदि कोई 'रस' शब्द बोले और हम उसका अर्थ समझ लें, तब भी हमें वही आनंद प्राप्त होना चाहिए; क्योंकि हमें शब्द के द्वारा रस का ज्ञान तो हो ही गया। पर यदि आप यह युक्ति बतलाएँ कि अनुभाव आदि के विज्ञान के बल से जो नट पर आरोप किया जाता है उससे आनन्दानुभाव होता है, केवल शब्दार्थज्ञान से नहीं; तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि चन्दनादि के लेप आदि से जो आनन्द आता है, उसमें हमें न अनुभाव की आवश्यकता होती है, न विभाव की। केवल स्पर्शेंद्रिय से, अथवा अन्य किसी इन्द्रिय से, ज्ञान होते ही आनन्द आने लगता है। दूसरे, इस बात में कोई प्रमाण भी नहीं है कि ऐसी कल्पना की जाय। रही भरत सूत्र की बात, सो वह दूसरी तरह भी लगाया जा सकता है।

सो श्री शंकुक ने इस सूत्रका तात्पर्य यों समझाया—"विभावादि के द्वारा नटमें अनुमान किया जानेवाला और जिस दुष्यंतादि का अनुकरण किया जा रहा है, उसमें रहनेवाला रति-आदि स्थायी भाव रस है।' अर्थात् मुख्यतया रस दुष्यन्तादि में ही रहता है; नट में उसका अनुमान मात्र कर लिया जाता है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने लिखा है कि जगत् में चार तरह के ज्ञान प्रसिद्ध हैं; सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशयज्ञान और सादृश्यज्ञान। राम के देखनेवाले को जो 'यह राम ही है' 'यही राम है' और 'यह राम है ही' ये तीनों ज्ञान होते हैं, वे **सम्यग्ज्ञान** कहलाते हैं। इनमें से पहले—अर्थात् 'यह राम ही है' इस ज्ञान में 'इसके राम न होने' का—अर्थात् 'यह राम नहीं है' इस ज्ञान का निवारण होता है; दूसरे—अर्थात् 'यही राम है' इस ज्ञान से 'इसके अतिरिक्त अन्य किसी के राम होने का—अर्थात् 'राम और कोई है' इस ज्ञान का—निवारण होता है; और तीसरे अर्थात् 'यह राम है

हीं' इस ज्ञान से 'सर्वथा राम न होने' का—अर्थात् 'यह राम है ही नहीं' इस ज्ञान का निवारण होता है। इन्हीं तीनों निवारणो को संस्कृत में क्रमशः अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद तथा अत्यंतायोगव्यवच्छेद कहते हैं।

मिथ्याज्ञान उसे कहते हैं, जिसमें पहले से 'यह राम है' ऐसा ज्ञान पड़ने पर भी पीछे से ज्ञान पड़े कि 'यह राम नहीं है'। 'यह राम है अथवा नहीं' इस परस्पर विरोधी ज्ञान को **संशयज्ञान** कहा जाता है; और 'यह राम के समान है' इस समानता के ज्ञान को **सादृश्यज्ञान** कहते हैं।

इन चारों ज्ञानों के अतिरिक्त एक और भी ज्ञान होता है, जो कि जगत् में प्रसिद्ध नहीं है; जैसे किसी घोड़े का चित्र देखकर 'यह घोड़ा है' ऐसा ज्ञान। बस, इसी ज्ञान के द्वारा सामाजिक लोग नट को दुष्यंत आदि समझ लेते हैं और फिर उन्हें सुंदर काव्य के अनुसंधान के बल से तथा शिक्षा और अभ्यास के द्वारा उत्पन्न की हुई नट की कार्यपटुता से, स्थायी भाव के कारण, कार्य और सहकारी, जिन्हें विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहा जाता है, कृत्रिम होनेपर भी स्वाभाविक प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् सामाजिकों को उनके बनावटीपनका बिलकुल खयाल नहीं रहता; और तब वे लोग नट में स्थायी भाव का अनुमान कर लेते हैं। बस, उस अनुमान का नाम ही रस का आस्वादन है; और वह आस्वादन सामाजिकों को होता है; अतः यह कहा जाता है कि रस सामाजिकों में रहता है।

पर, यहाँ एक शंका हो सकती है। वह यह कि किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष होने पर ही आनन्द होता है, अनुमान मात्र से नहीं; अन्यथा हम सुख का अनुमान करने पर भी सुखी क्यों नहीं हो जाते। इसका समाधान वे यों करते हैं कि रति-आदि स्थायी भावों में कुछ ऐसी सुंदरता है कि उसके बल से वे हमें अत्यन्त अभीष्ट अथवा परम

सुखरूप प्रतीत होते हैं; अतः यह मानना पड़ता है कि वे अन्यान्य अनुमेय पदार्थों से विलक्षण हैं, उनमें यह नियम नहीं लगता। तात्पर्य यह कि स्थायी भावों की सुन्दरता का सामाजिकों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे उनका अनुमान करने पर भी अनन्दित हो उठते हैं और नटको प्रत्यक्ष देखने पर भी यह निश्चय नहीं कर पाते कि यह दुष्यंत नहीं है।

८—भरत-सूत्र के तृतीय व्याख्याकार आचार्य भट्टनायक को, जिनकी व्याख्या सांख्य सिद्धान्त के अनुसार मानी जाती है, यह बात भी न जँची। उन्होंने कहा--श्रीशंकुक का यह कहना कि 'रस का अनुमान किया जाता है' उचित नहीं, क्योंकि संसार में जो यह बात प्रसिद्ध है कि प्रत्यक्ष ज्ञान से आनन्द प्राप्त होता है, अनुमानादि से नहीं; उसका तिरस्कार करके यह कल्पना करना कि रति-आदि की सुन्दरता के बल से अनुमान करने पर भी आनन्द प्राप्त हो जाता है' ठीक नहीं। यदि कहो कि सूत्र का अर्थ इसी तरह अनुकूल होता है तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि उसका अर्थ दूसरी तरह भी ठीक किया जा सकता है।

अतः यह मानना चाहिए कि काव्य की तीन क्रियाएँ हैं--अर्थात् वह तीन हरकतें पैदा करता है। उनमें से एक है अभिधा, जिसके द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है; दूसरी है भावना—अर्थात् उस अर्थ का अनुसन्धान, जिसके द्वारा काव्य में वर्णित नायक-नायिका आदि पात्रों की विशेषता निवृत्त हो जाती है और वे साधारण बनकर हमारे रसास्वादन के अनुकूल हो जाते हैं; और तीसरी है भोग—अर्थात् आत्मानन्द में विश्राम, जिसके द्वारा हम रस का अनुभव करते हैं, अथवा जो स्वयं ही रसरूप है। इस तरह काव्य की क्रियाओं से ही हमारा सब कार्य सिद्ध हो जाता है, न आरोप की आवश्यकता

रहती है, न अनुमान की। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में दूसरा है और इसका विशेष विवरण भी वहीं है।

९—पर, आचार्य अभिनव गुप्त ने, जो 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' नामक व्याख्या के निर्माता हैं, जिनका साहित्यशास्त्र के विद्वानों में बहुत ऊँचा स्थान है और जिन्हें इस सूत्र के चतुर्थ व्याख्याकार भी कहा जा सकता है, इस मत को भी पसन्द न किया। उन्होंने कहा—आपने जो 'भावना' और 'भोग' नामक दो क्रियाओं की कल्पना की है, उसमें कोई प्रमाण तो है नहीं, कोरी मनगढ़ंत है। फिर भला इसे कोई कैसे स्वीकार करेगा ?

अत: यों मानना चाहिए कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से अभिव्यक्त रति-आदि स्थायी भावों का नाम रस है'। प्रस्तुत पुस्तक में प्रथम मत के 'क' और 'ख' भागों में इसी सिद्धांत का, किंचिन्मात्र मतभेद से, सविस्तर प्रतिपादन किया गया है, सो आप इनका विशेष विवरण वहाँ देख लें। आज दिन तक रस के विषय में यही सिद्धांत प्रामाणिक माना जाता है और मम्मट भट्ट प्रभृति साहित्य-शास्त्र के महाविद्वान् इसे परम-आदरपूर्वक स्वीकार करते हैं।

अब रहा प्रथम मत का 'ग' भाग। उसमें पंडितराज ने यह सिद्ध किया है कि पूर्वोक्त 'क' और 'ख' मतों में रति आदि के साथ आत्मानंद तो आपको भी लगाना ही पड़ता है, उसके लगाए बिना तो छुटकारा नहीं; और यह भी सिद्ध ही है कि रस आनंद से शून्य नहीं है; तब जो श्रुतियों में आनंदमय आत्मा को रसरूप माना गया है, उसके अनुसार, आनंदसहित रति-आदि की अपेक्षा, रति-आदि से उपहित आनंद को ही रसरूप मानना उचित है और पंडितराज के हिसाब से यही वास्तविक मत है।

इसके अनंतर इस विषय में दो मत और उत्पन्न हुए हैं। उनमें से—

१०—नवीन विद्वानों का कथन है कि रस को आत्मानंदसहित तथा वासनारूप में विद्यमान स्थायी भावों के रूप में मानना ठीक नहीं; किंतु यों मानना चाहिए कि जब हमें काव्य सुनने अथवा नाट्य देखने से विभाव आदि का ज्ञान हो जाता है, तब हम व्यंजनावृत्ति के द्वारा, शकुंतला आदि के साथ दुष्यंत आदि के जो प्रेम आदि थे, उन्हें जान लेते हैं। उसके अनंतर सहृदयता के कारण हम उन सुने अथवा देखे हुए पदार्थों का बार-बार अनुसंधान करते हैं। वही बार बार अनुसंधान, जिसे भावना कहा जाता है, एक प्रकार का दोष है। उसके प्रभाव से हमारा अंतःकरण अज्ञान से आच्छादित हो जाता है और तब उस अज्ञानावृत अंतःकरण में, सीप में चाँदी की तरह, अनिर्वचनीय रति आदि स्थायी भाव उत्पन्न हो जाते हैं और उनका हमें आत्मचैतन्य के द्वारा अनुभव होता है। बस, उन्हीं रति-आदि का नाम रस है। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में तीसरा है।

और—

११—दूसरे विद्वानों का यह कहना है कि न तो दुष्यंत-आदि के रति-आदि को समझने के लिये व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता है और न अज्ञानावृत अंतःकरण में अनिर्वचनीय रति-आदि की कल्पना की, किंतु यों मानना चाहिए कि हम नट की अथवा काव्य-पाठक की चेष्टा आदि के द्वारा शकुंतला आदि के साथ जो दुष्यंत आदि का प्रेम था, उसका अनुमान कर लेते हैं, तब पूर्वोक्त भावनारूपी दोष से हम अपने-को दुष्यंत समझने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि हमारे अंतःकरण में ऐसा भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि हम शकुंतला आदि से जो व्यक्ति प्रेम-आदि रखता है उससे अभिन्न हैं। बस, इसी भ्रम का नाम रस

है। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में चौथा है। ये हैं रस के विषय में ११ मत।

अंतिम दो मतों की अमान्यता का कारण

पर, अंतिम दोनों मतों का बिलकुल प्रचार नहीं हुआ। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि एक तो सभी काव्य सुननेवालों अथवा नाटक देखनेवालों को रस का आस्वादन नहीं होता; अतः यह मानना ही पड़ता है कि जिनमें वासनारूप से रति आदि विद्यमान होते हैं, उन्हें ही रसानुभव होता है। अतएव लिखा गया है कि—

> सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
> निर्वासनास्तु रङ्गान्तःकाष्ठकुड्याश्मसंनिभाः॥

अर्थात् (नाटकादि देखने पर भी) जो सभ्य वासनायुक्त होते हैं, अर्थात् जिनमें वासनारूप रति-आदि भाव रहते हैं, उन्हें ही रस का आस्वादन होता है; और जिन लोगों में वह वासना नहीं होती, वे तो नाट्यशाला के अंतर्गत लकड़ी, दीवार और पत्थरों के समान हैं—यदि उन्हें कुछ मजा आवे तो इन्हें भी आ सकता है।

सो उन वासनारूप रति-आदि को छोड़कर अनिर्वचनीय रति आदि की कल्पना निरर्थक है। दूसरे, रस को सीप की चाँदी की तरह मानना सहृदयों के हृदय के विरुद्ध भी है; क्योंकि रस की प्रतीति बाधित नहीं है। अर्थात् उसकी प्रतीति होने के अनंतर हमें यह बोध नहीं होता कि अब तक जिन रति-आदि और आनंद की प्रतीति हो रही थी, वे कुछ हैं ही नहीं।

इसी तरह रस को भ्रमरूप मानना भी शास्त्र और अनुभव दोनों प्रमाणों से शून्य है; क्योंकि न तो अयथार्थ ज्ञान को किसी शास्त्र में ही आनंदरूप माना गया है और न अनुभव ही इस बात को स्वीकार

करता है। सहृदयों के अनुभव से तो यह सिद्ध है कि रस का आनंद के साथ अभेद संबंध मानो चाहे भेद संबंध, पर वह उससे रहित है नहीं।

उपसंहार

अब हम पूर्वोक्त मतों का सिंहावलोकन करते हुए इस विषय को समाप्त करते हैं।

१—लोगों ने प्रारम्भिक दृश्य-काव्यों का अभिनय देखकर सबसे प्रथम यह निश्चय किया कि इन अभिनयों के देखने मे हमें जो आनंद प्राप्त होता है वह रति-आदि भावों के आलंबन अर्थात् प्रेमपात्र आदि में, जो नट-आदि के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं, रहता है।

२—तदनंतर उन्होंने सोचा कि आलम्बन के हाव-भावों और चेष्टाओं में, जिन्हें नट-आदि प्रकाशित करते हैं, वह रहता है।

३—फिर उन्होंने समझा कि आलम्बन मनोवृत्तियों में, जो नट-आदि के अभिनय के द्वारा ज्ञात होती हैं, वह रहता है।

४—पीछे से विदित हुआ कि इन तीनों में से जो चमत्कारी होता है, उसमें वह रहता है।

५—बाद में पता लगा कि इकट्ठे तीनों में अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के समुदाय में, वह रहता है।

६—इसके अनंतर भरत मुनि, अथवा उनके पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने यह स्थिर कर दिया कि यह आनंद इन तीनों के अतिरिक्त, जिन्हें स्थायी भाव कहा जाता है, उन चित्तवृत्तियों में रहता है और उनका साथ होने पर ये (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव) भी आनंद देने लगते हैं।

तत्पश्चात् इस मत की व्याख्याएँ होने लगीं। व्याख्याकारों ने इस बात को मान लिया कि यह आनंद रति-आदि चित्तवृत्तियों में रहता है; पर अब यह खोज शुरू हुई और ये प्रश्न उपस्थित हुए कि वे चित्त-वृत्तियाँ किसकी हैं, काव्य में वर्णित नायक-नायिका आदि की अथवा सामाजिकों की? और यदि नायक-नायिका आदि की हैं तो नट को अभिनय करते देखकर सामाजिकों को उनसे कैसे आनंद मिलता है? फिर इन प्रश्नों के प्रत्युत्तरों की बारी आई और पहलेपहल पुरः-स्फूर्त्तिक दृष्टि से यह समझा गया कि ये चित्तवृत्तियाँ काव्य में वर्णित नायक-नायिका आदि की हैं। इस प्रकार पहले प्रश्न का तो प्रत्युत्तर हो गया। अब रहा दूसरा प्रश्न। उसका प्रत्युत्तर सबसे पहले इस सूत्र के प्रथम व्याख्याकार आचार्य भट्ट-लोल्लट ने यों दिया कि सामाजिक लोग उन चित्तवृत्तियों को नट पर आरोपित कर लेते हैं और उन आरोपित चित्तवृत्तियों के ज्ञान से सामाजिकों को आनंद प्राप्त होता है।

७—श्रीशंकुक ने इस मत का खंडन किया और कहा—सामाजिक लोग उन चित्तवृत्तियों का अनुमान कर लेते हैं, पर

८—भट्टनायक ने इन बातों को स्वीकार न किया; उन्होंने कहा—नहीं, तुम्हारा कहना ठीक नहीं। असली बात यह है कि किसी भी काव्य के सुनने अथवा उसका अभिनय देखने से तीन काम होते हैं—पहले उसका अर्थ समझ में आता है; तदनंतर उस अर्थ का चिंतन किया जाता है, जिसका हमारे ऊपर यह प्रभाव होता है कि हम उसमें सुनी और देखी हुई वस्तुओं के विषय में यह नहीं समझ पाते कि वे किसी दूसरे से संबंध रखती हैं अथवा हमारी ही हैं; और उसके बाद हमारे सत्त्वगुण की अधिकता से रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं और हम आत्मचैतन्य से प्रकाशित एवं साधारण रूप में उपस्थित रति-आदि भावों का अनुभव करते हैं। अर्थात् जिन रति-आदि भावों के अनुभव

से यह आनंद प्राप्त होता है, वे न नायक-नायिका आदि के होते हैं, न सामाजिकों के; वे तो बिलकुल साधारण होते हैं, उनके विषय में सामाजिकों को कुछ ज्ञान नहीं होता कि वे किसके हैं।

९—अभिनवगुप्त और मम्मट-भट्ट को यह बात भी न जँची। उन्होंने भट्टनायक का खंडन करते हुए कहा कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है। उससे अथवा यों कहिए कि विभावादिकों के आस्वादन के प्रभाव से ही, हमारे आत्मचैतन्य का आवरण—अज्ञान—दूर हो जाता है। तदनंतर यह होता है कि हमारे हृदय में, सांसारिक अनुभवों के कारण, वासनारूप से विद्यमान रति-आदि का उस आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाश होता है और उस आनंदरूप आत्मचैतन्यसहित उन रति-आदि भावों का यह आनदानुभव है। अर्थात् यह अनुभव साधारण रूप से हुए रति आदि का नहीं, किंतु आत्मानंदसहित और सामाजिकों के हृदय में वासनारूप से विद्यमान रति-आदि का है।

पर, पंडितराज को यह बात भी पसंद न आई। उन्होंने कहा कि और सब बात आपकी ठीक है; पर जब आपने यह स्वीकार कर लिया है कि इस अनुभव में रति-आदि का और आत्मानंद का साथ है, तब उस आनंद को गौण और रति आदि को प्रधान मानना उचित नहीं। अतः यह मानना चाहिए, जो श्रुति-सिद्ध भी है, कि यह आनंद आत्मरूप ही है। हाँ, इतना अवश्य है कि यह आनंद रति-आदि से परिच्छिन्न होकर प्रतीत होता है, समाधि की तरह अपरिच्छिन्न रूप में नहीं।

इसके अनंतर जो दो मत उत्पन्न हुए हैं; उनमें से एक में—

१०—इस आनंद को आत्मचैतन्य से प्रकाशित और भ्रांति से उत्पन्न रति-आदि का माना गया है। और दूसरे में—

११—केवल भ्रमरूप।

गुण

भरत और भामह

अब इसके आगे प्रस्तुत पुस्तक में विवेचनीय विषय हैं गुण। गुणों के विषय में प्रधानतया दो मत हैं—एक प्राचीनों का और दूसरा नवीनों का। प्राचीनों ने श्लेष[1], प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कांति ये दश गुण माने हैं। इनके आविष्कारक भरत अथवा उनके पूर्ववर्ती कोई आचार्य हैं। पर भामह[2] ने अपने ग्रंथ में इनमें से केवल तीन ही गुणों के नाम लिखे हैं और आगे जाकर काव्यप्रकाशकारादिकों ने प्राचीनों के सब गुणों का इन्हीं में समावेश कर दिया है; वे हैं माधुर्य, ओज और प्रसाद। सो इस सबका सारांश यह हुआ कि दशगुणवाद के आविष्कारक हैं भरत और त्रिगुणवाद के हैं भामह।

प्राचीनों के मतभेद

यद्यपि प्राचीनों को दशगुणवादी कहा जाता है, तथापि उनमें परस्पर बड़ा मतभेद है। सच पूछिए तो काव्यप्रकाशकार के पहले इस

१—श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥

—नाट्य-शास्त्र।

पर हमने जो क्रम लिखा है वह दण्डी का है और इस क्रम को छोड़कर उस क्रम के ग्रहण करने का कारण यह है कि रसगंगाधर में वही क्रम लिया गया है।

२—'माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः। समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते। केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।' (भामह का 'काव्यालङ्कार')

विषय में अराजकता ही रही है और जिसकी जैसी इच्छा हुई, उसने उसी प्रकार के लक्षण बनाकर उतने ही गुण मान लिए हैं। उस अराजकता के समय का भी कुछ दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।

गुणों के विषय में प्राचीनों के पाँच मत विशेषतः प्रसिद्ध हैं और उनके प्रवर्त्तक क्रमशः भरत, अग्निपुराण, दंडी, वामन और भोज हैं। उनमें से भरत के गुण हम गिना चुके हैं।

अग्निपुराण ने श्लेष[1], लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदाहरता, सती (?) और यौगिकी (?) इस तरह सात शब्दगुण; माधुर्य[2], संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि और सामयिकत्व इस तरह छः अर्थगुण; और प्रसाद,[3] सौभाग्य, यथासंख्य, उदारता, पाक और राग इस तरह छः उभयगुण—अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों के गुण यों सब मिलाकर उन्नीस गुण गिनाए हैं। पर इनमें से कुछ भरतादि के गुणों में समाविष्ट, कुछ अप्रचलित और शुद्ध पुस्तक की अप्राप्ति के कारण अस्पष्ट से हैं; अतः उन्हें प्रपंचित करके हम इस भूमिका का आकार बढ़ाना नहीं चाहते।

दंडी ने नाम और संख्या तो भरत की ही रखी है; पर उनके क्रम और लक्षणों में बहुत कुछ फेर-फार कर दिया है। पर उनमें से

१—'श्लेषो लालित्यगाम्भीर्ये सौकुमार्यमुदारता। सत्येव (?) यौगिकी (?) चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा।

२—माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता। प्रौढिः सामयिकत्वं च तद्भेदाः षट् चकासति।

३—तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यमुदारता। पाको राग इति प्राज्ञैः षट् (प्र) पञ्च (?ः) प्रपञ्चिताः।

भी कुछ अप्रचलित और अधिकांश वामन के गुणों में समाविष्ट हो जाते हैं; अतः उनका विस्तार भी निरर्थक है।

वामन ने इन गुणों का बहुत ही विशद विवेचन किया है और काव्यप्रकाशकार-आदि ने उसे ही प्राचीनों का मत माना है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि भरत और दंडी के लक्षित गुणों का उनमें सर्वांश में संग्रह हो जाता है; पर इसमें संदेह नहीं कि अधिकांश में वे उनमें समाविष्ट हो जाते हैं। रसगंगाधर में जो अत्यंत प्राचीनों के दस शब्दगुण और दस अर्थगुण लिखे हैं, वे वामन के मत से ही संगृहीत किए गए हैं। सो उनके लक्षणों और उदाहरणों को आप देख ही लेंगे।

अब रहे भोजराज[1]। उन्होंने वामन के दस शब्दगुणों के अतिरिक्त उदात्तता, ऊर्जितता, प्रेयान्, सुशब्दता, सूक्ष्मता, गंभीरता, विस्तर, संक्षेप, संमितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि इस तरह चौदह अन्य गुण मानकर इनकी संख्या चौबीस कर दी है। पर इन सब का समावेश प्रायः वामन के गुणों में हो जाता है; अतः इसे आप केवल नाम-भेद सा ही समझिए।

१—श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता॥
ओजस्तथाऽन्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता।
तद्वत् समाधिः सौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमथ विस्तरः॥
संक्षेपः संमितत्वं च भाविकत्वं गतिस्तथा।
रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिः..............॥

—सरस्वतीकंठाभरण।

इन सबके अनतर वाग्भट ने दंडी के, और पीयूषवर्ष ने भरत के, मत का पुनः स्पर्श किया है। उनमें से वाग्भट ने तो प्रायः दंडी के गुणों का अनुवाद कर दिया है, सो उसे तो अतिरिक्त मत कहा ही नहीं जा सकता। हाँ, पीयूषवर्ष ने भरत के दस गुणों में से कांति को शृंगार रस में और अर्थव्यक्ति को प्रसाद-गुण में समाविष्ट करके उन्हें आठ ही रख लिया है और एकाध गुण के लक्षण में भेद भी कर दिया है; पर कोई नई बात उसमें भी नहीं है।

इस सबका तात्पर्य यह हुआ कि भरत ने दस गुण माने, अग्निपुराण ने उन्नीस, भामह ने तीन, दंडी ने पुनः दस, वामन ने बीस, भोजदेव ने चौबीस, वाग्भट ने पुनः दस और पीयूषवर्ष ने आठ। इसके अतिरिक्त प्रत्येक आचार्य ने इनके लक्षणों में भी इच्छानुसार फेर-फार कर दिया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीनों ने अपने पूर्व-वर्त्ती आचार्यों के विचारों पर रस की तरह यथोचित विमर्श नहीं किया और जिस समय जिसे जो कुछ सूझ पड़ा, तदनुसार वे गुणों में अधिकता, न्यूनता अथवा लक्षण-भेद करते चले गए। पर इन सबने अधिकांश में गुणों का नामकरण भरत के अनुसार ही रखा है; अतः इन्हें दशगुण-वादी अथवा भरत के अनुयायी कहा जा सकता है।

मतभेदों की निवृत्ति

बारहवीं शताब्दी में काव्यप्रकाशकार महामति मम्मट को यह अराजकता खटकी। उन्होंने खूब विमर्श करके भामह का पक्ष लिया, और उन्हीं तीन गुणों में, उस समय में सर्वाधिकरूपेण प्रचलित वामन के गुणों में से अधिकांश का समावेश कर दिया और शेष को काट-छाँट-कर ठीक-ठाक कर दिया। यह काट-छाँट प्रस्तुत पुस्तक में आ चुकी है, सो आप उसे देख ही लेंगे। परिणाम यह हुआ कि अग्निपुराण का मत तो पहले से ही प्रचलित नहीं था, और भरत से लेकर भोज तक के सब

गुण प्रायः वामन के मत में संगृहीत हो चुके थे; सो सबके सब उड़ गए और उन्हीं तीन गुणों का प्रचार रह गया। इसके बाद भी वाग्भट ने दंडी के मत से और पीयूषवर्ष ने भरत के मत से गुणों के लक्षणादि लिखे; पर वे काव्यप्रकाशकार की युक्तिपूर्ण विवेचना के सामने न टिक सके और साहित्यदर्पणकार एवं रसगंगाधरकार ने इसी पक्ष को विमृष्ट करके स्थिर कर दिया।

गुणों का स्थान

यह तो हुई मत-भेद की बात। अब यह सोचिए कि साहित्य-शास्त्र में गुणों का स्थान क्या है? इस विषय में वामन और भोजदेव दोनों कहते हैं—

> युवतेरिव रूपमङ्ग! काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
> विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः॥
> यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
> अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते॥

अर्थात् काव्य युवती के रूप के समान है; क्योंकि वह भी अच्छे गुणों (लावण्य, माधुर्य आदि) से युक्त और एक के बाद एक आए हुए अनेक अलंकारों की कल्पनाओं से संबद्ध होकर आनंद देता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस तरह स्त्री के रूप के लिये लावण्यादि की और आभूषणों की आवश्यकता है, उसी प्रकार काव्य में भी गुणों और अलंकारों की आवश्यकता है। पर यदि कवि की उक्ति गुणों से रहित हो तो कामिनी के यौवन-रहित शरीर की तरह होती है और लोकप्रिय अलंकार भी अवश्य ही दुर्भग हो जाते हैं। अतः गुणों का होना काव्य के लिये अत्यावश्यक है।

इसके अतिरिक्त भोजदेव ने तो यह भी लिखा है कि—

अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः ॥

अर्थात् अलंकारों से युक्त भी गुणों से रहित काव्य सुनने के योग्य नहीं होता; अतः काव्य के गुणों और अलंकारों से युक्त होने की अपेक्षा गुणों से युक्त होना मुख्य है ।

काव्यप्रकाशकारादिकों का भी यही मत है कि गुण सीधे रसों को उत्कृष्ट बनाते हैं और अलंकार शब्दों और अर्थों के द्वारा; अतः काव्य में गुण अलंकारों से अधिक अपेक्षित है ।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि साहित्यशास्त्र में गुणों का स्थान अलंकारों से ऊँचा और रसादि व्यंग्यों से नीचा है और वे अलंकारों की अपेक्षा अधिक आवश्यक हैं ।

गुण क्या वस्तु है

अब हम इस बात का विचार करेंगे कि गुण हैं क्या वस्तु; उन्हें लोग अब तक किस-किस रूप में समझते आए हैं ।

महामुनि भरत दोषों का वर्णन करने के अनंतर कहते हैं कि "गुणा विपर्ययादेषाम्" अर्थात् दोषों के विपरीत जो कुछ वस्तु है वे गुण हैं ।

अग्निपुराण में लिखा है कि "जो[1] काव्य में (शब्द) बड़ी-भारी शोभा को अनुगृहीत करता है—अर्थात् पदावली को शोभा प्रदान करता है वह शब्दगुण होता है; जो[2] शब्द से प्रतिपादित की जानेवाली वस्तु को

१—'यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः ।'

२—'उच्यमानस्य शब्देन यस्य कस्यापि वस्तुनः ।
उत्कर्षमावहन्नार्थो गुण इत्यभिधीयते ।'

उत्कृष्ट बनाता है वह अर्थगुण होता है; और जो[1] शब्द और अर्थ दोनों को उपकृत करता है वह उभयगुण होता है।

दंडी ने इन्हें 'वैदर्भमार्ग—[2]विशिष्ट रचना के प्राण' माना है; और वामन का कहना है कि—"काव्य[3] में जो शोभा होती है—जिसके कारण काव्य को काव्य कहा जाता है उस शोभा के उत्पादक धर्मों का नाम गुण है"।

इस सबका तथा इन सब ग्रंथों में विवेचित गुणों के लक्षणादि का निष्कर्ष यह है कि जो वस्तु शब्द को, अर्थ को अथवा उन दोनों को उत्कृष्ट बनाती है उसका नाम गुण है।

अब इस बात का विवेचन आरम्भ हुआ कि—जब गुण भी शब्द और अर्थ को उत्कृष्ट बनाते हैं और अलंकार भी तब इन दोनों में भेद क्या है? क्यों न गुणों को भी अलंकार ही समझ लिया जाय? इसका उत्तर दंडी ने यों दिया कि गुण रचना के प्राण हैं और अलंकार काव्य में शोभा को उत्पन्न करनेवाले; अर्थात् गुणों से काव्य में काव्यत्व आता है और अलंकार उसे शोभित[4] करते हैं—उसे उत्कृष्ट मात्र बनाते हैं। इसी बात को वामन ने स्पष्ट शब्दों में यों लिखा है कि "काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः; तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः; अर्थात् काव्य की शोभा के जनक—काव्य[5] में काव्यत्व लानेवाले—धर्मों का नाम गुण है और उस शोभा को—उस काव्यत्व को—उत्कृष्ट बनानेवाले धर्मों का नाम है अलंकार।"

१—'शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुणः स्मृतः'।

२—'एते वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।'—काव्यादर्श।

३—'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः'—अलंकारसूत्र।

४—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।'—काव्यादर्श।

५—काव्यप्रकाश के अनुसार इस सूत्र की यही व्याख्या है।

पर जब 'ध्वनिकार' ने काव्य के आत्मा[1] ध्वनि (व्यंग्यों) का और उनमें से भी प्रधान रस का अन्वेषण करके उसका स्वरूप स्पष्ट कर दिया तब लोगों के विचारों में परिवर्त्तन हुआ। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने प्राचीनों के विचारों पर विप्रतिपत्ति की और कहा कि यदि आप गुणों को ही काव्य में काव्यत्व लानेवाले मानते हैं तो जिन काव्यों में ओज आदि गुण तो हों और रसादिक न हों उन्हें भी काव्य कहा जा सकेगा। उदाहरण के लिये कल्पना कीजिए कि कोई मनुष्य 'इस पहाड़ पर बड़ी आग जल रही है, यह बहुतेरा धुआँ निकल रहा है' इस बात को श्लोक बनाकर यों बोले कि—

'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः।'

तो इस वाक्य में आपके हिसाब से उत्कट शब्द-रचना होने से ओज गुण तो हुआ ही; क्योंकि आप रस के साथ तो गुणों का कोई संबंध

1—काव्य की आत्मा के विषय में विस्तृत विवेचन यद्यपि आगे है; तथापि यहाँ कुछ मतों का उल्लेखमात्र किया जाता है। अग्निपुराण में लिखा है कि "काव्य की आत्मा रस है।" वामन कहते हैं कि "पदों की विशिष्ट रचना काव्य की आत्मा है।" आनन्दवर्धन का सिद्धांत है कि "काव्य की आत्मा ध्वनि (व्यंग्य) है।" यही बात विद्यानाथ ने भी मानी है और 'व्यक्तिविवेक'-कार भी इसी से सहमत हैं। कुंतक (वक्रोक्तिजीवितकार) ने 'बड़ी चतुराई से बात के प्रतिपादन कर देने' को काव्य की आत्मा कहा है। साहित्यदर्पणकार 'असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यों को काव्य की आत्मा' मानते हैं। क्षेमेंद्र का कथन है कि 'काव्य का जीवन औचित्य है।' इनमें से कुछ कथन आलंकारिक भी हैं, वे वास्तव में 'काव्यात्मा' के अन्वेषण में नहीं लिखे गए हैं। पूरा विवरण आगे पढ़िए।

मानते नहीं, केवल रचना के साथ मानते हैं, सो यहाँ वैसी रचना है ही। अत. यह भी काव्य होना चाहिए; क्योंकि जो वस्तु काव्य में काव्यत्व लाती है वह (ओज गुण) यहाँ भी विद्यमान है। पर, बताइए, कौन सहृदय ऐसा होगा जो केवल रचना के कारण ही इसे काव्य मानने लगे ? अतः यों मानना चाहिए कि काव्य में काव्यत्व लानेवाली वस्तुएँ तो रसादिक व्यंग्य हैं और उन्हें उत्कृष्ट बनानेवाले जो धर्म हैं उनका नाम है गुण; जैसे कि मनुष्य को जीवित बनानेवाला आत्मा है और उसे उत्कृष्ट बनानेवाले हैं शूरवीरता आदि गुण[१]।

ध्वनिकार के अनुयायियों ने काव्य के आत्मादिक का विवरण आलंकारिक भाषा में यों किया है—'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस आदि आत्मा हैं, गुण शूर-वीरता आदि की तरह हैं, दोष कालेपन आदि की तरह हैं और अलंकार आभूषणों की तरह।'[२] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रसों के साथ गुणों का अंतरंग संबंध है और अलंकारों का बाह्य; गुण काव्य की आत्मा रस को उत्कृष्ट करते हैं और अलंकार उसके शरीररूप शब्द और अर्थ को।

साथ ही गुणों की वास्तविकता का पता लगाने के लिये इस बात का भी अन्वेषण हुआ कि प्राचीन लोग जिन्हें गुण शब्द से व्यवहृत करते आए हैं, उन बीस में से, यदि नवीन प्रणाली से जिन दोषों का विवेचन किया गया है उनके अभावरूप गुणों को पृथक् कर दिया जाय,

---

१—'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।' (काव्यप्रकाशः);
('रसस्येति—अलक्ष्यक्रमोपलक्षणम्' इत्युद्द्योते नागेशः)।

२—"काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रस्यादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्" इति।

तो क्या बच रहता है। सोचने पर विदित हुआ कि शेष सब गुण कोमल, कठोर और स्पष्टार्थक तीन प्रकार की रचनाओं में विभक्त किए जा सकते हैं। इस तरह वे बीस के तीन हुए और उनके नाम भामह की प्रणाली से माधुर्य, ओज और प्रसाद रखे गए।

इसके अनंतर यह भी सोचा गया कि कौन सी रचना किस रस के अनुरूप है? विमर्श करने पर विदित हुआ कि शृंगार, करुण और शांत रसों के लिये कोमल रचना की; वीर रौद्र और बीभत्स रसों के लिये कठोर रचना की आवश्यकता है और स्पष्टार्थक रचना का होना तो सभी रसों में अपेक्षित है।

जब यह निर्णय हो गया तब यह खोज हुई कि इन रचनाओं से युक्त उन रसों के आस्वादन से अंतःकरण पर क्या प्रभाव होता है? अनुभव से ज्ञात हुआ कि कोमल रचना से युक्त रसों के आस्वादन से चित्त पिघलता है, कठोर रचना से युक्त रसों के आस्वादन से चित्त उद्दीप्त होता है—उसमें जोश आ जाता है, और स्पष्टार्थक रचना से युक्त रसों के आस्वादन से चित्त विकसित होता है। थोड़ा और सोचने पर यह भी पता लगा कि यह काम वास्तव में रसों से होता है, रचनाओं से नहीं; क्योंकि यदि मधुर रचना से ही चित्त द्रुत होता हो तो वैसी रचना से वीर आदि रसों में चित्त की द्रुति क्यों नहीं होती। अतः यह निर्णय हुआ कि गुण रचना से विलक्षण वस्तु हैं और उनका रसों के साथ संबंध है, रचनाओं के साथ नहीं। अंततो गत्वा काव्यप्रकाशकार ने यह निर्णय किया कि शृंगार, करुण और शांत रसों में जो एक प्रकार की आह्लादकता रहती है, जिसके कारण चित्त द्रुत हो जाता है, उसका नाम माधुर्य है; वीर, रौद्र और बीभत्स रसों में जो उद्दीपकता रहती है, जिसके कारण चित्त जल उठता है, उसका नाम ओज है; और जो सूखे[1] ईंधन में आग की

[1]—यह दृष्टांत ओजस्वी रसों के लिये है।

तरह और स्वच्छ[1] शर्करा अथवा वस्त्रादि में जल की तरह चित्त को रस से व्याप्त कर देता है, उस विकासकत्व का नाम प्रसाद है। अतः यों समझना चाहिए कि गुण मुख्यतया रस के धर्म हैं और इन्हें जो रचना आदि के धर्म कहा जाता है, सो औपचारिक है।

पर साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार के आशय को बिना समझे ही उसका खंडन कर दिया। उन्होंने पहले तो काव्यप्रकाशकार की इसी बात को लिख दिया कि 'गुण[2] शौर्यादिक की तरह रस के धर्म हैं'; पर आगे जाकर यह निश्चित किया कि द्रुति, दीप्ति और विकासरूपी चित्तवृत्तियों का नाम ही माधुर्य, ओज और प्रसाद है, तथा अपने इस सिद्धांत के अनुसार काव्यप्रकाशकार के विषय में यह कह डाला कि माधुर्य[3] को जो द्रुति का कारण बताया जाता है वह ठीक नहीं; क्योंकि द्रुति स्वयं रसरूप आह्लाद से अभिन्न है, इस कारण, जैसे रस कार्य नहीं हो सकता, वैसे वह भी कार्य नहीं हो सकती। पर उन्होंने यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि काव्यप्रकाशकार ने द्रुति को माधुर्य माना कब है? वे तो श्रृंगारादि में जो द्रुति-जनकता (प्रयोजकता) रहती है उसे माधुर्य कहते हैं। आपने पहले तो गुणों को रस का धर्म बताया और अब उन्हें चित्तवृत्तिरूप कह रहे हैं। ज़रा सोचिए तो सही कि रति (जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति है) रूप रस का धर्म द्रुतिरूप चित्तवृत्ति कैसे हो सकती है? क्या एक चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति धर्म होती है? अतः यह सब अविचारिताभिधान है।

१—यह दृष्टांत मधुर रसों के लिये है।

२—'रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा। गुणाः...'।

३—"यत्तु केनचिदुक्तम्—'माधुर्यं द्रुतिकारणम्' इति तन्न। द्रवीभावस्यास्वादस्वरूपाह्लादाभिन्नत्वेन कार्य्यत्वाभावात्।"

इसके बाद पंडितराज ने गुणों के स्वरूप का प्रामाणिक रूप से निर्णय करके यह स्थिर कर दिया कि वास्तव में द्रुति, दीप्ति और विकास नामक चित्तवृत्तियों के नाम ही माधुर्य, ओज और प्रसाद है; और श्रृंगारादिक रस उनके प्रयोजक हैं, अतः उन्हें मधुर आदि कहा जाता है। सो यह मानना चाहिए कि गुण रसों के धर्म नहीं, किंतु स्वतंत्र चित्तवृत्तियाँ हैं और वे उन-उन शब्दों, अर्थों, और रचनाओं से प्रयुक्त होकर रस को उत्कृष्ट बनाती हैं।

भाव

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथमानन में अब केवल व्यभिचारी भाव रह जाते हैं; पर उनके विषय में इस समय कुछ विशेष वक्तव्य नहीं है, क्योंकि इस विषय में विशेष मत-भेद नहीं है; वे भरत के समय से आज दिन तक चौतीस के चौतीस ही हैं, न किसी ने उन्हें घटाया, न बढ़ाया। प्रस्तुत पुस्तक में भावों के लक्षण, स्वरूप तथा कार्य-कारण आदि सब बातों का स्पष्टरूपेण विवरण कर दिया गया है। हाँ, इतना कह देना आवश्यक है कि इस तरह से प्रत्येक भाव को पृथक्-पृथक् समझने के लिये उनके भेदक धर्म और कार्य-कारण अन्यत्र नहीं समझाए गए हैं।

इति शुभम्।

वैशाख शुक्ला ७ शुक्रवार
संवत् १९८५
ता० २७ अप्रैल सन् १९२८

पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी
जयपुर

द्वितीय आनन

विषयविवेचन

उपक्रम

प्रथमानन में 'ध्वनि - काव्य (उत्तमोत्तम काव्य)' के भेदों का निरूपण करते हुए यह लिखा जा चुका है कि—'ध्वनि-काव्य' के पाँच भेद हैं; रसध्वनि, वस्तुध्वनि अलंकारध्वनि, अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि और अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि और साथ ही यह भी लिखा जा चुका है कि—इन भेदों में से पहले तीन अभिधामूलक हैं और शेष दो लक्षणामूलक।

इन पाँचो में से 'रसध्वनि' का सविस्तार वर्णन प्रथमानन के अंत तक किया जा चुका है। इस 'आनन' के आरंभ में शेष चार ध्वनि-काव्यो का वर्णन किया गया है और अवशिष्ट भाग में अलकारों का। अभिधामूलक और लक्षणामूलक ध्वनियों के प्रसंग से, मध्य में, अभिधा और लक्षणा का भी यथेष्ट वर्णन कर दिया है। यह है द्वितीय 'आनन' के ध्वनिसंबन्धी विषयों का संक्षेप।

'ध्वनि' शब्द के अर्थ

उक्त ध्वनियो के विवेचन से पूर्व हम यह आवश्यक समझते हैं कि—'ध्वनि' शब्द संस्कृत-भाषा में किन किन अर्थों में व्यवहृत होता है इसका निरूपण कर दिया जाय। 'ध्वनि' शब्द साहित्य-शास्त्र में

पाँच* अर्थों में आता है—शब्द, शब्द की एक शक्ति व्यंजना, रस आदि पूर्वोक्त पाँचों व्यंग्य, रस आदि व्यंग्यों की प्रतीति—अर्थात् ध्वनित होना और उत्तमोत्तम काव्य।

इनमें से प्रकृत अनुवाद में हमने प्रायः 'व्यंग्य' और 'उत्तमोत्तम काव्य' के अर्थ में ही 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार आवश्यकतानुसार किया है। पाठकों को क्लिष्टता न जान पड़े इसलिये अन्य अर्थों में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग हमने नहीं किया। इतने पर भी यदि संस्कृत भाषा के अनवरत अभ्यास के कारण कहीं अन्य अर्थों में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग हो गया हो तो पाठक प्रसंगानुसार यथोचित अर्थ समझ लें—यह प्रार्थना है।

काव्य का आत्मा

प्रथमानन की भूमिका की टिप्पणी में हम 'काव्य की आत्मा' के विषय में कुछ प्रसिद्ध विद्वानों के मत दिखा चुके हैं और यह प्रतिज्ञा भी कर चुके हैं कि इन पर विस्तृत विचार द्वितीयानन की भूमिका में किया जायगा। इस ग्रंथ के कर्त्ता ने† व्यंग्य अर्थ को काव्य की आत्मा-

* "इह काव्यपुरुषावतारस्य ध्वनिकारस्य व्यवहारात्—ध्वनतीति ध्वनिः शब्दः, ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनिः शब्दादिशक्तिः, ध्वन्यत इति ध्वनिः रसादिरर्थः, ध्वननं ध्वनिरिति रसादिप्रतीतिः, ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः काव्यम् इत्येवं ध्वनियोगा उपलभ्यन्ते।" इति सा० द० भूमिकायां म० म० श्री दुर्गाप्रसादद्विवेदमहाभागाः।

† "अस्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकारा निरूप्यन्ते।" (द्वितीय आनन, उपमा का आरंभ)

यहाँ व्यंग्य शब्द का अर्थ केवल रस कहना ग्रंथकार के आशय के

माना है, अतः व्यंग्य अर्थ के भेदों पर विचार करने से पूर्व उक्त विषय पर विचार कर लेना प्रसंगप्राप्त है, इसलिये यहाँ इस विषय का विचार किया जाता है। संक्षेप में अब तक 'काव्यात्मा' के विषय में सात मत प्राप्त होते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

१—**रस** (अग्निपुराण)।

२—**रीति**—अर्थात् विशेष प्रकार की पद-रचना (वामन)।

३—**वक्रोक्ति**—अर्थात् उक्ति की विचित्रता (कुंतक)।

४—**भोग**—अर्थात् आस्वादन अथवा रसव्यंजना (भट्टनायक)।

५—**ध्वनि**—अर्थात् चमत्कारी व्यंग्य अर्थ (ध्वनिकार और उनके अनुयायी)।

६—**असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य**—अर्थात् रस भाव आदि (विश्वनाथ)।

७—**औचित्य** (क्षेमेंद्र)।

अलंकारसर्वस्व का मत

इन सब मतों का विवेचन करने से पूर्व हम, अलंकार शास्त्र के सुबहुमान्य ग्रंथ 'अलकारसर्वस्व' के कर्ता ने काव्यात्मा के विषय में प्राचीन मतों का सार दिखाते हुए जो सिद्धांत स्थिर किया है उसके

विरुद्ध है, क्योंकि एक तो काव्यलक्षण के विवेचन के अवसर पर ही स्वयं ग्रंथकार ने लिखा है कि "यत्तु रसवदेव काव्यम्' इति साहित्य-दर्पणे निर्णीतम्, तन्न। वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वा-पत्तेः......" इत्यादि। दूसरे, अलंकारों से उपस्कार्य प्रधान व्यंग्यों में भी उन्होंने तीनों तरह के व्यंग्यों को प्रधान माना है। देखिए "इष वैवंभेदोपमा वस्त्वलङ्काररसरूपाणां प्रधानव्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कारयोर्वाच्ययोश्चोपस्कारकतया पञ्चधा"।

(काव्यमालासंस्करण पृष्ठ १८२) इत्यादि।

निरूपक संदर्भ का अविकल अनुवाद, संदर्भसहित, आप लोगों के समक्ष उपस्थित करते हैं—

*"भामह उद्भट आदि प्राचीन अलंकारशास्त्रकार व्यंग्य अर्थ (ध्वनि) को वाच्य अर्थ का उपस्कारक होने के कारण, अलंकारपक्ष के अंतर्गत मानते हैं—अर्थात् उनके मत से कोई भी व्यंग्य अलंकार ही हो सकता है, स्वतंत्र नहीं। अतएव पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा और अनन्वय आदि अलंकारों में जो केवल वस्तु (बात) ध्वनित होती है उसे उन्होंने वाच्य अर्थ का उपस्कारक मानकर 'कहीं वाच्य अर्थ अपनी सिद्धि के लिये व्यंग्य अर्थ का आक्षेप करता है और कहीं व्यंग्य अर्थ के लिये अपना अर्पण कर देता है—अर्थात् कहीं वाच्य अर्थ प्रधान रहता है और कहीं गौण'—इन दो प्रकारों से जहाँ जैसी संगति हुई वैसे प्रतिपादित किया है। सारांश यह कि चाहे व्यंग्य प्रधान हो अथवा अप्रधान वे उसे वाच्य अर्थ का उपस्कारक, अतएव अलंकार ही मानते थे।

रुद्रट ने तो एक प्रधान और दूसरा अप्रधान इस तरह (प्रधान व्यंग्य और गुणीभूत व्यंग्य दोनों को) दो प्रकार का भावालंकार माना है। रूपक, दीपक, अपह्नुति और तुल्ययोगिता आदि में उपमालंकार

*"इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयाऽलङ्कारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते। तथा हि—पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन 'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्' इति यथायोगं द्विविधया भङ्ग्या प्रतिपादितं तैः।

रुद्रटेन तु भावालङ्कारो द्विधैवोक्तः (गुणीभूतागुणीभूतवस्तुविषयत्वेनेत्यर्थः)। रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमाद्यलङ्कारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः। उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता। रसव-

को (जो व्यंग्य होता है) वाच्य के उपस्कारक रूप में और उत्प्रेक्षा को तो स्वयं ही प्रतीयमान (व्यंग्य) कहा है और रसवान्, प्रेय आदि अलंकारों में रस, भाव आदि को वाच्य की शोभा का कारण बताया है। इस तरह उन्होने (वस्तुरूप, अलंकाररूप और रसादिरूप) तीनों प्रकार का व्यंग्य (मान अवश्य लिया है, पर उसे) अलंकाररूप से प्रसिद्ध किया है। सारांश यह कि आचार्य रुद्रट की सूक्ष्म दृष्टि में तीनों प्रकार के व्यंग्य आ गए थे अवश्य, पर उन्होंने उन्हें स्वतंत्र नहीं, किंतु अलंकार-रूप माना है।

"वामन ने सादृश्यमूलक लक्षणा को वक्रोक्ति अलकार कहा है, अतः किसी प्रकार की ध्वनि (व्यंग्य) को उनने अलंकाररूप कहा है अवश्य, पर काव्य की आत्मा तो उनने केवल रीति को माना है, जो कि गुणव्यंजक पदों की रचनारूप है। तात्पर्य यह कि गुण अलंकारों से उत्कृष्ट हैं—इस बात को यद्यपि वामन ने समझ लिया है तथापि व्यंग्यों के चमत्कार को वह यथेष्टरीत्या न समझ सके, अतएव जो व्यंग्य उनके ध्यान में आया उसे उन्होंने अलंकारों में निविष्ट करने का ही प्रयत्न किया है।

"रहे वामन से पूर्व के आचार्य उद्भट आदिक, सो उन्होंने तो गुणों और अलंकारों की प्रायः समानता ही सूचित की है, क्योंकि उन्होंने इन दोनों को विषय-भेद से भिन्न माना है और गुणों को रचना का धर्म माना है।

स्प्रेयःप्रभृतौ तु रसभावादिर्वाच्यहेतुत्वेनोक्तः। तदेवं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलङ्कारतया ख्यापितमेव।

वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलङ्कारत्वं ब्रुवता कश्चिद् ध्वनिभेदोऽलङ्कारतयैवोक्तः। केवलं गुणविशिष्टपदरचनात्मिका रीतिः काव्यात्मत्वेनोक्ता।

उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशःसाम्यमेव सूचितम्, विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः।

"इस तरह यह सिद्ध हुआ कि प्राचीन विद्वानों (भामह से लेकर वामन तक—अर्थात् छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी के प्रारंभ तक) का मत था कि काव्य में अलंकार ही प्रधान हैं (व्यंग्यों की प्रधानता उनके ध्यान में नहीं आई थी)।

"वक्रोक्तिजीवितकार ने चतुराई के ढंग से बोलना जिसका स्वभाव है उस अनेक प्रकार की वक्रोक्ति (उक्तियों की विचित्रता) को ही काव्य का जीवन (आत्मा) कहा और काव्य में व्यापार (तरीके) को प्रधान स्वीकार किया। इनके मत में अलंकार एक तरह के बोलने के तरीके ही हैं। उन्होंने यह भी माना है कि—तीनों प्रकार का व्यंग्य है, पर कवि का संरम्भ व्यापार-रूप उक्ति पर ही होता है। उन्होंने व्यंग्यों का समग्र विस्तार स्वीकार भी किया है, पर 'उपचारवक्रता' आदि नामों से। सक्षेप में उन्होंने यह सिद्धांत स्थिर किया है कि—काव्य का जीवन केवल उक्तियों की विचित्रता है, व्यंग्य अर्थ नहीं।

"भट्टनायक ने तो प्रौढोक्ति से स्वीकार किए हुए व्यंग्यों के व्यापार को काव्य का एक भाग कहते हुए उसी व्यापार की काव्य में प्रधानता

तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।

वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव काव्यजीवितमुक्तवान्। व्यापारस्य प्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे। अभिधानप्रकारविशेषा एव चालङ्काराः। सत्यपि त्रिभेदे प्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचरः। उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः। केवलयुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं, न व्यङ्ग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्।

"भट्टनायकेन तु व्यङ्ग्यव्यापारस्यैव प्रौढोक्त्याऽभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्।

तलाई है, क्योंकि वह व्यापार शब्द और अर्थ के स्वरूप को नीचा कर देता है। उसने अभिधा और भावना नामक काव्य-व्यापारों के पार करने के बाद, रस का आस्वादन जिसका स्वरूप है और जिसका दूसरा नाम भोग है, उस व्यापार को प्रधानतया विश्राम का स्थान स्वीकार किया है। अर्थात् भट्टनायक के मत में शब्द, अर्थ अथवा उक्ति की विचित्रता तक ही काव्य की क्रिया समाप्त नहीं होती, किंतु वह रस के आस्वादन तक पहुँचती है और वहाँ जाकर समाप्त हो जाती है। इस तरह उसके मत में 'रस का आस्वादन' रूपी व्यापार ही प्रधान वस्तु अथवा आत्मा है।

"सारांश यह कि—ध्वनिकार श्री आनंदवर्धनाचार्य से पूर्व नवम शताब्दी के उत्तरार्ध तक विद्वानों को यह प्रतीति अवश्य हुई कि शब्द और उनके वाच्य से आगे भी एक वस्तु अवश्य है, पर वे उसके विषय में होनेवाले व्यापार को ही प्रधान मानते रहे—असली वस्तु तक नहीं पहुँच पाए।

"इसके अनंतर ध्वनिकार (श्री आनंदवर्धनाचार्य) ने यह सिद्धांत निश्चित किया कि—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक तीनों व्यापारों (शब्दशक्तियों) के पार करने अनंतर एक और व्यापार होता है, जिसे ध्वनन, द्योतन (और आजकल 'व्यंजना') आदि

तत्रापि अभिधाभावनात्मकव्यापारद्वयोत्तीर्णो, रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयाङ्गीकृतः।

"ध्वनिकारः पुनरभिधा-तात्पर्य-लक्षणाख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वननद्योतनादिशब्दाभिधेयस्य व्यंजनव्यापारस्यावश्यमभ्युपगम्यत्वात् व्या-

नामों से पुकारा जाता है और वह इतना आवश्यक है कि बिना उसके माने निर्वाह नहीं। परन्तु यह व्यापार (जैसा कि भट्टनायक ने मान लिया है) किसी वाक्य का अर्थ नहीं हो सकता, वाक्य का अर्थ तो होता है (इस व्यापार के द्वारा प्रतीयमान होनेवाला) 'व्यंग्य', और वही गुण-अलंकार आदिसे सुशोभित किया जाता है—उसी को वे चमत्कारी बनाते हैं, अतः प्रधान होने के कारण वही विश्राम का स्थान है, न कि 'भोग' या 'आस्वादन' रूप व्यापार यह सिद्धान्त किया, क्योंकि व्यापार का स्वरूप विषय (जिसकी प्रतीति के लिये वह व्यापार होता है) को पहले उपस्थित करता है और फिर स्वयं उपस्थित होता है—बिना वस्तु के कोई व्यापार नहीं हो सकता, अतः व्यापार की अपेक्षा विषय की प्रधानता हुआ करती है—ऐसा नियम है, इसलिए सारा भार विषय के ऊपर ही रहता है—अर्थात् व्यापार तो एक साधनमात्र है और वाक्य का जिस वस्तु पर दारोमदार रहता है, जिसके होने न होने से वाक्य बनता और बिगड़ता है वह तो विषय ही है, जिसे 'व्यंग्य अर्थ' अथवा 'ध्वनि' कहा जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि यही व्यंग्यार्थ काव्य का जीवन अथवा आत्मा कहे जाने के योग्य है, क्योंकि गुणों और अलंकारों से आविर्भावित सुन्दरता को स्वीकार करने का साम्राज्य इसे ही प्राप्त है। (इसी के रस

पारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद् वाक्यार्थस्यैव च व्यङ्ग्यरूपस्य गुणालङ्कारोपस्कर्त्तव्यत्वेन प्रधान्याद्विश्रान्तिधामत्वं सिद्धान्तितवान्। व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात्, तत्प्राधान्येन प्रधानत्वात् स्वरूपेण विदितत्वाभावाद् विषयस्यैव समग्रभरसहिष्णुत्वम्। तस्माद् विषय एव व्यङ्ग्यनामा जीवितत्वेन वाच्यः, यस्य गुणलङ्कारकृतचारुत्वपरिग्रहसाम्राज्यम्।

आदि पाँच भेद हैं, जैसा कि लेख के आरंभ में दिखाया जा चुका है ।)

"रही यह बात कि—इन रस-आदि को रुद्रट की तरह अलंकार रूप ही क्यों न मान लिया जाय तो इसका उत्तर यह कि रसादिक (व्यंग्य) काव्य के जीवनरूप हैं—आत्मा हैं, अतः उन्हें अलंकार नहीं कहा जा सकता; कारण, अलंकार सुशोभित करनेवालों का नाम है और रसादिक सुशोभित करनेवाले नहीं किंतु प्रधान होने के कारण सुशोभित होनेवाले हैं ।

"अतः यह सिद्ध हुआ कि **वाक्यार्थस्वरूप व्यंग्य ही काव्य का जीवन है,** और यही पक्ष वाक्यार्थ समझनेवाले सहृदयों को अपनी तरफ झुकाता है, क्योंकि व्यंजनानामक शब्दशक्ति को कोई छिपा नहीं सकता और उसे स्वीकार कर लेने पर अन्य कोई पक्ष ठहर नहीं सकता ।

"इसके बाद यद्यपि व्यक्तिविवेककार ने वाच्य अर्थ को व्यंग्य अर्थ के प्रति हेतु मानकर व्यंजना का अनुमान में अंतर्भाव करने का प्रयास किया है, पर वह बिना (अधिक) विचार के है, क्योंकि न तो वाच्य और व्यंग्य में तादात्म्य संबंध ही है और न वाच्य अर्थ से प्रतीयमान

"रसादयस्तु जीवितभूता नालङ्कारत्वेन वाच्याः; अलङ्काराणामुपस्कारकत्वाद् रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात् । तस्माद् व्यङ्ग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः । व्यञ्जनव्यापारस्य सर्वैरपह्नुतत्वात् तदाश्रयणे च पक्षान्तरस्याप्रतिष्ठानात् ।

"यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिङ्गितया व्यञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमाख्यत् तद् वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह

की उत्पत्ति ही होती है कि जिससे वाच्य अर्थ को व्यंग्य का हेतु माना जाय।''

यह तो हुई 'अलंकार-सर्वस्व'कार के विवेचन की बात, जिसका सारांश यह है कि **'व्यंग्य अर्थ ही काव्य की आत्मा है'**।

पूर्वोक्त मतों पर विचार

अच्छा, अब पूर्वोद्धृत मतों पर विचार करिए उनमें से २, ३, ४ और ७ संख्यावाले मत तो किसी प्रकार टिक नहीं सकते। कारण, ३ और ४ संख्यावाले मतों का तो ऊपर लिखे अनुसार अलंकारसर्वस्वकार ने, ध्वनिकार का मत उद्धृत करते हुए, स्वयं ही स्पष्ट शब्दों में अकाट्य युक्ति द्वारा खंडन कर दिया है। उन्होने लिखा है कि ये लोग एक प्रकार के व्यापार (द्वारभूत क्रिया) को काव्य की आत्मा मानते हैं, पर व्यापार स्वयं परमुखापेक्षी है—बिना किसी प्रतिपाद्य अथवा साध्य के उसका जन्म ही नहीं हो सकता। ऐसी दशा में प्रधानतया प्रतिपाद्य अर्थ (व्यंग्य) को छोड़कर, व्यापार को, काव्य की आत्मा किसी प्रकार नहीं माना जा सकता।

२ संख्यावाले मत का खंडन भी साहित्यदर्पणकार ने अच्छी तरह कर दिया है। वे कहते हैं कि—'विशिष्ट रचना' रूप 'रीति' काव्य का अंगविन्यास मात्र है, और अतएव वह काव्य के शरीर के अंतर्गत कही जा सकती है, न कि काव्य की आत्मा।

रहा ७ संख्यावाला मत, सो वह तो एक आलंकारिक उक्ति है। क्षेमेंद्र के कथन का तो अभिप्राय केवल इतना ही है कि काव्य में औचित्य अत्यंत अपेक्षित वस्तु है। क्योंकि

तादात्म्यदुरपह्नवभावादविचारिताभिधानम्। तदेतत्कुशाग्रधिषणैः क्षोदनीयमतिगहनगहनमिति नेह प्रतन्यते।'' (अलंकारसर्वस्व)।

"अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥"

इस ध्वनिकार के सिद्धांतानुसार औचित्य रस की पोषक वस्तु है, अतएव वह साध्य नहीं किन्तु साधन है। ऐसी दशा में कोई भी सहृदय उसे काव्य की आत्मा नहीं कह सकता। अतः इन मतों पर विशेष लिखकर लेख का कलेवर बढ़ाना व्यर्थ है।

अब केवल तीन मत रह जाते हैं—१, ५ और ६ संख्यावाले। इनमें से संख्या १ में जो रस शब्द आया है उसका अर्थ केवल शृङ्गार आदि परिगणित रस ही नहीं है, किंतु 'रस्यतेऽसौ रसः' इस 'योग' के अनुसार जिसका आस्वादन किया जाता है वह वस्तु—अर्थात् आस्वादनीय व्यंग्य—है, अन्यथा 'भाव' आदि के वर्णनवाले काव्य भी निर्जीव हो जायँगे और 'स्तुति-कुसुमांजलि' एवं 'गंगालहरी' प्रभृति सहृदयों के माननीय काव्य भी यथार्थ में काव्य न रहेंगे। अतः १ संख्यावाले और ५ अथवा ६ संख्यावाले मतों का एक ही अभिप्राय है—यह समझना चाहिए।

अब केवल ५ और ६ संख्यावाले मत रह जाते हैं। उनमें से ५ संख्यावाला—अर्थात् ध्वनिकार श्री आनंदवर्धनाचार्य का—मत प्रायः सभी आचार्यों द्वारा सम्मानित है। यहाँ तक कि 'ध्वनि'कार के सिद्धांत का खंडन करनेवाले 'व्यक्तिविवेक'-कार ने भी लिखा है कि—"काव्यस्यात्मन्यङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः—अर्थात् काव्य की आत्मा और अंगी—अर्थात् प्रधानतया प्रतिपाद्य—रस-आदि के विषय में किसी को मतभेद नहीं है" इस मत का विस्तृत विवेचन ऊपर उद्धृत 'अलंकारसर्वस्व'कार के संदर्भ में किया जा चुका है, अतः अब इस विषय में विशेष लिखना व्यर्थ है।

रहा ६ संख्यावाला मत, सो उसमें भी व्यंग्यों का काव्यात्मा होना तो मान ही लिया गया है, केवल वस्तुरूप और अलंकाररूप व्यंग्यों के काव्यात्मा होने में उन्हें विप्रतिपत्ति है। वे कहते हैं—यदि वस्तु, अलंकार और रस तीनों व्यंग्यों को काव्य की आत्मा माना जाय तो एक तो पहेलियाँ भी काव्यों में गिनी जाने लगेंगी और दूसरे 'देवदत्त गाँव जाता है' इस और ऐसे वाक्यों में 'उसके नौकर का उसके साथ जाना' आदि व्यंग्य रहता है, अतः ऐसे वाक्य भी काव्य हो जायँगे।

सिद्धान्त

अच्छा, अब इन विप्रतिपत्तियों पर विचार करने से पूर्व जरा यह देख लीजिए कि जो लोग व्यंग्य अर्थ को काव्य की आत्मा मानते हैं, उनका इस विषय में क्या कहना है—वे कैसे व्यंग्यों को 'काव्य की आत्मा' मानते हैं और कैसों को नहीं। इस विषय में ध्वनि-कार कहते हैं—

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

अर्थात् व्यंग्य एक दूसरी ही चीज है जो कि महाकवियों की वाणियों में ऐसे प्रतीत होता रहता है, जैसे अंगनाओं में प्रसिद्ध अंगों के अतिरिक्त लावण्य*।" और इतना लिखने के बाद लिखते हैं कि—

---

* मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
संलक्ष्यते यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।

मोतियों में कान्ति की तरलता (पानी) की तरह जो (चमक) अंगों के अंदर दिखाई देती है उसे लावण्य कहा जाता है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

अर्थात् वही—महाकवियों की वाणी में लावण्य की तरह प्रतीत होनेवाला ही—अर्थ काव्य की आत्मा है जैसे कि क्रौंच-पक्षियों के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदिकवि (वाल्मीकि) का शोक श्लोक के रूप में परिणत हो गया।

इसका अभिप्राय यह है कि जो व्यंग्य अंगनाओं के शरीर के लावण्य की तरह आकर्षक और अन्य किसी से अनभिभूत होकर प्रतीत होता है वही काव्य की आत्मा होता है, अन्यथा 'स एव' में 'एव' शब्द का पूर्ण स्वारस्य नहीं रहता। ऐसी दशा में यह कहना अनुचित न होगा कि स्पष्ट शब्दों में न लिखने पर भी अचमत्कारी व्यंग्य को वे काव्य की आत्मा नहीं मानना चाहते।

पर इतने पर भी यदि पहेलियों को काव्य माना जाय—जैसा कि सरस्वतीकंठाभरणकार आदि ने माना है—तो आप को उनकी भी आत्मा व्यंग्य को ही मानना पड़ेगा, क्योंकि पहेली को सुनने और जानने की इच्छा उसी (व्यंग्य) के अधीन है, अतएव 'काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्' इस न्याय से वहाँ व्यंग्य की प्रधानता और चमत्कारजनकता को निह्नुत नहीं किया जा सकता। हमारी राय में तो जब खड्गबंध और मुकुरबंध आदि को काव्य माना जाता है तब वस्तुव्यंजक पहेली का काव्यजगत् से बहिष्कार कर देना कुछ उचित भी नहीं प्रतीत होता।

किंतु हम इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते। हमें तो यहाँ इतना मात्र कहना है कि—यदि पहेलियाँ और 'देवदत्त जाता है' आदि वाक्य किसी तरह काव्यों की गिनती में आ जायँ—यदि उनमें काव्य-लक्षण पूर्णतया घटित हो जाय—तो उनकी आत्मा भी आपको व्यंग्य

अर्थ ही मानना पड़ेगा और यदि वे काव्य ही नहीं हैं तो फिर उनमें व्यंग्य के प्रतीत हो जाने मात्र से उनका काव्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। देखिए, समस्त दर्शनों के अनुसार मनुष्य, पशु-पक्षी और कीट-पतंग सबमें आत्मा एक ही प्रकार की है, किंतु मनुष्य का लक्षण पशु-पक्षी आदि में घटित न होने के कारण उन्हें मनुष्य नहीं कहा जा सकता। ठीक उसी तरह इनमें भले ही व्यंग्य रहे, किंतु यदि इनमें काव्य-लक्षण घटित नहीं होता तो इन्हें काव्य कैसे कहा जा सकता है। अतः केवल इस निरर्थक भय से समस्त संलक्ष्यक्रम व्यंग्यों को काव्य की आत्मा न मानकर केवल असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यों को ही काव्य की आत्मा मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

दूसरे, यदि ऐसा माना जाय—अर्थात् संलक्ष्यक्रम व्यंग्यों को काव्य की आत्मा न माना जाय—तो 'धन-मद से मनुष्य को सुधि-बुधि नहीं रहती' इत्यादि व्यंग्यों की प्रधानतया प्रतीति करवानेवाले

*कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाए बौरात है यह पाए बौराय॥—बिहारी।

इत्यादि काव्य भी निर्जीव—अतएव चमत्कारशून्य—हो जायँगे। इतना ही नहीं, किंतु वस्तु अथवा अलंकार को प्रधानतया अभिव्यक्त करनेवाले सभी काव्यों की यही दशा होगी।

अतः यह सिद्ध हुआ कि काव्य की आत्मा व्यंग्य अर्थ है और उसी को उपस्कृत करने के लिये गुण, अलंकार आदि की रचना की जाती है, अन्यथा वे अनुपस्कारक होने के कारण अपने नामों की यथार्थतया सार्थक नहीं कर सकते।

---

* इस पद्य में 'यदेव व्यङ्ग्यं तदेवोच्यते यथा तु व्यङ्ग्यं न तथोच्यते' इस न्याय से उक्त व्यंग्य प्रधानतया प्रतीत होता है।

व्यंग्य अर्थ और उसके प्रबन्धक

इस 'काव्य की आत्मा रूप' व्यंग्य अर्थ के विषय में सहृदय-शिरोमणि श्री आनंदवर्धनाचार्य ने क्या ही सुन्दर लिखा है। वे कहते हैं—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥

महाकवियों की वाणी से वह व्यंग्यअर्थरूपी स्वादु (रसमय) वस्तु झरती रहती है--उनके शब्दों से अनायास ही उसका प्रवाह-सा निकलता रहता है, और इस तरह वह वाणी चमचमाते हुए उनके असाधारण प्रतिभा-विशेष को अभिव्यक्त करती है। इसका सार यह है कि--व्यंग्य अर्थ ऐसी वस्तु है कि उसके विषय में विशेष न जानने वाला भी, जैसे बच्चा दूध अथवा मिश्री की तरफ आकृष्ट होता है वैसे, सुनते ही उसकी ओर आकृष्ट※ होता है तथा वह वस्तु न तो बलात् लाई जा सकती है और न ऐरे-गैरे लोग वैसे काव्यो के लिख ही सकते हैं—वे तो केवल महाकवियों के ही बॉट में आए हैं।

व्यंग्य अर्थ के ज्ञाता

इस व्यंग्य अर्थ को समझते कौन हैं, इसके विषय में भी उन्होंने बड़ा सुंदर लिखा है—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स हि काव्यर्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥

व्यंग्य अर्थ, शब्द-शास्त्र और पदार्थ-शास्त्र--अर्थात् व्याकरण और न्याय आदि—के जानने मात्र से समझ में नहीं

※ जैसे हिंदी में तुलसीकृत रामायण। आज भी सैकड़ों व्यक्ति बिना उसकी विशेषताओं को जाने भी उसकी तरफ आकर्षित होते हैं और रसानुभव करते हैं।

आ सकता। उसे तो केवल काव्यार्थ के तत्त्वज्ञ ही समझ सकते हैं। अर्थात् चाहे कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो वह व्यंग्य अर्थों को समझ ही लेगा—यह आशा व्यर्थ है, उसके समझने के लिये काव्यमर्मज्ञ होने की आवश्यकता है—ऐसे-वैसे अर्थात् सहृदयता से शून्य लोगों की वहाँ तक पहुँच नहीं।

*शब्दों की शक्तियाँ और उनके प्रतिपाद्य अर्थ

व्यंग्य अर्थ के भेदों पर विचार करने से पूर्व हम शब्दशक्तियों के विषय में कुछ कहना चाहते हैं। यद्यपि यह क्रम अनुवाद्य ग्रंथ के

* इस प्रसंग में इतना और जान लेना भी उत्तम होगा। साहित्य-शास्त्र में वृत्तियों का वर्णन इन ग्रंथों में पाया जाता है—अग्निपुराण, अभिधावृत्तिमातृका, शब्द-व्यापार-विचार, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, वृत्तिवार्त्तिक और रसगंगाधर। इनमें से अग्निपुराण का निरूपण कुछ दूसरे ही प्रकार का है। उसे हमने खूब दिमाग लड़ाने के बाद जिस रूप में समझ पाया है उसे हम अनुवाद सहित नीचे दे रहे हैं। इससे पूर्व आप अन्य पुस्तकों का संक्षिप्त हाल सुन लीजिए। अभिधावृत्तिमातृका में प्रायः मीमांसकों के मत का अनुसरण किया गया है और व्यंजना नहीं मानी गई। शब्दव्यापारविचार एवं काव्यप्रकाश के निर्माता एक ही व्यक्ति हैं श्रीमम्मटाचार्य, अतः उनमें मतभेद के लिये कोई गुंजाइश नहीं। साहित्यदर्पण भी इस विषय में काव्य-प्रकाश का ही अनुसरण करता है और जो कुछ विशेषताएँ उसमें हैं उन पर और अन्य ग्रंथों के मतभेदों पर भी आगे विचार किया ही जा रहा है।

अच्छा, अब अग्निपुराण की बात सुनिए। साहित्य-शास्त्र में सबसे पहले शब्द-शक्तियों का वर्णन इसी ग्रंथ में मिलता है। वह

अनुसार नहीं है, क्योंकि उसमें प्रथमतः व्यंग्य के भेदों पर विचार बड़ा विचित्र है। वहाँ इन वृत्तियों को भी अलंकारों में ही वर्णन किया गया है। अग्निपुराण में तीन प्रकार के अलंकारों का वर्णन है--शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थालंकार। इनमें से शब्दार्थालंकारों का वर्णन करते समय एक अलंकार 'अभिव्यक्ति' नाम से माना गया है। उसका विवरण करते हुए लिखा है--

प्रकटत्वमभिव्यक्तिः, श्रुतिराक्षेप इत्यपि।
तस्या भेदौ, श्रुतिस्तत्र शाब्दं स्वार्थसमर्पणम्॥
भवेन्नैमित्तिकी पारिभाषिकी द्विविधैव सा।
संकेतः परिभाषेति ततः स्यात् पारिभाषिकी।
मुख्यौपचारिकी चेति सा च सा च द्विधा द्विधा॥
सा(स्वा ?)भिधेयस्खलद्वृत्तिरमुख्यार्थस्य वाचकः।
यया शब्दो निमित्तेन केनचित् सौपचारिकी॥
सा च लाक्षणिकी, गौणी लक्षणा गुणयोगतः।
अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते॥
अभिधेयेन संबंधात् सामीप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता॥
गौणी गुणानामानन्त्यादनन्ता, तद्विवक्षया।
अन्यधर्मस्ततोन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः॥
श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद् भाति सचेतनः (साम् ?)।
स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः॥
शब्देनार्थेन यत्रार्थः कृत्वा स्वयमुपार्जनम् (स्वमुपसर्जनम् ?)।
प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया॥
तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र.........॥

अग्निपुराण अध्याय ३४५ श्लो० ७—१५½

करके तब शक्तियों पर विचार किया गया है, किंतु वह क्रम समझने में जरा कठिन पड़ता है, इसलिये यह शैली स्वीकार की गई है।

(शब्द से अर्थ के) प्रकट होने को अभिव्यक्ति कहते हैं। उसके दो भेद हैं—श्रुति (अभिधा-लक्षणा) तथा आक्षेप (व्यंजना)। उनमें से शब्द का अपने अर्थ को अर्पित करना—या समझाना—श्रुति कहलाती है। श्रुति दो प्रकार की है—नैमित्तिकी (किसी निमित्त अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय आदि को अथवा किसी प्रयोजन को मानकर होनेवाली) और पारिभाषिकी (किसी परिभाषा को मानकर होनेवाली अर्थात् रूढि)। (बिना किसी निमित्त के किए गए) संकेत को परिभाषा कहते हैं, उसके द्वारा होनेवाली श्रुति पारिभाषिकी कहलाती है। नैमित्तिकी और पारिभाषिकी दोनों ही श्रुतियाँ मुख्या (अभिधा) और औपचारिकी (लक्षणा) इस तरह दो-दो प्रकार की होती हैं। जिस श्रुति के द्वारा, अपने वाच्य में जिसकी स्थिति स्खलित हो रही है ऐसा (अर्थात् वाच्य अर्थ को ठीक-ठीक प्रतिपादन न करनेवाला) शब्द किसी निमित्त (प्रयोजन अथवा रूढि) के कारण मुख्य से भिन्न अर्थ का वाचक हो जाता है वह श्रुति औपचारिकी मानी जाती है और उसे ही लाक्षणिकी (रूढ लक्षणारूप ?) कहते हैं। गौणी लक्षणा गुणों के योग (अर्थात् सादृश्य) के कारण होती है। वाच्य अर्थ से संबद्ध अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं।

वाच्य अर्थ के साथ (साधारण) संबंध द्वारा, समीपता द्वारा, समवाय (संयोग) द्वारा, विपरीतता द्वारा और क्रिया के योग द्वारा, लक्षणा पाँच प्रकार की मानी गई है। गौणी लक्षणा गुणों के अनंत होने के कारण अनंत प्रकार की होती है। जहाँ लोक-मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए (अर्थात् पारम्परिक समय को न तोड़ते हुए) व्यक्ति के द्वारा

शब्दों में तीन शक्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनमें से वैयाकरणों और आलंकारिकों के अतिरिक्त अन्य शास्त्रोंवाले प्रायः व्यंजना को नहीं मानते--उनके हिसाब से दो ही शक्तियाँ हैं—अभिधा और लक्षणा। पर वैयाकरणों और आलंकारिकोंने व्यंजना की सिद्धि में कुछ ऐसे अकाट्य प्रमाण दिए हैं कि यदि निरर्थक हठ छोड़ दिया जाय तो विवश होकर व्यंजना अवश्यमेव माननी पड़ती है। अस्तु।

इन शक्तियों को संस्कृत के ग्रंथों में प्रायः 'वृत्ति' के नाम से पुकारा जाता है। यदि केवल 'शक्ति' शब्द आवे तो उसका अर्थ 'अभिधा' होता है। यह याद रखिए।

अभिधा

हम देखते हैं—नौकर से 'घड़ा' ये दो अक्षर कहते ही वह एक 'लंबे गलेवाले बर्तन' की तरफ दौड़ता है, वह थाली या चमचे की तरफ नहीं दौड़ता और न अन्य किसी वस्तु की तरफ ही दौड़ता है। अतः मानना पड़ेगा कि—इन पूर्वोक्त 'घड़ा' रूपी कुछ अक्षरों का, अथवा यों कहिए कि इस पद का, उस वस्तु

'गौणी' के कथन की इच्छा से अन्य वस्तु का धर्म उससे भिन्न वस्तु में आधान (आरोपित) किया जाता है उसे इस शास्त्र में समाधि कहते हैं।

श्रुति (अभिधा-लक्षणा) द्वारा न प्राप्त होनेवाला अर्थ जिस वृत्ति के द्वारा सहृदयों को प्रतीत होता है, वह वृत्ति 'आक्षेप' कहलाती है और वही ध्वनि है, क्योंकि वहाँ ध्वनि के द्वारा शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं एवं जहाँ कोई विशेषता बताने की इच्छा से निषेध-सा होता है उसे (भी) आक्षेप कहते हैं।

के साथ अवश्यमेव कोई संबंध है। यदि ऐसा न होता तो नौकर उस बर्तन के बजाय अन्य वस्तु अथवा व्यक्ति की तरफ क्यों न दौड़ता। इसी तरह अन्यान्य पदों का भी अन्यान्य पदार्थों के साथ अवश्य ही संबंध है। पद और पदार्थ के इसी पारस्परिक संबंध को 'अभिधा' शक्ति कहते हैं। इस संबंध अथवा अभिधा के ज्ञात होने पर ही हमें पद से पदार्थ का बोध होता है, अन्यथा नहीं। अतः किसी भी शब्द के अर्थ को समझने के लिये इस पूर्वोक्त संबंधरूपी अभिधा का ज्ञान आवश्यक है।

अच्छा अब यह भी समझ लीजिए कि अभिधा के ज्ञान के द्वारा शब्द से अर्थ का ज्ञान कैसे होता है। संबंधियों के विषय में यह नियम है कि—एक संबंधी का बोध होने पर दूसरे संबंधी का अपने-आप स्मरण हो आता है, जैसे 'राम' का घर देखने पर 'राम' का। इसी नियम के अनुसार हमें किसी भी नाम (जो एक प्रकार का शब्द है) के सुनते ही उससे संबंध रखनेवाली वस्तु का, और किसी भी वस्तु के देखते ही उसके नाम का स्मरण हो आता है, और इस तरह अभिधा-शक्ति के द्वारा हमें उन-उन शब्दों से उन-उन अर्थों का बोध होता है।

अभिधा है क्या वस्तु ?

इस संबंध—अथवा अभिधा—को नैयायिक लोग 'इस पद से यह पदार्थ समझो' इस रूप में होनेवाली ईश्वर की इच्छा (अथवा किसी

यद्यपि ये आक्षेप के भेद ध्वनि के अंतर्गत ही हैं तथापि कुवलयानंदकार ने आक्षेप के द्वितीय भेद को अलंकाररूप ही माना है। जैसा कि कुवलयानंद में लिखा है—

"निषेधाभसामाक्षेपं बुधाः केचन मन्वते।
नाहं दूती तनोस्तापस्तस्याः कालानलोपमः।—लेखक।

प्रकार हम लोगों की इच्छा) मानते हैं, किंतु मीमांसकों का कहना है कि यह शब्द की एक शक्ति है और स्वतंत्र पदार्थ है—अर्थात् इसे इच्छा आदि अन्य किसी पदार्थ के अंतर्भूत नहीं किया जा सकता। इस विषय में बात मीमांसकों की ही ठीक जँचती है, जिसके हेतु प्रकृत अनुवाद में यथास्थान दिए ही गए हैं और उनके अतिरिक्त एक और भी हेतु है कि यदि अभिधा को ईश्वरेच्छारूप माना जाय तो लक्षणा (और विशेषतः रूढ लक्षणा) को भी ईश्वरेच्छारूप क्यों न माना जाय। सो इस विषय में वैयाकरण और आलंकारिक विद्वान् मीमांसकों का ही मत मानते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि—अभिधा का अर्थ है पद और पदार्थ का पारस्परिक संबंध और वह एक प्रकार की शब्द की शक्ति है।

अभिधा समझने के साधन

किस पद से किस पदार्थ का संबंध है इसके जानने के अनेक साधन हैं। कुछ साधन हिंदी-भाषा-भाषियों की जानकारी के लिये नीचे लिखे जाते हैं—

व्याकरण—प्रकृति, प्रत्यय आदि की अभिधा का ज्ञान व्याकरण से होता है; जैसे 'ज्ञाता' शब्द में 'ज्ञा' का अर्थ जानना और 'तृच् (ता)' का अर्थ कर्त्ता (अर्थात् 'ज्ञाता' आदि शब्दों के 'ज्ञान का कर्त्ता' अथवा 'जाननेवाला' इत्यादि अर्थ व्याकरण से ज्ञात होते हैं)।

उपमान (तुलना)—जैसे 'नीलगाय गाय के समान होती है' इस गाय की तुलना के द्वारा 'नीलगाय' पद का।

कोश—जैसे 'राजहंस' पद का संबंध उस पक्षी से है जिसकी चोंच और पैर लाल हों और सब शरीर श्वेत, क्योंकि कोश में लिखा है कि

"राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः।"

प्रामाणिक पुरुष का कथन—जैसे अध्यापक ने समझा दिया कि 'पिक' शब्द का अर्थ कोयल है।

व्यवहार—जैसे एक बालक के सामने एक बुड्ढे ने एक युवक से कहा—'घड़ा लाओ'। बाद में कहा 'घड़ा ले जाओ और थाली लाओ'। यहाँ बालक ने 'घड़ा' पद का दो बार प्रयोग सुना और उस पदार्थ को देखा और वह समझ गया कि इस पदार्थ का नाम घड़ा है।

प्रधान वाक्य का कोई अंगरूप वाक्य—जैसे यज्ञ के प्रकरण में लिखा है कि 'यवमयश्चरुर्भवति—'यव' का चरु होता है' यहाँ आर्य लोगों में 'यव' शब्द का अर्थ 'जौ' है और म्लेच्छों में 'काँगनी'। तब भ्रम हो जाता है कि इस वैदिक वाक्य में 'यव' शब्द का क्या अर्थ किया जाय। किंतु इसी के अंगभूत अन्य वाक्य में 'यव' का वर्णन करते हुए लिखा है कि "वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम्। मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः।—अर्थात् वसंत में सब फसलों के पत्ते गिर जाते हैं, किंतु यवों में बालें आती हैं और बड़े मजे में रहते हैं।" इस वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि 'यव' शब्द का अर्थ 'जौ' होता है, काँगनी नहीं। काँगनी के लिये उसका प्रयोग भ्रम से होने लग गया।

विवरण—(अर्थात् किसी समानार्थक वाक्य का प्रयोग)—जैसे "वारि अर्थात् पानी" यहाँ 'अर्थात् पानी' लिख देने से 'वारि' शब्द का अर्थ समझ में आ गया।

पूर्वपरिचित पद अथवा पदों का समीपवर्त्ती होना—जैसे "आमों की अवलि पर पिकों की पंक्ति अति मधुर स्वर से कूक रही

है ।" यहाँ अन्य शब्दों के परिचित होने से 'पिक' शब्द 'कोमल' अर्थ में अपने-आप समझ में आ जाता है ।

अभिधा के भेद

अभिधा के तीन भेद हैं—रूढि, योग और योगरूढि । कुछ लोग यौगिक रूढि नाम का एक चौथा भेद भी मानते हैं। इन सबका उदाहरणसहित विवरण प्रकृत ग्रंथ में यथा-स्थान यथेष्ट रूप में आ गया है । अतः यहाँ विस्तार करना व्यर्थ है ।

वाच्य अर्थ

इस अभिधा अथवा शक्ति नामक वृत्ति से जिस अर्थ का बोध होता है उसे 'वाच्य-अर्थ' कहा जाता है । इस बात को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि किसी शास्त्र से, किसी गुरु आदि प्रामाणिक पुरुष के मुख से अथवा व्यवहार आदि से हम पद के जिस अर्थ को समझते हैं उसका नाम वाच्य-अर्थ है ।

इसी वाच्य अर्थ को अभिधेय, शक्य अथवा मुख्य अर्थ के नाम से भी पुकारा जाता है ।

वाचक शब्द

अभिधाशक्ति द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द वाचक कहलाता है ।

लक्षणा

शब्दों का प्रयोग पूर्वोक्त मुख्य अर्थ में तो कहीं उससे अतिरिक्त अर्थ में भी होता देखा जाता है। एक बुढ़िया सास अपनी पतोहू से उसकी सेवा के कारण प्रसन्न होकर कहती है—

'तेरी चूड़ियाँ अमर रहें'; अध्यापक विद्यार्थी से बार-बार अर्थ न समझने पर चिढ़कर कहता है—'तुम तो पागल हो'; पाँच मिनिट के काम में १५ मिनिट लगा देने पर मालिक नौकर से कहता है—'डेढ़ पहर लगा दी'। इन वाक्यों में, क्रमशः, 'चूड़ियों' का अर्थ 'सौभाग्य', पागल का अर्थ 'मंदबुद्धि' और 'डेढ़ पहर' का अर्थ 'पंद्रह मिनिट' है। पर दुनिया के किसी विद्वान् से पूछ देखिए, किसी कोश को उठाकर देख लीजिए—ये अर्थ आप को नहीं मिलेंगे। अतः मानना पड़ता है कि इन अर्थों का 'चूड़ी' आदि शब्दों से कोई सीधा संबंध नहीं—अथवा यों कहिए कि ये अर्थ उन शब्दों के वाच्य नहीं हैं—यदि ऐसा हो तो कोश-आदि में उन शब्दों के ये अर्थ क्यों न लिखे रहते। भला कहिए तो फिर ये अर्थ ज्ञात हुए कैसे ?

विचार करने पर प्रतीत होता है कि—शब्द प्रथमतः अपने संबंध के द्वारा अपने वाच्य अर्थ को समझाता है, पर जब वह अर्थ वक्ता के तात्पर्य को नहीं समझा सकता—उससे जो बात वक्ता कहना चाहता है वह या तो बिलकुल ही या पूरी तरह से समझ में नहीं आती, तब उस पद के वाच्य अर्थ से संबंध रखनेवाले किसी अन्य अर्थ को, जो वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल होता है, उस पद का अर्थ मानना पड़ता है। साराश यह कि—ऐसा अर्थ पद और पदार्थ के पारस्परिक संबंध द्वारा नहीं, किंतु पद के वाच्य अर्थ से संबंध रखने के कारण प्रतीत होता है।

इस बात को यों समझिए कि—प्रत्येक पद दो तरह से अर्थ का प्रतिपादन करता है—एक अपने साक्षात् संबंध द्वारा और दूसरा पर-परा संबंध—अर्थात् अपने संबंधी (वाच्य) अर्थ के संबंध द्वारा। इनमें से पहले संबंध को अभिधा और दूसरे संबंध को लक्षणा कहते

है। जब पहला संबंध काम नहीं कर सकता तभी दूसरा संबंध काम में लाया जाता है। अतएव वृत्तियों में अभिधा का नंबर पहला और लक्षणा का दूसरा है। इस तरह यह बात सिद्ध हुई कि—**वाच्य (मुख्य) अर्थ के संबंध का नाम लक्षणा है।**

इस विषय में 'अभिधावृत्तिमातृका' के कर्त्ता भट्ट मुकुल का यह श्लोक ध्यान में रखने योग्य है—

> "शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
> अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते॥

अर्थात् जिसकी शब्द से सीधी प्रतीति होती है वह अर्थ मुख्य कहलाता है और जो अर्थ अर्थ के द्वारा समझा जाता है—अर्थात् जिस अर्थ के समझने में मुख्य अर्थ बीच में पड़ता है—उस अर्थ को लक्षणा द्वारा प्रतीत हुआ समझना चाहिए।"

लक्षणा की प्रवृत्ति के कारण

अब यह सोचिए कि—लक्षणा होती क्यों है—किन कारणों के उपस्थित होने पर लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। उनमें से सबसे पहला कारण है मुख्य अर्थ का बाधित होना—अर्थात् वक्ता के तात्पर्य के अनुसार मुख्य अर्थ का वाक्य के अर्थ में अन्वित न होना। तात्पर्य यह कि जब मुख्य अर्थ प्रकृत वाक्य में या तो सर्वथा ही अन्वित न हो सके अथवा वह वक्ता के तात्पर्यार्थ को पूर्णतया प्रतीत न करवा सके तब लक्षणा होती है।

पर यदि केवल यही मान लिया जाय तो वक्ता कुछ भी बोले और कुछ भी अर्थ लगावे तो उसे रोका नहीं जा सकता और ऐसी स्थिति में वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है यह समझना एकदम असंभव हो जाय; अतः लक्षणा के दो नियामक कारण और ढूँढ़े गए हैं। वे हैं—

रूढि (प्रसिद्धि) और प्रयोजन। अतः मुख्यार्थ के बोधित होने के अतिरिक्त इन दोनों में से किसी एक का होना भी लक्षणा के लिये अनिवार्य है।

इस सबका सारांश यह हुआ कि—मुख्य अर्थ से संबंध न रखने-वाले अर्थ की तो किसी प्रकार प्रतीति हो ही नहीं सकती, क्योंकि मुख्य अर्थ के संबंध का नाम ही लक्षणा है; पर उस अर्थ को भी वह तभी समझा सकता है कि—जब या तो उस अर्थ में वह शब्द प्रसिद्ध (रूढ) हो गया हो या कोई प्रयोजन सिद्ध करना हो।

तब यह सिद्ध हुआ कि—मुख्यार्थ का वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल अथवा पर्याप्त न होना और उस अर्थ में उस शब्द की प्रसिद्धि अथवा कोई प्रयोजन—इन दोनों में से एक—इस तरह लक्षणा के दो कारण हैं। ये जब तक न हों तब तक कोई लक्षणा नहीं हो सकती।

लक्षणा के लक्षण में सुधार

प्राचीन विद्वान् '*वाच्य अर्थ के संबंध द्वारा वाच्य अर्थ से भिन्न अर्थ की स्मृति' को लक्षणा मानते थे। पर नवीन विद्वानों को यह बात न जँची। कारण, शब्द से अर्थ की स्मृति होने में जिसका ज्ञान कारणरूप हो वह पदार्थ शब्द की वृत्ति (आजकल के व्यवहार के अनुसार शक्ति) कहलाता है; वह वस्तु स्मृतिरूप नहीं, किंतु संबंधरूप है; क्योंकि 'पूर्वोक्त स्मृति (ज्ञान) का ज्ञान' लक्ष्य अर्थ के बोध का कारण नहीं है, किन्तु 'वाच्य अर्थ के संबंध' का ज्ञान कारण है, अतः उसे ही लक्षणा मानना उचित है, न कि उसकी स्मृति को। इस तरह नवीन विद्वान् 'वाच्य-अर्थ के संबंध' को लक्षणा मानने लगे और वही लक्षण 'रसगंगाधर-कार' ने भी माना है।

---

* 'शक्यसंबंधेनाशक्यप्रतिपत्तिर्लक्षणा' इति प्राचीनानां लक्षणम्।

लक्षणा के भेद

ऊपर लिखा जा चुका है कि—लक्षणा के दो कारण हैं—एक रूढ़ि (प्रसिद्धि), दूसरा प्रयोजन। इन दोनों कारणों को लेकर लक्षणा के प्रथमतः दो भेद होते हैं। रूढ़ि के कारण होने वाली लक्षणा को रूढा अथवा निरूढा लक्षणा कहते हैं और प्रयोजन के कारण होनेवाली लक्षणा को प्रयोजनवती। अतिप्राचीन आचार्यों ने रूढा लक्षणा के भेद नहीं माने, पर पीछे के आचार्यो ने उसके गौणी और शुद्धा इस तरह केवल दो भेद माने हैं। साहित्यदर्पणकार के अतिरिक्त अन्य सभी आचार्य निरूढा लक्षणा के इससे अधिक भेद नहीं मानते, पर दर्पणकार के भेदों पर हम बाद में विचार करेंगे।

प्रयोजनवती लक्षणा के साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने छः भेद माने हैं। वे यों हैं—प्रथमतः इस लक्षणा के निरूढा की तरह दो भेद होते हैं—गौणी और शुद्धा। उनमें से प्रयोजनवती गौणी के दो भेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना और प्रयोजनवती शुद्धा के चार भेद होते हैं—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना। इस तरह प्रयोजनवती लक्षणा के गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा जहत्स्वार्था, शुद्धा अजहत्स्वार्था, शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना—ये छः भेद होते हैं। अभिधावृत्तिमातृका के कर्त्ता भट्ट मुकुल एवं शब्दव्यापारविचार तथा काव्यप्रकाश के कर्त्ता मम्मट भट्ट ने इतने ही भेद माने हैं।

जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था के दूसरे नाम

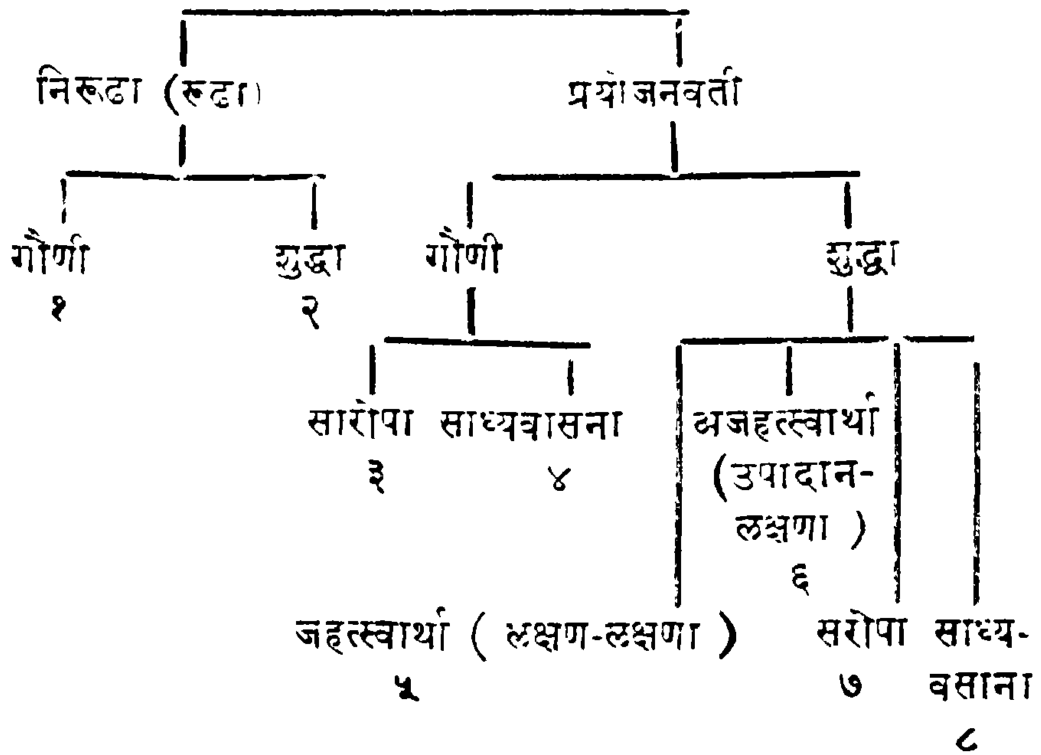
इनमें से जहत्स्वार्था को **जहल्लक्षणा** अथवा **लक्षणलक्षणा** और अजहत्स्वार्था को **अजहल्लक्षणा** अथवा **उपादान-लक्षणा** भी कहते हैं। यह याद रखिए।

जहदजहत्स्वार्था पृथक् नहीं है

वृत्तिवार्त्तिककार अप्पयदीक्षित ने वेदान्तियों के मतानुसार प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा का एक जहदजहल्लक्षणा नाम का भेद और माना है, पर उसके मानने की कोई आवश्यकता नहीं, कारण, वह जहत्स्वार्था से अतिरिक्त नहीं है। नागेश भट्ट ने इस भेद का खंडन करते हुए काव्य-प्रदीप की उद्द्योत नामक व्याख्या में लिखा है—'वस्तुतः तो यह (जहदजहल्लक्षणा) जहत्स्वार्था ही है, क्योंकि जहाँ वाचक शब्द अपने को वाच्य अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के लिए अर्पित कर दे वहाँ जहत्स्वार्था लक्षणा होती है। यह बात दूसरी है कि—वह अपने अर्थ को सर्वांश में छोड़ अथवा किसी एक अंश में।' किन्तु यदि आप यह शंका करें कि—आखिर जहदजहत्स्वार्था में अपने अर्थ का छोड़ना और न छोड़ना दोनों बातें हैं तो सही, ऐसी दशा में प्रमाण के अभाव से न तो उसे जहत्स्वार्था ही कह सकते हैं और न अजहत्स्वार्था ही। तब फिर उसे तीसरा भेद मानना ही उचित है। तो इसका उत्तर वृत्तिदीपिकाकार ने बड़ा सुन्दर दिया है। वे कहते हैं कि—अजहत्स्वार्था का अर्थ है—जो अपने अर्थ को न छोड़े—अर्थात् जहत्स्वार्था न हो। ऐसी दशा में 'प्रतियोगिविशेषित अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी (जिसका अभाव है उस वस्तु) का ज्ञान कारण हुआ करता है—बिना किसी वस्तु का ज्ञान हुए उसके अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता' इस नियम के अनुसार पहले जहत्स्वार्था का ज्ञान होता है और पीछे अजहत्स्वार्था का। तब यदि इस भेद का उक्त (नागेश की बताई) रीति से जहत्स्वार्था में समावेश हो सकता है तो अजहत्स्वार्था तक दौड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। और इस तरह जहदजहत्स्वार्था को जहत्स्वार्था से अतिरिक्त मानने में कोई विशेष कारण नहीं है।

सब भेदों का संग्रह

इस तरह लक्षणा के कुल आठ भेद होते हैं। यही भेद प्रस्तुत पुस्तक में लिखे हैं और यही साहित्य-शास्त्र में उपयोगी भी हैं। स्पष्टता के लिये हम यहाँ इन भेदों का नकशा दे देते हैं—



आठों भेदों के उदाहरण

यद्यपि मूल ग्रंथ में यथास्थान लक्षणा के उदाहरण आवश्यकतानुसार दिए अवश्य हैं, किन्तु वहाँ वे अस्पष्ट-से हैं, अतः स्पष्टता के लिये हम यहाँ नीचे सब उदाहरण लक्षण-संगतिपूर्वक 'हमारे संस्कृत रत्नाकर' के लेख में से उद्धृत करते हैं—

१ **निरूढा गौणी**—जैसे 'अनुकूल'। यहाँ 'अनुकूल' शब्द का मुख्य अर्थ है 'किनारे का अनुगमन करनेवाला—किनारे किनारे

चलनेवाला'। पर जब हम किसी मनुष्य के लिये कहते हैं कि 'यह हमारे अनुकूल है' तब यह अर्थ बाधित हो जाता है, क्योंकि 'हम' कोई नदी तो हैं नहीं कि हमारा कोई किनारा हो और वह उसका अनुगमन करे। हाँ, वह हमारे गुणों का अनुगमन अवश्य कर सकता है। इस तरह 'अनुगुण' शब्द के प्रयोग के स्थान पर लक्षणा के द्वारा 'अनुकूल' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह लक्षणा पारंपरिक प्रसिद्धि के कारण प्रचलित है अतः निरूढा है और अनुकूल तथा अनुगुण में सादृश्य-संबंध होने के कारण गौणी है।

२ **निरूढा शुद्धा**—जैसे 'नीला घड़ा'। यहाँ 'नीला' शब्द के 'नीला रंग' और 'नीले रंगवाला' ये दो अर्थ मानने की अपेक्षा 'नीला रंग' अर्थ मानना सीधा और सर्वसम्मत है। ऐसी दशा में 'नीला रंग' घड़े का विशेषण कैसे हो सकता है, अतः 'नीला' शब्द की 'नीले रंगवाला' इस अर्थ में लक्षणा माननी पड़ती है और तब 'नीला घड़ा' यह प्रयोग ठीक हो जाता है। यह लक्षणा भी पारम्परिक प्रसिद्धि के कारण प्रचलित है, अतः निरूढा है और गुण (नीला रंग) तथा गुणी (नीले रंगवाला) इनमें सादृश्य संबंध न होकर समवाय सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा है।

३ **प्रयोजनवती गौणी सारोपा**—जैसे 'मुख चंद्र'। यहाँ मुख और चंद्र को अभिन्न मानकर उनका विशेषण-विशेष्य के रूप में प्रयोग किया गया है। पर यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध है—मुख और चंद्र को अभिन्न न कभी किसी ने देखा है, न देखने की संभावना है, अतः बाधित है। इसलिये 'चंद्र' शब्द की 'चंद्र के सदृश' अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है और तब 'चंद्रमा के सदृश मुख' इस तरह वाक्य का अर्थ ठीक हो जाता है। यह लक्षणा इसलिये की गई है कि मुख चन्द्रमा से अभिन्न अतएव अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो। इसलिये

प्रयोजनवती है। और मुख तथा चंद्रमा में परस्पर सादृश्य रूप संबंध होने के कारण गौणी है। सारोपा यह इस तरह है कि—उपमा (तुलना) में उपमान—चंद्र आदि—को विषयी और उपमेय—मुख आदि—को विषय कहा जाता है, जहाँ विषय और विषयी दोनों को अलग अलग लिखकर उनका अभेद किया जाता है वहाँ उस अभेद को आरोप कहते हैं। प्रकृत उदाहरण में विषय मुख और विषयी चंद्र दोनों को पृथक्-पृथक् लिखकर अभेद माना गया है, अतः यह लक्षणा सारोपा है।

४ **प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना**—जैसे 'या पुर महलन में बसत विमल सुधाकर-पाँति'। यहाँ असली चंद्रमा महलों में नहीं, किन्तु आकाश में रहता है और न वह एक से अधिक है कि उसकी 'पाँति' हो सके। इस तरह मुख्य अर्थ बाधित है। तब यहाँ 'सुधाकर' शब्द का अर्थ असली चंद्रमा नहीं, किन्तु 'कामिनियों के मुख' करना पड़ता है। यह अर्थ कोश-आदि में लिखा हुआ नहीं है अतः यहाँ लक्षणा है और उपर्युक्त उदाहरण में लिखित प्रयोजन तथा संबंध यह भी होने के कारण उसी के समान प्रयोजनवती तथा गौणी है। साध्यवसाना यह इस तरह है कि—विषय और विषयी में से एक को कहकर दूसरे का उसमें अभेद मान लेना अध्यवसान कहलाता है। यह जहां हो वह साध्यवसाना है। यहाँ विषयी—चंद्रमा—को लिखा गया है और उसमें अनुक्त विषय—मुख—का अभेद मान लिया गया है, अतः साध्यवसाना है।

५ **प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्था**—जैसे 'आपका गाँव तो गंगा में है' यहाँ 'गंगा' शब्द का मुख्य अर्थ होता है 'बहता हुआ जल', उसमें गाँव का होना बाधित है। इसलिये लक्षणा द्वारा 'गंगा' शब्द का 'गंगा का तट' अर्थ करना पड़ता है। अब यह सोचिए कि

जब किसी आदमी का दिमाग ठिकाने हो, वह बिना किसी प्रयोजन के, 'गंगातट' के स्थान पर 'गंगा' शब्द का प्रयोग नहीं कर सकता, इसलिये यही मानना पड़ता है कि वक्ता उनके गाँव की भूमि को उतनी ही शीतल और पवित्र बताना चाहता है जितनी कि स्वयं गंगा है, अतः यह प्रयोजनवती है। गंगा और गंगातट से सादृश्य नहीं, किन्तु समीपता रूपी संबंध है, इसलिये यह शुद्धा है, और 'बहते जल' रूपी मुख्य अर्थ के सर्वथा छोड़ देने के कारण 'जहत्स्वार्था' है। विपरीतलक्षणा (जैसे किसी दुष्ट से कहना कि 'आप तो बहुत भले आदमी हैं') भी इसी भेद के अंतर्गत है।

६ **प्रयोजनवती शुद्धा अजहत्स्वार्था**—जैसे 'बंदूके जा रही हैं' यहाँ बन्दूकें जड़ पदार्थ हैं—वे अपने आप जा नहीं सकतीं, अतः उनका 'जाना' क्रिया का कर्त्ता होना बाधित है। इसलिये यहाँ लक्षणा द्वारा 'बन्दूकें' का अर्थ 'बंदूकवाले आदमी' करना पड़ता है। 'बंदूक वाले' के स्थान पर 'बंदूक' का प्रयोग उनकी भी बन्दूकों के समान हत्या-प्रवणता को सूचित करने के प्रयोजन से किया गया है, अतः यह लक्षणा प्रयोजनवती है। बंदूकों और बंदूकवालों में सादृश्य संबंध नहीं है, किन्तु संयोग संबंध है, अतः यह शुद्धा है और 'जाने' में बंदूकें भी साथ हैं—इसलिये यह अजहत्स्वार्था है।

७ **प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा**—जैसे 'सुख सज्जन को संग'। यहाँ 'सुख' आत्मा का धर्म है—आत्मा में रहनेवाली चीज है, और यहाँ सज्जन के और हमारे मिलने को सुखरूप बताया गया, अतः मुख्य अर्थ बाधित है। इसलिये 'सुख' शब्द का 'सुखकारी' अर्थ में लक्षणा है। 'सुखकारी' को 'सुख' कहना अन्य सुखकारी वस्तुओं से इसका विलक्षणता बताने के लिये है, अतः यह प्रयोजनवती है। सुख और सज्जन-संग में सादृश्य से भिन्न 'पैदा होने' और 'पैदा करने' रूपी (प्रयोज्य-

प्रयोजक भाव) संबंध होने के कारण शुद्धा है और विषय 'सज्जन संग' और विषयी 'सुख' के अलग अलग लिखे रहने के कारण सारोपा है।

८ **प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना**— जैसे 'जनलोचन-आनँद बसत व्रज-वीथिन के बीच'। यहाँ भी भगवान् कृष्ण जनता के नेत्रों के आनंदकारी हैं, न कि आनंद, इसलिये लक्षणा है। प्रयोजन और संबंध वही उपर्युक्त हैं; अतः प्रयोजनवती और शुद्धा है। यहाँ केवल विषयी (आनंद) ही लिखा है और विषय (भगवान् कृष्ण) नहीं, अतः साध्यवसाना है।

लक्षणा के भेदों का उपयोग

इनमें से निरूढा लक्षणा व्यंग्य रहित होती है; अतः साहित्यशास्त्र में उसका कोई चमत्कारी उपयोग नहीं होता, अतएव उसके आधार पर न कोई ध्वनि है, न अलंकार। प्रयोजनवती के भेदों में से गौणी सारोपा का रूपक अलंकार में, गौणी साध्यवसाना का रूपकातिशयोक्ति में और शुद्धा सारोपा तथा शुद्धा साध्यसाना का दोनों प्रकार के हेतु-अलंकार में उपयोग होता है। रहे दो भेद, उनमें से शुद्धा जहत्स्वार्था को मूल मानकर 'अत्यंत तिरस्कृत वाच्य' नामक ध्वनि और शुद्धा अजहत्स्वार्था को मूल मानकर 'अर्थांतर-संक्रमित वाच्य' नामक ध्वनि ये दो भेद होते हैं।

अन्य भेद

पहले लिखा जा चुका है कि—प्रयोजनवती में जो प्रयोजन होता है वह 'व्यंग्य' रूप होता है। यह व्यंग्य दो प्रकार का होता है—एक स्पष्ट, दूसरा अस्पष्ट अथवा गूढ। तदनुसार काव्यप्रकाश के मत में प्रयोजनवती के पूर्वोक्त छः भेदों में से प्रत्येक भेद 'अगूढ व्यंग्य' और 'गूढ़ व्यंग्य' इन नामों से दो-दो प्रकार के हो जाते हैं।

इस तरह काव्यप्रकाश के हिसाब से दो निरूढा के और बारह प्रयोजनवती के यों लक्षणा के सब मिलाकर १४ भेद होते हैं।

साहित्यदर्पण के भेदों पर विचार

आजकल साहित्यदर्पण का अधिक प्रचार है और केवल हिंदी जाननेवालों में तो अधिकांश लोग संस्कृत ग्रंथों में से उसे ही पहचानते हैं। इसका कारण यह है कि एक तो उसमें साहित्यशास्त्रीय यावन्मात्र विषयों का जैसा संग्रह है वैसा अन्यत्र नहीं है और दूसरे वह है भी अन्य ग्रंथों की अपेक्षा सरल। अतः यदि उसमें लिखे भेदों पर विचार न किया जायगा तो, मैं समझता हूँ, यह लेख अधूरा ही रह जायगा। इसलिये आइए जरा उसके भेद-प्रपंच पर भी विचार कर लें।

साहित्यदर्पणकार ने जैसे प्रयोजनवती शुद्धा के चार भेद माने हैं वैसे ही चार-चार भेद निरूढा गौणी, निरूढा शुद्धा तथा प्रयोजनवती गौणी के भी मान लिए हैं। इस तरह चारों भेदों में से प्रत्येक के चार-चार अवांतर भेद हो जाने के कारण आठ निरूढा के और आठ प्रयोजनवती के यों लक्षणा के प्रथमतः सोलह भेद हुए। बाद में निरूढा के भेद तो उनसे आगे बढ़ नहीं पाए, पर बेचारी प्रयोजनवती को उन्होंने और भी धर घसीटा। उसके आठ भेदों में से प्रत्येक को काव्यप्रकाश के अनुसार, अगूढव्यंग्य और गूढव्यंग्य रूप में विभक्त करके आठ के सोलह भेद तो किए सो किए ही, पर उनमें से एक एक को धर्मगत और धर्मिगत इस तरह दो-दो रूप में और मानकर प्रयोजनवती के कुल ३२ भेद कर डाले।

अब निरूढा के आठ और प्रयोजनवती के ३२ इस तरह लक्षणा के जो ४० भेद हुए उन्हें प्रत्येक को पदगत (पद में रहनेवाला) और वाक्यगत (वाक्य में रहनेवाला) इस तरह दो-दो भेदों में बाँटकर लक्षणा के कुल ८० भेद बना दिए।

यह भेदों का आडंबर अनुपयोगी है। यदि इसका फल है तो केवल यही कि विद्यार्थियों की कठिनता बढ़ गई है, इससे अधिक कुछ नहीं, क्योंकि विचार करने पर इनमें से कुछ भेद तो बन ही नहीं सकते और शेष चमत्कारहीन एवं निस्सार हैं।

देखिए, सबसे प्रथम तो जो निरूढा लक्षणा के आठ भेद लिखे गए हैं सो सर्वथा व्यर्थ विस्तार है। कारण, निरूढा लक्षणा में कोई व्यंग्य अथवा प्रयोजन तो होता नहीं—वह तो रूढि-मूलक होती है। प्राचीनों ने तो उसके शुद्धा और गौणी दो भेद भी नहीं किए, क्योंकि रूढ लक्षणावाले शब्द चाहे सादृश्य-संबंध के कारण प्रचलित हुए हों, चाहे अन्य किसी संबंध के कारण; उनका प्रयोग करने में वक्ता को कोई स्वतंत्रता नहीं—वैसे शब्दों का निर्माण तो जनता के वाक्यप्रवाह के वश में है। अतएव तो अभिधावृत्तिमातृका तथा काव्य-प्रकाश में कुमारिल भट्ट का यह श्लोक उद्धृत किया गया है कि—

"निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव स्वशक्तितः॥

अर्थात् कुछ लक्षणाएँ अभिधा की तरह (प्रसिद्धिरूपी) सामर्थ्य के कारण निरूढ हो गई हैं—उनमें रद्दोबदल करने का किसी को कोई अधिकार नहीं। हाँ, कुछ लक्षणाएँ अब भी (प्रयोजनवशात्) बनाई जाती हैं और कुछ अशक्ति (प्रयोजन अथवा रूढि के अभाव) से नहीं। सारांश यह कि निरूढ लक्षणा का निर्माण वक्ता के वश में नहीं। वे तो भाषा के प्रवाह के साथ बनी हुई हैं। हाँ, प्रयोजनवती के विषय में यह बात नहीं है।"

ऐसी दशा में इस निष्प्रयोजन प्रपंच में पड़ना बेचारे छात्रों के क्लेश को बढ़ा देने के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं रखता। यद्यपि उपर्युक्त पद्य में बताई रीति के अनुसार निरूढलक्षणामूलक शब्दों के

संकेतित शब्दों के समान होने के कारण उनके मूल संबंध की खोजना भी चमत्कार की दृष्टि से अत्यावश्यक नहीं है, तथापि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यदि कोई जानना चाहे तो इसके लिये लक्षणरूप संबंध सादृश्यरूप है अथवा अन्य संबंधरूप इतना जान लेना पर्याप्त है और इसी लिये मध्यवर्ती आचार्यों ने निरूढा के गौणी और शुद्धा दो भेद मान लिए हैं, किंतु उनमें जहत्स्वार्था आदि भेदों की कल्पना तो सर्वथा अनपेक्षित ही है। जब कि 'कुशल' आदि शब्दों का आजकल रूढि के कारण मुख्य अर्थों में भी लोग प्रयोग नहीं करते तब उनके ऐसे भेदों का काव्य-आदि में क्या फल हो सकता है? इसलिये निरूढा लक्षणा दो प्रकार की है—यही मानना उचित और सुबोध है और अधिक भेदों की कल्पना अन्याय्य ही है।

यह तो हुई निरूढा के भेदों की बात। अब प्रयोजनवती के भेदों पर विचार करिए। उसमें जो गौणा के भी जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था ये भेद मान लिए गए हैं वे असम्भव हैं, क्योंकि गौणी लक्षणा सर्वदा जहत्स्वार्था ही होती है, अजहत्स्वार्था नहीं। इसका कारण यह है कि अजहत्स्वार्था तभी हो सकती है जब मुख्य अर्थ भी साथ में रहे, पर भला; आप ही सोचिए मुख्य अर्थ का मुख्य अर्थ से सादृश्य कैसा? क्योंकि सादृश्य भिन्न वस्तु के साथ ही होता है, अपने-आपके साथ नहीं। अतः गौणी के जो प्राचीनों ने सारोपा और साध्यवसाना ये दो भेद माने हैं वे ही ठीक हैं, और वे हमेशा जहत्स्वार्था में ही होते हैं*।

---

* तदेतत् स्पष्टीकृतं "शुद्धैव सा द्विधा (काव्यप्रकाश २।१०)" इति प्रतीकं विवृण्वता काव्यप्रदीपकारेण—

"ननु शुद्धैवेत्यनुपपन्नम्। गौण्या अपि तथात्वसंभवात्। तथा हि—'गौर्वाहीक' इत्यादौ लक्षणलक्षणा तावत् स्फुटैव। उपादानलक्षणा

ऐसी दशा में गौणी के जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था ये दो भेद अशुद्ध ही हैं, क्योंकि वह अजहत्स्वार्था हो ही नहीं सकती। अतः यह सिद्ध हुआ कि प्राचीनों की परिपाटी के अनुसार उसके छः भेद ही उचित हैं, न कि साहित्यदर्पण के अनुसार आठ भेद।

अब व्यंग्य के गूढ और स्पष्ट होने में जो चमत्कार की न्यूनाधिकता होती है (क्योंकि गूढ व्यंग्य कुछ लोगों की ही समझ में आ सकता है और अगूढ सबके) उसके अनुसार छः प्रकार की प्रयोजनवती के प्रत्येक भेद के दो-दो प्रकार के होने के कारण काव्यप्रकाश में बताई हुई रीति से गौण के बारह भेद अलबत्ता हो सकते हैं, किंतु धर्मधर्मिगतता और पदवाक्यगतता के कारण और भी अधिक भेदों की कल्पना एक तो चमत्कारशून्य है, दूसरे, लक्षणा वास्तव अर्थ का संबंध है, न कि शब्द का, अतः वह साक्षात् पदगत अथवा वाक्यगत हो भी नहीं सकती, और तीसरे यदि ऐसे चमत्कारशून्य भेद माने जायँ तो इसी तरह जातिगत, गुणगत, क्रियागत और द्रव्यगत आदि अन्य भी अनेक भेदो की कल्पना की जा सकती है इसलिये ऐसे भेदों की कल्पना छात्रों

तु गोवाहीकोभयविषये 'गाव एते समानीयन्ताम्' इत्यादाविति चेत्। नैवम्। अत्रोपचारबीजं सम्बन्धः सादृश्यमन्यो वा? आद्ये शक्यसादृश्यस्य शक्यावृत्तितया कथं शक्यस्यापि लक्ष्यता? येनोपादानलक्षणा (अजहत्स्वार्था) स्यात् (अयं भावः—अजहत्स्वार्थायां हि शक्यरूपस्य स्वार्थस्यात्याग आवश्यकः, अन्यथा अजहत्स्वार्थात्वमेव न स्यात्। स च सादृश्यस्य लक्षणामूलत्वे (प्राचीनमतेनैतत्, नव्यमते सादृश्यस्यैव लक्षणात्वात्) न संभवति, स्वार्थस्यात्यागे सादृश्यस्यासंभवात्। न हि स्वेन स्वस्य सादृश्यं क्वचिद् दृश्यते। तेन सादृश्ये अजहत्स्वार्थात्वं न संभवत्येव)। अन्त्ये (= सादृश्येतरसंबंधसत्त्वे) कथं गौणी, सादृश्यसम्बन्धप्रयुक्तलक्षणाया एव गौणीत्वात्।" इति।

के क्लेश बढ़ाने के अतिरिक्त अन्य किसी विशेष फल को देने में असमर्थ है—इस बात को विद्वान् लोग खूब सोचकर समझ सकते हैं, इसलिये इस विषय का अधिक विस्तार न करना ही उचित है।

इस तरह अन्ततो गत्वा यह सिद्ध हुआ कि—लक्षणा के यदि अधिक से अधिक भेद हो सकते हैं तो चौदह, जिनमें से दो निरूढा के और बारह प्रयोजनवती के। और यदि गूढ व्यंग्य और अगूढ व्यंग्य के कारण भेद न माने जायँ तो अधिक से अधिक दो प्रकार की निरूढ़ा लक्षणा और छः प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणा होती है, जैसी कि प्रकृत पुस्तक में लिखी गई हैं।

लक्ष्य अर्थ और लाक्षणिक शब्द

लक्षणा वृत्ति द्वारा प्रतिपादित होनेवाले अर्थ को लक्ष्य, औपचारिक, लाक्षणिक, अमुख्य आदि शब्दों से कहा जाता है। इसी तरह लक्षणा द्वारा किसी अर्थ के प्रतिपादक शब्द को लक्षक अथवा लाक्षणिक कहा जाता है।

व्यंजना

उक्त दोनों वृत्तियों (अभिधा और व्यंजना) के अतिरिक्त, शब्द में, एक अन्य वृत्ति भी रहती है। उदाहरणार्थ 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य को लीजिए। इस वाक्य को यदि मजदूर मालिक से कहता है तो वह समझता है 'छुट्टी का समय हो गया', यदि ऋषिकुल अथवा गुरुकुल का अध्यापक ब्रह्मचारियों से कहता है तो वे समझते हैं 'सायं सन्ध्यावंदन आरंभ करो', यदि दूकानदार अपने नौकर से कहता है तो वह समझता है 'चीजें समेटो' इत्यादि। भला यह तो बताइए—इस वाक्य के ये अर्थ किस कोश में लिखे हैं? और यदि कहीं नहीं लिखे हैं तो इस वाक्य के द्वारा ये और ऐसे

ही अन्य अर्थ समझे कैसे जाते हैं ? आप यह तो कह नहीं सकते कि ये अर्थ इस वाक्य के द्वारा समझ में ही नहीं आते। अतः मानना पड़ेगा कि इन अर्थों को समझाने की शक्ति भी इस वाक्य में अवश्यमेव है। पर इस शक्ति को 'अभिधा' तो कह नहीं सकते, क्योंकि ये अर्थ इस वाक्य के सीधे अर्थ नहीं हैं—सीधा अर्थ तो है 'एक तेज का पुंज क्षितिज के नीचे चला गया—अथवा आँखों से ओझल हो गया'। बस अभिधा तो यहीं खतम हो जाती है। वह इससे अधिक कोई अर्थ नहीं समझा सकती।

अब यदि आप इन अर्थों को लक्षणा द्वारा ज्ञात समझें तो यह भी नहीं बन सकता, क्योंकि लक्षणा तभी हो सकती है, जब कि मुख्य अर्थ का बाध हो—अर्थात् सीधा अर्थ करने पर या तो उस अर्थ का वाक्य के अन्य अर्थों के साथ अन्वय न हो सके अथवा उस अर्थ से वक्ता का तात्पर्य पूर्णतया न समझा जा सके। सो यहाँ है नहीं; क्योंकि यहाँ ऐसा कोई शब्द नहीं, जिसमें कोई ऐसी गड़बड़ हो। अतः आपको उक्त वाक्य से उक्त अर्थों को समझानेवाली भी एक शक्ति अवश्य माननी पड़ेगी। बस, इसी शक्ति को कहते हैं 'व्यंजना'। सारांश यह कि जब अन्य शक्तियाँ (अभिधा और लक्षणा) काम नहीं करतीं, तब जिस शक्ति से अर्थ का बोध होता है, उस शक्ति का नाम व्यंजना है। अतएव साहित्य-दर्पणकार ने इसका लक्षण लिखा है—

विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो लक्ष्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥

अर्थात् अभिधा आदि शक्तियों के निवृत्त हो जाने पर जिससे अन्य अर्थ का बोध होता है उस वृत्ति को व्यंजना कहते हैं और वह न केवल शब्द में ही रहती है, किंतु अर्थ आदि में भी रहती है।

नागेश भट्ट और अप्पयदीक्षित ने व्यंजना का लक्षण नैयायिकों की प्रक्रिया के अनुसार यों बनाया है—"किसी प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध अर्थ

के विषय में उस ज्ञान के उत्पन्न करानेवाली वृत्ति का नाम व्यंजना है जो ज्ञान मुख्य अर्थ से संबंध रखनेवाले और संबंध न रखनेवाले दोनों को समान रूप से समझा सके और जिसमें मुख्य अर्थ का बाधित होना आदि निमित्त न हों।" इसका सारांश यह हुआ कि—अभिधा केवल प्रसिद्ध (संकेतित) अर्थों को ही समझा सकती है, अप्रसिद्ध अर्थों को नहीं, और लक्षणा मुख्य अर्थ से संबद्ध अर्थ को ही समझा सकती है और सो भी मुख्य अर्थ के बाधित होने पर ही; किंतु व्यंजना के लिये ऐसी किसी भी शर्त की आवश्यकता नहीं है, वह तो सर्वत्र अप्रतिहत रूप से चलती है। अतएव 'सूर्य अस्त हो गया' के उपर्युक्त अर्थ करने में न तो व्याकरण और कोश में उन अर्थों के लिखे रहने की ही आवश्यकता पड़ती है और न मुख्य अर्थ में रुकावट पड़ने की ही।

व्यंजना के सहकारी

पर इसका अर्थ यह न समझिए कि व्यंजना में कोई निमित्त ही नहीं और वहाँ तो जो चाहे सो जैसा चाहे वैसा अड़ंगा लगा सकता है। आचार्य मम्मट ने शब्दव्यापारविचार में लिखा है—"व्यंजक शब्द, व्यंग्य अर्थ के प्रकाशित करने में, प्रतिभा की निर्मलता, चतुर लोगों के परिचय और प्रकरण आदि के ज्ञान की अपेक्षा रखता है—बिना इनके व्यंग्य अर्थ को यथार्थतया समझना अशक्य है।" नागेश ने भी मंजूषा में लिखा है—"व्यंजना से अर्थ का बोध उत्पन्न करने में वक्ता, श्रोता और वाच्य अर्थ की विशिष्टता का ज्ञान और प्रतिभा सहकारी हैं अथवा यों कहिए कि वैसे ज्ञान की उत्पत्ति में परंपरया कारण हैं।"

अतः यह सिद्ध हुआ कि इन सहकारियों के अभाव में कोई भी व्यक्ति व्यंग्य अर्थ को नहीं समझ सकता।

क्या व्यंजना अनुमान है ?

यह भ्रम भी नहीं करना चाहिए कि—व्यंजना और अनुमान एक ही वस्तु है—अर्थात् 'सूर्य अस्त हो गया' इत्यादि वाक्यों के द्वारा उन-उन अर्थों का अनुमान कर लिया जाता है। कारण, अनुमान में हेतु का निर्दोष होना आवश्यक ही नहीं किंतु अनिवार्य है, क्योंकि यदि हेतु दूषित हुआ तो सारा अनुमान दूषित हो जायगा। पर व्यंजना में यह बात नहीं होती, वहाँ हेतु दूषित हो अथवा अशुद्ध, व्यंग्य अर्थ अवश्यमेव प्रतीत हो जाता है। इसी तरह कुछ अन्य बातें भी हैं जिनके कारण व्यंजना को अनुमान नहीं कहा जा सकता। पर उन सब बातों को हम यहाँ प्रपंचित करना उचित नहीं समझते।

व्यंजना अर्थ में भी रहती है

व्यंजना वृत्ति अभिधा अथवा लक्षणा की तरह केवल शब्द से ही संबंध नहीं रखती, किंतु निरे अर्थ से भी व्यंग्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है। सारांश यह कि—व्यंग्य अर्थ की प्रतीति जिस तरह किसी विशेष शब्द के प्रयोग के कारण होती है उसी तरह वाच्य और लक्ष्य अर्थों के एवं चेष्टा आदि के द्वारा भी हो जाती है।

व्यंजक

व्यंजना द्वारा अर्थ का प्रतिपादक शब्द अथवा अर्थ व्यंजक कहलाता है। व्यंजक शब्द को ध्वनि-शब्द भी कहते हैं।

व्यंग्य अथवा ध्वनि

व्यंजना द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ को व्यंग्य अथवा ध्वनि कहते हैं।

व्यंग्यों के भेद

यह नियम है कि—जब अभिधा अथवा लक्षणा के द्वारा शब्द अपना अर्थ उपस्थित कर चुकते हैं, उसके बाद ही व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है। बिना अभिधा अथवा लक्षणा द्वारा शब्द का कोई अर्थ ज्ञात हुए, प्रथमतः ही, किसी शब्द से व्यंग्य अर्थ प्रकाशित नहीं हो सकता। अतः व्यंग्य अर्थ सबसे प्रथम दो विभागों में विभक्त किए जाते हैं—एक वे जो अभिधा से शब्द का अर्थ प्रतिपादन किए जाने के बाद प्रतीत होते है, दूसरे वे जो लक्षणा से अर्थबोध हो चुकने के बाद। इनमें से पहले व्यंग्यों को अभिधामूलक और दूसरे व्यंग्यों को लक्षणामूलक कहते हैं। इन्हीं को काव्यप्रकाशकार आदि, क्रमशः, 'विवक्षितान्यपरवाच्य' और 'अविवक्षितावाच्य' भी कहते हैं।

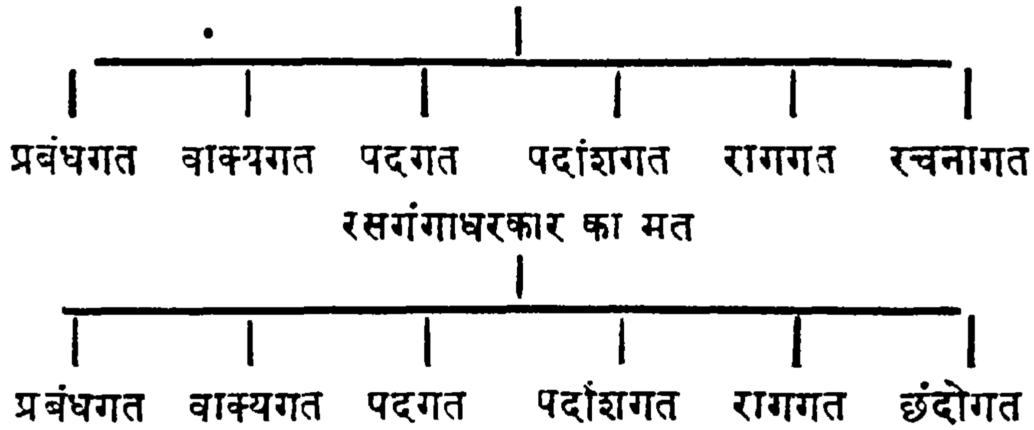
पहले लिखा जा चुका है कि—प्रथमानन में उक्त पाँच व्यंग्यों में से तीन—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि—अभिधामूलक हैं और दो—अर्थांतरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य लक्षणामूलक।

अभिधामूलक व्यंग्यों से रसध्वनि को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि को संलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहा जाता है। उनमें से असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य को ध्वनिकार तथा उनके अनुयायी काव्य-प्रकाशकार आदि ने, इसके व्यंजकों के—प्रबन्ध (पूरा ग्रंथ), वाक्य, पद, पद का एक भाग (प्रत्यय आदि), वर्ण और रचना—इस तरह छः भेद होने के कारण, छः प्रकार का माना है। इन सबका वर्णन प्रथमानन के अंत में किया जा चुका है। वहाँ यह बात भी बताई जा चुकी है कि—वर्ण तथा रचना को रसव्यंजक मानना उचित नहीं, वे गुणों के व्यंजक हैं। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—काव्य-प्रकाशकार आदि के मतानुसार असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के प्रबंधगत, पदगत,

पदैकदेशगत, वर्णगत और रचनागत—इस तरह छः भेद हैं और रसगंगाधरकार के मतानुसार यद्यपि वर्णगत और रचनागत इन दो भेदों के छोड़ देने से चार ही भेद होते हैं, तथापि उन्होंने राग आदि को (आदि शब्द से यहाँ छंद लिया जाना उचित है) भी रस-व्यंजक माना है, अतः उनके मत से भी छः ही भेद हो जाते हैं। स्पष्टता के लिये हम दोनों पक्षों के छहों भेद नीचे लिख देते हैं—

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य

काव्यप्रकाशकार आदि का मत



इस तरह दोनों मतों के अनुसार असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य छः प्रकार के होते हैं, जिनका वर्णन प्रथम आनन के अन्त में किया जा चुका है।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के भेद

इस आनन के आरंभ में संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के भेदों पर ही विचार किया गया है। आइए, हम भी जरा उन भेदों को स्पष्ट कर लें। यह तो पहले लिखा जा चुका है कि—प्रथम वाच्य अर्थ की प्रतीति होने के अनंतर ही व्यंग्य अर्थ प्रतीत होता है। वह व्यंग्य अर्थ दो प्रकार का ही हो सकता है—या तो वस्तुरूप अर्थात् साधारण अथवा अलंकाररूप अर्थात् विचित्रता लिए हुए। ये अर्थ कहीं शब्द

के सामर्थ्य से प्रतीत होते हैं और कहीं अर्थ के सामर्थ्य से। जहाँ शब्द के सामर्थ्य से प्रतीत होते हैं वहाँ ये व्यंग्य शब्द-शक्तिमूलक कहलाते हैं और जहाँ अर्थ के सामर्थ्य से प्रतीत होते हैं वहाँ अर्थशक्तिमूलक। इस तरह प्रथमतः संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के ये ही दो भेद होते हैं। उनमें से शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य के तो उक्तरीत्या केवल दो ही भेद हैं—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। पर अर्थशक्तिमूलक आठ प्रकार का होता है। इसका कारण यह है कि—प्रथम तो, जैसा कि लिखा जा चुका है, प्रत्येक अर्थ वस्तुरूप अथवा अलंकाररूप दो प्रकार का होता ही है, पर काव्यों में उनमें से प्रत्येक फिर दो तरह का देखा जाता है—एक स्वाभाविक अर्थात् प्रकृति-सिद्ध और दूसरा कवि के द्वारा कल्पित। स्वाभाविक अर्थ को साहित्य-शास्त्रवाले 'स्वतःसंभवी' कहते हैं और कविकल्पित को 'प्रौढोक्तिसिद्ध'। अब आपने समझ लिया होगा कि अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य जिन अर्थों के बल पर अभिव्यक्त होते हैं वे चार प्रकार के हुए—स्वतःसंभवी वस्तु, स्वतःसंभवी अलंकार, कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु और कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार। ये चार प्रकार के व्यंजक अर्थ जब कभी किसी अर्थ को अभिव्यक्त करेंगे तो वह अर्थ भी या तो वस्तुरूप होगा या अलंकार-रूप। इस तरह अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के कुल आठ भेद होते हैं; जैसे कि द्वितीय आनन के आरंभ में दिखाए गए हैं। उन नामों को दुहराकर हम भूमिका का व्यर्थ विस्तार नहीं करना चाहते।

किंतु काव्यप्रकाशकार ने प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ को दो प्रकार का माना है—कवि के द्वारा कल्पित और कवि के ग्रंथ में लिखे वक्ता के द्वारा कल्पित। कवि के द्वारा कल्पित को 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' कहते हैं और कवि के लिखे वक्ता द्वारा कल्पित को 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध' कहते हैं। यह जो अंतिम भेद उन्होंने माना है उसके अर्थ भी वही दो प्रकार के होंगे—वस्तुरूप और अलंकाररूप और उनमें से प्रत्येक

उन्हीं दो अर्थों को अभिव्यक्त भी करेगा, अतः इन चार भेदों के और बढ़ जाने के कारण काव्यप्रकाशकार के अनुसार अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य के बारह भेद होते हैं।

इनके अतिरिक्त काव्यों में कहीं-कहीं कोई ऐसे भेद भी दिखाई देते हैं, जिनमें एक व्यंग्य को अभिव्यक्त करने में कुछ शब्दों का सामर्थ्य और कुछ अर्थ का सामर्थ्य दोनों मिलकर काम करते हैं। ऐसे व्यंग्य को 'शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ' कहते हैं।

इस तरह संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के मोटे तौर पर तीन भेद हुए—शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और शब्दार्थोभयशक्तिमूलक। उनमें से प्रथम के दो, द्वितीय के (काव्यप्रकाश के मत से) बारह और तृतीय का केवल एक भेद है।

पर साहित्य-शास्त्र के विधाता इतने मोटे भेद ही इनके करके छोड़ देते यह कैसे हो सकता था? उनके विमर्शानुसार शब्दशक्तिमूलक के उक्त दो भेदों में से प्रत्येक भेद पदगत और वाक्यगत इस तरह दो दो प्रकार का होता है—अतः उसके कुल चार भेद होते हैं। अर्थशक्तिमूलक के बारह भेदों में से प्रत्येक के पदगत, वाक्यगत और प्रबंधगत—इस तरह तीन तीन भेद होते हैं, अतः उसके कुल ३६ भेद होते हैं। हाँ, उभयशक्तिमूलक केवल वाक्यगत ही हो सकता है, अतः उसका एक ही भेद होता है।

रहे लक्षणामूलक दोनों व्यंग्य। सो वे दोनों भी प्रत्येक पदगत और वाक्यगत इस तरह दो प्रकार के होते हैं, अतः चार भेद ये हुए।

इस तरह अभिधामूलक के (४ + ३६ + १ = ४१) कुल ४१ भेद हुए और लक्षणामूलक के ४। सो संलक्ष्यक्रम व्यंग्यों के कुल ४५

भेद हुए। इनमें यदि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यों के उक्त ६ भेद और मिला दिये जायँ तो व्यंग्यों के समग्र शुद्ध (अमिश्रित) भेद ५१ होते हैं।

रसगंगाधर का मत

पर रसगंगाधरकार इतने भेद नहीं मानना चाहते। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, वे कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थों को पृथक् नहीं मानते, अतः उनके मत से अर्थशक्तिमूलक व्यंग्यों के ३६ भेदों में से १२ भेद तो यों कम हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे संलक्ष्यक्रम व्यंग्यों को पूरे प्रबंध से अभिव्यक्त होनेवाले भी नहीं मानते, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि उनने प्रबंधगत भेदों के उदाहरण नहीं दिये हैं। इसका कारण संभवतः यह प्रतीत होता है कि पूरे ग्रंथ से तो कोई वस्तु अथवा अलंकार मात्र ही प्रतीत हो—यह संभव नहीं, और जैसे वाक्य-समूहों को काव्यप्रकाशकारादि ने प्रबंधगतता के उदाहरणों में दिया है, वे एक प्रकार से वक्ता के समग्र अभिप्राय के प्रकाशक वक्तृत्व (Speech) के रूप में एकार्थप्रतिपादक होने के कारण परस्पर सापेक्ष अवांतर वाक्यों से निर्मित एक वाक्य ही होते हैं। इसलिये कदाचित् उन्होंने उनको प्रबंधगतता जैसा महान् नाम देना उचित न समझा हो और वाक्यगत भेदों में ही उनका भी समावेश कर लिया हो, क्योंकि ऐसे एक क्रियावाले अनेक वाक्य तो कई ऐसे एक-एक श्लोकों में भी मिल सकते हैं जो वस्तु से वस्तु को अथवा अलंकार को अभिव्यक्त करते हैं। यदि ऐसा माना जाय तो रसगंगाधरकार के हिसाब से अर्थ शक्तिमूलक व्यंग्यों के पदगत और वाक्यगत ये दो ही भेद होते हैं सो आठ भेद और भी कम हुए। इस तरह सब मिलाकर बीस भेद तो संलक्ष्यक्रमव्यंग्यों में कम हो जाते हैं।

इधर असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यों में भी वे वर्णगत और रचनागत भेद नहीं मानना चाहते—यह लिखा ही जा चुका है। अब यदि नए

बढ़ाये हुए रागगत और छंदोगत भेदों को न सम्मिलित किया जाय तो व्यंग्यों के उक्त शुद्ध भेदों में से ११ भेद कम हो जाने के कारण पंडितराज के मतानुसार केवल २६ ही भेद रह जाते हैं और यदि उन्हें भी सम्मिलित किया जाय तो ३१ भेद होते हैं।

मिश्रित भेद

यह तो हुई शुद्ध भेदों की बात। पर काव्यप्रकाश में इन भेदों का एक दूसरे से मिश्रण चार प्रकार का माना गया है—संदेहसंकर, अंगांगिभाव संकर, एकव्यंजकानुप्रवेशरूप संकर, ये तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि। तदनुसार एक एक भेद के ५१ भेदों को चौगुने करने पर (५१ × ५१ × ४ =) १०४०४ मिश्रित भेद होते हैं।

पंडितराज के हिसाब से उक्तरीत्या मिश्रित भेद (२६ × २६ × ४=) २३६४ अथवा (३१ × ३१ × ४ =) ३८४४ ही होते हैं।

समग्र भेद

यदि इन मिश्रित भेदों में शुद्ध भेद जोड़ दिये जायँ तो प्राचीनों के हिसाब से (१०४०४ + ५१ =) १०४५५ और पंडित-राज के हिसाब से (२३६४ + २६=) २३६३ अथवा (३८४४+३१) ३८७५ व्यंग्यों के समग्र भेद होते हैं।

मिश्रित व्यंग्यों के विषय में साहित्यदर्पण का मतभेद

साहित्यदर्पणकार और उनके पूर्वज चंडीदास, जो काव्य-प्रकाश के एक टीकाकार हैं, मिश्रित भेदों की उक्त संख्या मानने में विप्रति-पत्ति करते हैं। उनका कहना है कि—एक तो अपना अपने साथ कोई मिश्रण नहीं हो सकता, दूसरे जब एक भेद का संकर दूसरे के

साथ लिख दिया गया है तब दूसरे के साथ उस भेद का संकर भी वही चीज हुई—अर्थात् जैसे जब अत्यंततिरस्कृत वाच्य का अर्थांतरसंक्रमित-वाच्य के साथ मिश्रण लिखा जा चुका है तो फिर अर्थांतरसंक्रमित-वाच्य का अत्यंततिरस्कृत वाच्य के साथ मिश्रण कोई अतिरिक्त भेद नहीं रह जाता; अतः ऐसे सब भेदों की गिनती नहीं करनी चाहिए। सो उनके मत से कुल मिश्रित भेद ५३०४ ही होते हैं।

किंतु काव्यप्रदीपकार ने इस मत का खंडन किया है। वे कहते हैं—एक ही ध्वनि यदि भिन्न-भिन्न रूपों में आवे—जैसे कि कहीं दो प्रकार की वस्तुध्वनि हो—तो उनके संकर एवं संसृष्टि मानने में कोई बाधा नहीं, अतः अपना अपने साथ मिश्रण नहीं हो सकता यह कथन निरर्थक है। सो एक बात तो गई। दूसरी बात जो साहित्यदर्पण-कार कहते हैं कि जब अत्यंततिरस्कृतवाच्य का अर्थांतर संक्रमित-वाच्य के साथ मिश्रण को अत्यंततिरस्कृतवाच्य के भेदों में लिख दिए जाने पर अर्थांतरसंक्रमितवाच्य के भेदों में वैसे भेद के लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, सो भी ठीक नहीं। कारण, जैसे सभी ईख के रस साधारण दृष्टि से एक रूप होने पर भी रसज्ञों की दृष्टि में पौंडे आदि विशिष्ट ईख के रस और साधारण ईख के रस के स्वाद में भेद होता ही है। ऐसी दशा में जैसे जहाँ पौंडे के रस की अधिकता और अन्य रस की न्यूनता होगी उसे, और जहाँ अन्य रस की अधिकता और पौंड़े के रस की न्यूनता होगी उसे—इन दोनों मिश्रणों को—एकरूप नहीं कहा जा सकता, वैसे ही जहाँ जिस व्यंग्य की प्रधानता होगी वहाँ उस व्यंग्य के साथ अन्य व्यंग्य का मिश्रण माना जायगा और अन्यत्र अन्य। अतः आपकी यह उपपत्ति भी सुविमृष्ट नहीं है। अब यदि आप कहें कि जहाँ दोनों भेद समान मात्रा में मिश्रित होंगे—किसी एक की प्रधानता न होगी—वहाँ एक भेद आपको और

मानना पड़ेगा। तो यह कोई बात नहीं। क्योंकि उसका दोनों नामों में से किसी भी नाम से व्यवहार किया जा सकता है—अर्थात् उस भेद को किसी के साथ भी किसी का मिश्रण कह देने में कोई हानि नहीं। फिर उसका तीसरा नाम रखने की क्या आवश्यकता है ? अतः साहित्यदर्पण के भेदों की अपेक्षा उपर्युक्त भेद मानना ही उचित प्रतीत होता है।

एक शंका और उसका उत्तर

भेदों के विषय में यह शंका की जा सकती है कि—जब आप लक्षणा के पदगत, वाक्यगत आदि भेद मानने को तैयार नहीं हैं तो व्यंग्यों के ये भेद क्यों मानते हैं ? इसका उत्तर यह है कि—व्यंग्य यदि किसी पद अथवा पद के एक भाग में भी आता है तब भी वह अपने चमत्कार के कारण सारे पद्य को सुशोभित कर देता है। अतएव तो ध्वनिकार ने लिखा है कि—

विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥

अर्थात् चमत्कार के कारण सुशोभित होने वाले आभूषण के द्वारा (जो कि केवल एक अंग में रहता है) जैसे कामिनी सुशोभित होती है, वैसे ही पद से ध्वनित होने वाले व्यंग्य से सुकवि की वाणी सुशोभित होती है। अतः जैसे स्थानों के अनुसार भूषणों का विभाग होता है (यथा कान का आभूषण, हाथ का आभूषण आदि) वैसे ही व्यंग्यों का विभाग भी उचित है। पर लक्षणा में स्वतः कोई चमत्कार नहीं रहता—यदि रहता है तो केवल व्यंग्य के द्वारा ही, अतः उसके विभाग बढ़ाना व्यर्थ ही है।

व्यंग्यों के दो प्रकार

ये सभी व्यंग्य दो प्रकार के होते हैं—एक प्रधान रूप से ध्वनित होनेवाले और दूसरे अप्रधान रूप से। प्रधान रूप से ध्वनित होनेवाले व्यंग्यों को 'ध्वनि' के नाम से पुकारा जाता है, और वह जिस काव्य में ध्वनित होता है उसे भी 'ध्वनि' अथवा उत्तमोत्तम काव्य कहा जाता है। अप्रधान रूप से ध्वनित होने वाले व्यंग्य और उसके ध्वनित करनेवाले काव्य को 'गुणीभूत व्यंग्य' कहते हैं।

गुणीभूत व्यंग्य

गुणीभूतव्यंग्यों का नाम तो इस ग्रंथ में कई जगह आया है, पर उनका विवरण कहीं नहीं है, अतः हम पाठकों के परिचय के लिये इस विषय को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। गुणीभूतव्यंग्य आठ प्रकार के होते हैं—१ अगूढ़व्यंग्य, २ अपरांगव्यंग्य, ३ वाच्यसिद्ध्यंग-व्यंग्य, ४ अस्फुटव्यंग्य, ५ संदिग्ध-प्राधान्यव्यंग्य, ६ तुल्यप्राधान्य-व्यंग्य, ७ काक्वाक्षिप्तव्यंग्य, और ८ असुंदरव्यंग्य।

अगूढव्यंग्य—जिस व्यंग्य को सहृदयों के अतिरिक्त साधारण लोग भी सहज में समझ लें, वह व्यंग्य एक प्रकार से वाच्य अर्थ के ही समान हो जाता है। ऐसा व्यंग्य अगूढव्यंग्य कहलाता है। यह व्यंग्य प्रधान होने पर भी चमत्कारजनक नहीं होता; अतः गुणीभूत-व्यंग्यों में गिना जाता है। जैसे 'वह तो जीता ही मरा है' 'यहाँ कुछ करने योग्य नहीं है' यह व्यंग्य स्पष्ट प्रतीत होता है।

२ अपरांगव्यंग्य—जो व्यंग्य अन्य किसी व्यंग्य का अंग—उपकारक—हो जाता है वह अपरांगव्यंग्य कहलाता है। जैसे किसी मृतक को देखकर यह कहना कि 'यह वह पुरुष है जिसने सैकड़ों को रणांगण में सुलाया है'। यहाँ वीररस करुणा का अंग हो गया है।

३ **वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य**--जिस व्यंग्य के बिना वाच्य अर्थ सिद्ध न हो सके वह व्यंग्य वाच्यसिद्ध्यंग कहलाता है। जैसे 'वैरिवंश दवानल' इस राज-वर्णन में जब तक वैरियों के वंश का 'बाँस' रूप होना न माना जाय (जो कि शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य है) तब तक राजा को 'दवानल' कहना नहीं बन सकता, अतः यह व्यंग्य (बाँस होना) वाच्य (दवानल) की सिद्धि का अंग हो गया है।

४ **अस्फुट व्यंग्य**--जिसे सहृदय पुरुष भी कष्ट से समझ सकें वह व्यंग्य अस्फुट कहलाता है। जैसे 'न तुम्हारे देखने में सुख है, न न देखने में' इस नायिका की उक्ति में 'जैसे तुम्हारा अदर्शन न हो और वियोग का भय न रहे ऐसा करिए' यह व्यंग्य।

५--**संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य**—जिस व्यंग्य की प्रधानता संदिग्ध हो वह व्यंग्य संदिग्धप्राधान्य कहलाता है। जैसे 'शिव जी पार्वतीजी के बिंबाफल-सदृश ओठों को निहारने लगे'। यहाँ 'चुंबन की इच्छा' रूपी व्यंग्य प्रधान है अथवा 'निहारना' रूपी वाच्य— यह कहना कठिन है, क्योंकि व्यंग्य और वाच्य दोनों ही रसा-विभावक हैं।

तुल्यप्राधान्य व्यंग्य—जहाँ वाच्य अर्थ भी उतना ही प्रधान हो जितना कि व्यंग्य अर्थ वह व्यंग्य तुल्यप्राधान्य व्यंग्य कहलाता है। जैसे रावण के दिग्विजय के समय परशुराम के दूत अथवा मंत्री ने रावण से कहा कि 'ब्राह्मणों का अपमान न करने में आपका ही भला है और नहीं तो आपकी अपने मित्र परशुराम से तन जायगी (अथवा ठन जायगी)' यहाँ 'परशुराम से तन जाना' रूपी वाच्य की और 'परशुराम क्षत्रियों की तरह राक्षसों का भी क्षणभर में क्षय कर डालेंगे' इस व्यंग्य की प्रधानता समान है। दोनों ही एक-से चमत्कारी हैं।

७ **काकाक्षिप्त व्यंग्य**—प्रश्न आदि के समय हम लोग जो अपना स्वर बदल देते हैं उस 'स्वर बदलने' को संस्कृत में 'काकु' कहते हैं। जो व्यंग्य इस तरह स्वर बदलने से प्रतीत होता है उसे काकाक्षिप्त व्यंग्य कहते हैं। जैसे 'मैं कुछ नहीं कर सकता'! इस वाक्य में एक तरह के स्वर से क्रोध और अन्य तरह के स्वर से बेबसी प्रकट होती है। ये दोनों व्यंग्य गुणीभूत हैं।

८ **असुन्दर व्यंग्य**—जिस व्यंग्य में वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार न हो उस व्यंग्य को असुंदर कहते हैं। जैसे 'कुंज में से पक्षियों के उड़ने की खड़बड़ाहट सुन कर बहू के अंग-अंग में वेदना उठ खड़ी हुई। यहाँ 'जिसे संकेत दिया था वह कुंज में घुसा' इस व्यंग्य की अपेक्षा 'बहू के अंग-अंग में वेदना उठ खड़ी हुई' यह वाच्य रसानुगुण होने के कारण कहीं अधिक चमत्कारी है।

शब्दशक्तिमूलक व्यंग्यों का शास्त्रार्थ

इस भाग के आरंभ में शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक व्यंग्यों के भेद लिखने के अनंतर ही शब्दशक्तिमूलक व्यंग्यों की प्रतीति के विषय में तीन मत दिखाए हैं। वे मत शास्त्रार्थी भाषा में होने के कारण विद्यार्थियों को कुछ कठिन पड़ते हैं। वे सरलता से समझ में आ जायँ इसलिये प्रथमतः हम यहाँ उनका संक्षेप सरल भाषा में लिखे देते हैं।

१—व्यंग्यों के भेद लिखते समय यह लिखा जा चुका है कि—अभिधामूलक व्यंग्यों के प्रथमतः दो भेद हैं—एक शब्दशक्तिमूलक, दूसरे अर्थशक्तिमूलक। इनमें से शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य वहीं होता है जहाँ अनेकार्थक शब्द हों और उनकी सहायता से अन्य अर्थ प्रकट हो। अब देखना यह है कि—अनेकार्थक शब्दों का प्रस्तुत श्लेष से भिन्न स्थानों

पर एक ही अर्थ प्रस्तुत होता है—दूसरे अर्थ का प्रकरण से कोई संबंध नहीं होता। पर ऐसी दशा में भी दूसरा अर्थ हमें प्रतीत अवश्य हो जाता है। यह कैसे होता है?

इस विषय में प्राचीन आचार्यों का मत है कि—द्वितीय (अप्रस्तुत) अर्थ अभिधा द्वारा नहीं, किंतु व्यंजना द्वारा प्रतीत होता है, और अतएव उसे व्यंग्य कहा जाना चाहिए। यद्यपि वह द्वितीय अर्थ भी हमें संकेतज्ञान के द्वारा (कोष आदि से शब्दार्थ ज्ञात होने पर) ही विदित होता है, अतः नियमानुसार उसे भी वाच्य अर्थ ही माना जाना उचित है, तथापि वे कहते हैं कि—कोष आदि के द्वारा हमें एक शब्द के अनेक अर्थ ज्ञात होने पर भी संयोगादिक (जिन्हें इस ग्रंथ में कहीं कहीं प्रकरणादिक के नाम से भी व्यवहृत किया है और जिनका पृ० ३४ से पृ० ६० तक वर्णन है) अन्य अर्थ की उपस्थिति को रोक देते हैं। अतः यहाँ अभिधा शक्ति का काम नहीं देती और वह अर्थ व्यंजना द्वारा प्रतीत होता है। व्यंजना द्वारा प्रतीत होनेवाले अर्थ में ऐसी कोई रोक-टोक अड़ंगा नहीं लगा सकती, क्योंकि वह मानी ही रोकटोकों के उड़ा देने के लिये जाती है। यह है प्रथम मत का संक्षेप।

२—द्वितीय मत में यह दिखाया गया है कि—संयोगादिकों को दूसरे अर्थ का रोकनेवाला मानना अनुचित है। वे तो शब्द के अनेक अर्थों में से वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है—अर्थात् प्रस्तुत अर्थ कौन है—केवल इतना मात्र समझा देते हैं। यह बोध हो जाने पर कि—इस शब्द का यह अर्थ ही वक्ता के तात्पर्य के अनुसार है, हमें इस अर्थ का अन्वयज्ञान होता है, अन्य का नहीं। सारांश यह कि—न तो संयोगादिकों के द्वारा केवल एक अर्थ का स्मरण ही होता है और न अप्रस्तुत अर्थ की रुकावट, किंतु उनके द्वारा वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है इस बात का निर्णय हो जाता है—अर्थात् अमुक शब्द के अमुक

अमुक अर्थों में से यहाँ अमुक अर्थ ही वक्ता के अभिप्राय के अनुकूल है यह निश्चित हो जाता है। इस निश्चित अर्थ का ही हमें अन्वयज्ञान होता है और अन्य अर्थ प्रतीत होने पर भी प्रकृत भाग में अन्वित नहीं होते। ऐसी दशा में भी जो अन्य अर्थ प्रतीत हो जाता है वह अभिधा द्वारा प्रतीत नहीं माना जा सकता, क्योंकि अभिधा में तात्पर्य-निर्णय हेतु होने के कारण जिस अर्थ में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय हो वही अर्थ अभिधा द्वारा प्रतीत करवाया जा सकता है, अन्य नहीं। इस अवस्था में उस अन्य अर्थ को व्यंजना द्वारा प्रतीत अतएव व्यंग्य माने बिना गुजारा नहीं।

३—तृतीय मत में इन दोनों मतों का खंडन किया गया है। वे प्रथम मत की इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि—अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थों में से, प्रकरणादि के द्वारा, हमें केवल एक ही अर्थ का स्मरण होता है, अन्य का नहीं। कारण, संस्कार और उसके उद्बोधक दोनों के रहने पर स्मरण न होना असंभव है। यदि अनेकार्थक शब्द के एक ही अर्थ का स्मरण हो, अन्य का नहीं, तो 'पय सुंदर है' इस वाक्य के 'पय' शब्द का अर्थ जब वक्ता के तात्पर्य के विरुद्ध कोई 'जल' कहे तो प्रकरणादि समझनेवाला यह कहता देखा जाता है कि 'महोदय, यहाँ इस शब्द का अर्थ दूध है, जल नहीं।' ऐसी दशा में यदि श्रोता को प्रकरणादि के कारण दूसरा अर्थ उपस्थित ही न होता हो तो वह उस अर्थ का निषेध कैसे कर सकता है। अतः प्रथम मत कुछ नहीं।

अब दूसरे मत को लीजिए। उसमें जो यह लिखा है कि—वक्ता का तात्पर्य जिस अर्थ में नहीं होता वह (अर्थात् अप्रस्तुत) अर्थ व्यंजना द्वारा विदित होता है, क्योंकि अभिधा द्वारा प्रतीत होनेवाला अर्थ बिना तात्पर्य-निर्णय के प्रतीत नहीं हो सकता। सो यह उचित नहीं।

इसका हेतु यह है कि 'तात्पर्यज्ञान अभिधा से उत्पन्न होनेवाले बोध में कारण है' इस नियम में कोई उपपत्ति नहीं है। तात्पर्यज्ञान का उपयोग तो केवल इस बात में है कि—इस शब्द के द्वारा यहाँ यही अर्थ सिद्ध होता है, दूसरा अर्थ तो केवल प्रतीत होता है, वह प्रवृत्ति के योग्य नहीं है। अतः उक्त स्थलों में दोनों (प्रस्तुत और अप्रस्तुत) अर्थों को अभिधा द्वारा प्रतीत मानने में कोई बाधा नहीं। यह तो हुई सभी अनेकार्थक स्थलों में यदि आप अन्य अर्थ की भी प्रतीति मानें तब की बात।

पर यदि आप वक्ता के तात्पर्यज्ञान अथवा श्रोता की विशेष प्रकार की बुद्धि-शक्ति को कारण मानकर यह मानें कि—अप्रस्तुत अर्थ को समझानेवाली व्यंजना कहीं उल्लसित होती है और कहीं नहीं, तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि तात्पर्यज्ञान को तो, जैसा कि कहा जा चुका है व्यंजना का कारण माना नहीं जा सकता—वह तो केवल इतना मात्र समझा देता है कि यहाँ इस शब्द से यह अर्थ अभीष्ट है। रही श्रोता की बुद्धि-शक्ति। सो उसे व्यंजना को उल्लसित करनेवाली मानने के बजाय प्रकरणादि के ज्ञान से दबी हुई अभिधा शक्ति को उद्बुद्ध करनेवाली ही क्यों न मान लिया जाय। वह किसी पद की अन्य अर्थ समझानेवाली अभिधा को उद्बुद्ध न कर व्यंजना को खड़ी करे—यह मानना उपपत्ति-रहित है। इस तरह दोनों मत शिथिल हो जाते हैं।

अब यदि यह माना जाय कि—जहाँ कोई बाधा न हो वहाँ तो दूसरे अर्थ को भले ही अभिधा द्वारा ही सिद्ध समझ लो, किंतु जहाँ दूसरा अर्थ बीभत्स, अतएव बाधित, हो वहाँ उस अर्थ की प्रतीति अभिधा के द्वारा नहीं हो सकती—वहाँ तो व्यंजना माननी ही पड़ेगी, तो यह कोई बात नहीं। क्योंकि 'बाधित होने का ज्ञान शब्द से उत्पन्न होनेवाले बोध को नहीं रोक सकता'—इत्यादि उपाय,

जो कि 'इहिं पुर सौधन के शिखर मिलत सूर सों जाइ' इत्यादि कल्पित अर्थों के समझने के लिये किए जाते हैं, उनसे यहाँ भी बोध हो सकता है और जैसे वहाँ बिना व्यंजना के काम चलता है वैसे यहाँ भी चल जायगा। अतः द्वितीय (अप्रस्तुत) अर्थ का बोध व्यजना द्वारा होता है यह नहीं माना जा सकता, किंतु वह अर्थ भी अभिधा द्वारा ही ज्ञात होता है—यही सिद्ध होता है। हाँ, प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों की उपमा अलबत्ता व्यंजना द्वारा प्रतीत होती है।

इस तरह प्राचीनों की शिथिल होती युक्ति को सहायता देने के लिये पंडितराज ने एक ऐसा स्थल भी ढूँढ़ निकाला है जहाँ अप्रस्तुत अर्थ बिना व्यंजना के प्रतीत ही नहीं हो सकता। वह स्थल है—योगरूढ शब्दों से बने पद्य। ऐसा नियम है कि योगरूढ़ शब्दों से जब प्रस्तुत अर्थ प्रतीत हो चुके तब भी अप्रस्तुत यौगिक अर्थ अभिधा द्वारा प्रतीत नहीं हो सकता, क्योंकि रूढि के द्वारा यौगिक अर्थ हटा दिया जाता है। और न वह अर्थ लक्षणा द्वारा ही प्रतीत हो सकता है, क्योंकि जब तक मुख्य अर्थ में बाधा न आवे तब तक लक्षणा होती नहीं। अतः उस अर्थ को व्यंजना द्वारा ही अवगत हुआ मानना पड़ेगा और तब अन्य अप्रस्तुत अर्थों को भी व्यंजना द्वारा प्रतीत मानना ही सरल पक्ष है—यह सिद्ध हो जाता है। यह है उन सब मतों का संक्षेप।

आशा है कि इतना संक्षेप पढ़ लेने से वह विस्तार उतना कठिन नहीं रह जायगा। इसी लिए यह प्रयास किया गया है।

संयोगादिक और व्यंग्यों के उदाहरण

इसके आगे प्रस्तुत ग्रंथ में संयोगादिक (जिन्हें एक शब्द के अनेक अर्थों में से, प्रकृत में, वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है यह

समझने का हेतु माना जाता है) का वर्णन और शब्द-शक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और उभयशक्तिमूलक व्यंग्यों के उदाहरण दिए गए हैं, उनका विवेचन किया गया है तथा कहीं-कहीं काव्यप्रकाश में आए उदाहरणों पर भी विचार किया गया है। इनमें से व्यंग्यों के भेदों पर तो हम पहले विचार कर ही आए हैं और शेष बातों का सविस्तर वर्णन ग्रंथ में है, अतः उसे यहाँ प्रपंचित करना व्यर्थ है।

रूपक का शास्त्रार्थ

शब्दशक्तियों के विषय में हम विस्तार से लिख चुके हैं। इसके आगे इस ग्रंथ में 'रूपक में लक्षणा होती है अथवा नहीं'—इस विषय पर सविस्तर विचार किया गया है। वहाँ प्रथमतः गौणी सारोपा लक्षणा का शाब्दबोध दिखाते हुए प्राचीनों के तीन मतों का वर्णन करके यह सिद्ध किया गया है कि 'मुख चंद्र' आदि वाक्यों में 'चंद्र-सदृश' अर्थ होने पर भी उपमा से क्या विलक्षणता है। फिर नवीनों अर्थात् अप्पयदीक्षित—का मत दिखाते हुए 'वृत्तिवार्तिक' और 'चित्र मीमांसा' में लिखे उनके विवेचन से भी सुन्दर विवेचन करके यह बात सिद्ध की गई है कि—रूपक में लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है और तब स्वयं अपना मत देते हुए अकाट्य युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि रूपक में सादृश्य का प्रवेश मानना अनिवार्य है, अतः लक्षणा माने बिना निर्वाह नहीं।

साध्यवसाना लक्षणा

अन्त में साध्यवसाना लक्षणा का शास्त्रीय रीति से शाब्दबोध समझा कर व्यंग्यप्रकरण समाप्त कर दिया गया है।

श्रीहरिः

हिंदी-रसगंगाधर

प्रथम भाग

(आरम्भ से लेकर द्वितीय आनन के अलङ्कार प्रकरण से पूर्व तक)

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः ।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता-
मलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥

❀ ❀ ❀ ❀

अति-कलेस तें मनन-जलधि के उदर-माँझ दै गोत घनी ।
मैं जग में कीन्हीं प्रकटित यह, "रसगंगाधर" ललित मनी ॥
सो हरि अंधकार अंतर को हिय शोभित ह्वै गुनि-गन के ।
सकल अलकारन के, करि दै गलित गरब उत्तमपन के ॥

पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी

श्रीहरिः

हिंदी-रसगंगाधर

प्रथम-भाग

तरनि-तनूजा-तट-तरुन तरुनीवृंद मझार।
जे विहरत, ते करहु मुद-मंगल नंदकुमार ॥

मंगलाचरण

स्मृताऽपि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी ॥

❀ ❀ ❀ ❀

सुमिरत हू जो हरत नरन को तरुनातप करुना करिकैं।
घेरी शत-शत बिजुरिन ते जो भङ्ग-रहित तन-दुति धरिकैं ॥
कल कलिन्दतनया के तट के सुरतरु जाके हैं आश्रय।
सो मेघन की माल अलौकिक मम मति चुम्बन करहु सदय ॥

जो केवल स्मरण करने पर भी मनुष्यों के तीव्र आतप (संसार के ताप) को, दया करके हरण कर लेती है, जो, जिनकी शरीर-

कांति में भग्न होने का स्वभाव ही नहीं है, उन सैकड़ों बिजलियों (गोपांगनाओं) से परिवृत है और जिसका श्रीकालिंदी के तट के सुरतरु (कदंब) आलंबन हैं, वह अनिर्वचनीय मेघमाला (श्री कृष्णचंद्र की मूर्त्ति) मेरी बुद्धि का चुंबन करनेवाली बने—मेरी बुद्धि में विराजमान रहे।

गुरु-वन्दना

श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः,
काणादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत्।
देवादेवाऽध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयम्,
शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणितिरभूत्सर्वविद्याधरो यः॥

पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया।
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्॥

जिन ज्ञानेन्द्र भिक्षु ते सीखी सविधि ब्रह्म-विद्या सगरी।
गुरु महेन्द्र ते कणभुज-गौतम-गहन-गिरा अध्ययन करी॥
शास्त्र जैमिनी को जिन सीख्यो खण्डदेव तें शिवनगरी।
पाइ शेष तें महाभाष्य जिन हृदय सकल विद्यान धरी॥

जिनकी लीला तें झरत शुचि पियूष पाषान।
लक्ष्मीपति ते पेरुभट बन्दौं गुरु सु-महान॥

जिन्होंने संपूर्ण ब्रह्मविद्याका विस्तार (वेदांत शास्त्र) श्रीमान् ज्ञानेंद्र भिक्षु से प्राप्त किया, कणाद और गौतमकी गंभीर वाणियाँ (वैशेषिक और न्याय शास्त्र) महेंद्रशास्त्रीसे समझीं—न कि रट लीं,

जिनने परम प्रसिद्ध खंडदेव पंडित से काशीजी में जैमिनीय शास्त्र (पूर्वमीमांसा) का अध्ययन किया और शेष वीरेश्वर पंडित से पतंजलि की निर्मल उक्तियाँ (महाभाष्य) प्राप्त कीं; इस तरह जो सब विद्याओं के निधान थे, जिनकी लीला से पाषाण (मेरे जैसे जड़) से भी अमृत (सरस कविता) झर रहा है, उन लक्ष्मी (मेरी माता) के पति अथवा विष्णुरूप पेरुभट्ट नामक पूज्य पितृदेव का मैं अभिवादन करता हूँ।

प्रबंध-प्रशंसा

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता-
मलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥

❀ ❀ ❀ ❀

अति-कलेस तें मनन-जलधि के उदर-मांझ दै गोत घनी।
मैं जग में कीन्हीं प्रकटित यह "रसगंगाधर" ललित मनी ॥
सो हरि अंधकार अंतर को हिय शोभित ह्वै गुनि-गन के।
सकल अलंकारन के, करि दै गलित गरब उत्तमपन के ॥

मैंने मननरूपी जलधि के उदर के अन्दर न कि बाहर ही बाहर, बड़े क्लेशों के साथ—न कि मनमौजीपन से, गोता लगाकर—अर्थात् पूर्णतया सोच-समझकर, यह "रसगंगाधर" रूपी सुंदरमणि निकाली है। सो यह (रसगंगाधर मणि) (साहित्य-शास्त्र-विषयक) भीतरी अंधकार को हरण करती हुई और गुणवानों के हृदय पर आरूढ होती हुई सभी अलंकारों (अलंकारशास्त्रों + आभूषणों) को, (इसके

प्रभाव के कारण) अपने आप ही दूर हो गया है गर्व जिनका ऐसे बना दे ।' अर्थात् इसमें अन्य सब अलंकार-शास्त्रों से उत्कृष्ट होने की योग्यता है ।

परिष्कुर्वन्त्वर्थान् सहृदयधुरीणाः कतिपये
तथापि क्लेशो मे कथमपि गतार्थो न भविता ।
तिमीन्द्राः संक्षोभं विदधतु पयोधेः पुनरिमे
किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरेः ॥

करैं परिष्कृत गहरे, अर्थनि, सहृदयतम बुधजन केते ।
किन्तु कलेस न मम यह कैसेहु होय व्यर्थ यों करिबे ते ॥
करत छुभित जलनिधि कों सब दिन मगरमच्छ भारी-भारी ।
पै ये मन्दर गिरि के श्रम के ह्वै न सकें निष्फलकारी ॥

सहृदय पुरुषों के अग्रणी कुछ विद्वान् लोग अर्थों का परिष्कार करते रहें—उन्हें गम्भीर विचारों से भूषित करते रहें, पर ऐसा करने से मेरा यह क्लेश—यह अत्यधिक श्रम, किसी प्रकार भी, गतार्थ नहीं हो सकता। भले ही बड़े बड़े मगर-मच्छ समुद्र को अच्छी तरह क्षुब्ध करते रहें; पर क्या इससे अलौकिक रत्नों का उत्पादन करनेवाला मंदराचल का परिश्रम व्यर्थ हो सकता है ? अर्थात् इन पंडितों का परिष्कार करना शास्त्र को निरा क्षुब्ध करना है; पर मैंने उसे मथकर, उसमें से, यह मणि निकाली है; अतः उनका परिश्रम निष्फल है और मेरा सफल ।

अन्य निबंधों से विशेषता

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित् ।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥

❀ ❀ ❀

धरी बनाइ नवीन उदाहरनन की कविता ।
परकी कछु हु छुई न, इहाँ मैं, पाइ सुकवि-ता ॥
मृग कस्तूरी-जननशक्ति राखत जो निज तन ।
कहा करत वह सुमन-गन्ध-सेवन हित सु जतन ॥

मैंने, इस ग्रंथ में, उदाहरणों के अनुरूप—जिस उदाहरण में जैसा चाहिए वैसा—काव्य बनाकर रक्खा है, दूसरे से कुछ भी नहीं लिया, क्योंकि कस्तूरी उत्पन्न करने की शक्ति रखनेवाला मृग क्या पुष्पों की सुगंध की तरफ मन भी लाता है ? अपनी सुगंध से मस्त उसे क्या परवा है कि वह पुष्पों के गंध की याद करे ।

निर्माता और निबंध का परिचय

मननतरितीर्णविद्यार्णवो जगन्नाथपण्डितनरेन्द्रः ।
रसगङ्गाधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम् ॥

❀ ❀ ❀ ❀

मनन-तरी तरि विद्या-जलनिधि जगन्नाथ पण्डित-नरनाथ ।
"रसगङ्गाधर" नामक काव्यालोचन करत कुतूहल-साथ ॥

जिसने मनन-रूपी नौका से विद्यारूपी समुद्र को पार कर लिया है, वह पंडितराज जगन्नाथ, कुतूहल के साथ, काव्यों की वह आलोचना कर रहा है, जिसका नाम है "रसगंगाधर"।

शुभाशंसा

रसगङ्गाधरनामा सन्दर्भोयं चिरञ्जयतु ।
किञ्च कुलानि कवीनां निसर्गसम्यञ्चि रञ्जयतु ॥

❀ ❀ * *

रसगङ्गाधर नाम यह ग्रंथ सरबदा जय लहहु ।
सहज सुभग कविराज-कुल याहि पाइ प्रमुदित रहहु ॥

यह "रसगंगाधर" नामक ग्रंथ बहुत समय के—सदा के लिये विजय प्राप्त करे और स्वभाव से ही उत्तम—जिनको उत्तम बनाने के लिये यत्न की आवश्यकता नहीं, उन कविवरों के समाजों को सुखी करता रहे।

ग्रंथारंभ

काव्य का लक्षण

जिस काव्य के यश, परम-आनंद, गुरु, राजा और देवताओं की प्रसन्नता आदि अनेक फल हैं, उस काव्य की व्युत्पत्ति दो व्यक्तियों के लिये आवश्यक है। उनमें से एक है कवि—अर्थात् काव्य बनानेवाला और दूसरा है, उससे आनंद प्राप्त करनेवाला—उसके मर्मों को समझनेवाला, सहृदय। (सच पूछिए तो, काव्य से आनंद उठाने के लिये, सहृदयता ही मुख्य साधन है। कवि भी यदि सहृदय हुआ, यद्यपि अच्छे कवियों की सहृदयता अनिवार्य है, तो उसे कविता-गत आनंद की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।) इस कारण, गुण, अलंकार आदि से जिसका निरूपण किया जाता है, वह काव्य क्या वस्तु है—किसे काव्य कहना चाहिए और किसे नहीं—इस बात को, पूर्वोक्त दोनों व्यक्तियों को, समझाने के लिये पहले उसका लक्षण निरूपण करते हैं।

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करनेवाले—अर्थात् जिससे रमणीय अर्थ का बोध हो, उस शब्द को काव्य कहते हैं।

रमणीय अर्थ वह है, जिसके ज्ञान से—जिसके बार बार अनुसंधान करने से—अलौकिक आनंद की प्राप्ति हो।

यद्यपि यह लक्षण बड़ा ही सरल और संक्षिप्त है तथापि इतना मात्र कह देने से शास्त्रीय पद्धति से विचार करनेवालों का कार्य नहीं चल सकता, अतः इसका विवेचन किया जा रहा है—

'रमणीय' इतना मात्र कह देने से किसी भी अच्छे पदार्थ में अतिव्याप्ति हो सकती है, क्योंकि रमणीयता का कोई ठिकाना नहीं—किसी को कुछ रमणीय प्रतीत होता है तो किसी को कुछ। अतः यहाँ पर रमणीयता का अर्थ है 'लोकोत्तर (अलौकिक) आनंद के उत्पादक ज्ञान का विषय होना' अर्थात् जिस अर्थ के ज्ञान से अलौकिक आनंद प्राप्त हो वह यहाँ 'रमणीय' कहा गया है।

पर इतने से भी बात पूर्णतया ठीक नहीं होती, क्योंकि अलौकिकता का अर्थ यदि 'थोड़ी बहुत अलौकिकता' माना जाय तो ऐसी अलौकिकता सर्वत्र प्राप्त हो सकती है और यदि 'अत्यन्त अलौकिक' माना जाय तो ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी वस्तु है नहीं, अतः कहते हैं कि 'लोकोत्तरता का अर्थ है सहृदयों का अनुभव जिसका साक्षी है वह आनंद में रहनेवाला जातिविशेष, जिसे दूसरे शब्दों में 'चमत्कारत्व' कहा जा सकता है, और उस चमत्कारत्व से अवच्छिन्न (चमत्कार) का कारण (उत्पादक) है एक प्रकारकी बार-बार की जानेवाली भावना, जो बार-बार अनुसन्धानरूप है। अर्थात् वह चमत्कार बार-बार अनुसन्धान करने से उत्पन्न होता है। सारांश यह कि जिस अर्थ को सुनकर सहृदय चमत्कृत हो जाँय वह अर्थ यहाँ 'रमणीय' कहा गया है। अतः उक्त आपत्ति को यहाँ स्थान नहीं, क्योंकि इस विवेचन से यह अलौकिकता साधारण अलौकिकता तथा ब्रह्मानन्दवाली अलौकिकता दोनों से पृथक् हो जाती है।

यद्यपि हमसे कोई आकर कहे कि "आपके लड़का पैदा हुआ है" "आपको इतने रुपए दिए जायँगे" (अथवा यों समझिए कि "आपको लाटरी में इतने रुपए प्राप्त हुए हैं") तो उन वाक्यों के ज्ञान से—उनके बार बार अनुसंधान से--भी हमें आनंद प्राप्त होता है; पर वह आनंद अलौकिक नहीं, लौकिक है; इस कारण, उन वाक्यों को हम काव्य नहीं कह सकते। (तब नव्य नैयायिकों की रीति से जो बाल

की खाल खींची गई है, उसे छोड़कर, यदि इस लक्षण का सार समझें तो यह हुआ कि) "जिस शब्द अथवा जिन शब्दों के अर्थ के बार-बार अनुसंधान करने से किसी अलौकिक आनंद की प्राप्ति हो, उसका अथवा उनका नाम काव्य है" ।

नव्य नैयायिकों की शैली से परिष्कार करने पर उक्त लक्षण का फलितरूप इस प्रकार होगा--

(१) ऐसे अर्थ के प्रतिपादक शब्द का नाम काव्य है जो अर्थ चमत्कारजनक भावना का विषय हो । और उक्त विशेषण से विशिष्ट शब्दत्व हुआ काव्यत्व—जो कि काव्य का अवच्छेदक धर्म है । नैयायिकों की संस्कृत में इसे यों कहेंगे—चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वं काव्यत्वम् ।

इस लक्षण में 'भावना' के स्थान पर 'ज्ञान' शब्द यदि रख दिया गया होता तो समूहालम्बन रूप में भासमान अन्य (अचमत्कारी) अर्थ के प्रतिपादक शब्द में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती-अर्थात् कुछ चमत्कारी और कुछ साधारण अर्थों का जिन शब्दों से एक साथ ज्ञान हो जाता हो ऐसे शब्दों को भी काव्य कहा जा सकता था, अतः यहाँ ज्ञान शब्द न रखकर 'भावना' शब्द लिखा गया है ।

(२) किन्तु इतना परिष्कार करने पर भी लक्षण की धारावाही रूप में लंबे चौड़े ज्ञान के विषयभूत चमत्कारजनक अर्थ के प्रतिपादक वाक्य में अति व्याप्ति हो जाती है-अर्थात् जहाँ लम्बी-चौड़ी वाक्यावलि चल रही है उसमें से कुछ अंश ऐसा भी है जिसकी भावना चमत्कारजनक हो वह वाक्यावलि भी काव्य हो जायगी । अतः कहते हैं कि—

जिस शब्द अथवा जिन शब्दों से प्रतिपादित अर्थ के विषय में होनेवाला भावनात्व चमत्कारजनकता का अवच्छेदक हो अर्थात् जिस शब्द अथवा जिन शब्दों की आनुपूर्वी (अविच्छिन्न परम्परा) से प्रतिपादित अर्थ जिसका विषय है ऐसी भावना अवच्छेदकावच्छेदेन (संपूर्ण-

तया) चमत्कारजनक हो उस शब्द अथवा उन शब्दों को काव्य कहते हैं। नैयायिकों की संस्कृत में इसे यों कहेंगे—यत्प्रतिपादितार्थविषयक-भावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वं काव्यत्वम्।

(३) नैयायिकों की दृष्टि से लाघव करने के लिए इस लक्षण को यदि और भी परिष्कृत किया जाय—अर्थात् चमत्कारत्व का ही शब्द से सीधा संबंध जोड़ा जाय तो यह लक्षण इस प्रकार होगा कि—जिस शब्द अथवा जिन शब्दों का चमत्कारत्व के साथ 'अपने (चमत्कारत्व) से युक्त (चमत्कार) की जनकता के अवच्छेदक अर्थ की प्रतिपादकता रूपी संबन्ध हो वे शब्द काव्य हैं। यहाँ यद्यपि चमत्कारजनकता भावना में रहती है तथापि उसे विषयता-संबंध से अर्थगत मान लिया गया है। नैयायिकों की संस्कृत में इसे यों कहेंगे—स्वविशिष्टजनकता-वच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वं काव्यत्वम्।

(यह तो है पंडितराज का काव्य-लक्षण। अब साहित्य शास्त्र के प्राचीन आचार्यों के साथ उनकी जो दलीलें हैं, उन्हें भी सुनिए।)

काव्य-प्रकाशकार आदि साहित्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने लिखा है कि "दोष-रहित, गुण एवम् अलंकार सहित शब्द और अर्थ का नाम काव्य है"। अब इस विषय में सबसे पहले तो यह विचार करना है कि—काव्य शब्द का प्रयोग केवल शब्द के लिये किया जाता है अथवा शब्द और अर्थ दोनों के लिये। (अच्छा, इस विषय में पंडितराज के विचारों को ध्यान में लीजिए वे कहते हैं—)

'शब्द और अर्थ' दोनों काव्य नहीं कहे जा सकते; क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं। प्रत्युत यदि विचारकर देखें तो "काव्य जोर से पढ़ा जा रहा है" "काव्य से अर्थ समझा जाता है" "काव्य सुना, पर अर्थ समझ में न आया" इत्यादि सार्वजनिक व्यवहार से एक प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है, अर्थ नहीं।

आप कहेंगे कि ऐसे व्यवहार के लिये, जिसमें कि काव्य शब्द का प्रयोग 'केवल शब्द' के विषय में किया गया हो, लक्षणा वृत्ति से काम चला लो। हम कहते हैं—हाँ, ऐसा हो सकता है—पर तब, जब कि आप किसी दृढ प्रमाण से यह सिद्ध कर दें कि काव्य शब्द का मुख्य प्रयोग "शब्द और अर्थ" दोनों के लिये ही होता है। वही तो हमें दिखाई नहीं देता। आप कहेंगे—शब्दप्रमाणसे यह बात सिद्ध है; क्योंकि काव्यप्रकाशकारादिकों ने इस बात को लिखा है। हाँ, ठीक; पर महाराज, जिस पर अभियोग चलाया जाय उसी के कथन के अनुसार निर्णय नहीं किया जा सकता। उन्हीं से तो हमारा मतभेद है; अतः उनका कथन प्रमाणरूप में उपस्थित करना उचित नहीं। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि शब्द और अर्थ दोनों का नाम काव्य है, इस बात में कोई प्रमाण नहीं; तब हमारे उपस्थित किए हुए पूर्वोक्त व्यवहार के अनुसार "एक प्रकार के शब्द का नाम ही काव्य है" इस बात को कौन मना कर सकता है। इसीसे, "शब्दमात्र के काव्य मानने में कोई साधक युक्ति नहीं है, इस कारण दोनों को काव्य मानना चाहिए" इस दलील का भी जवाब हो जाता है; क्योंकि उसमें लौकिक व्यवहारको हम प्रमाणरूप में उपस्थित कर चुके हैं। सो इस तरह एक प्रकार के शब्द का नाम ही काव्य सिद्ध हुआ, अतः उसी का लक्षण बनाने की आवश्यकता है, न कि अपनी तरफ से कल्पित किए हुए शब्द और अर्थ के लक्षण बनाने की। यही बात वेद, पुराण आदि के लक्षणों में भी समझनी चाहिए, अर्थात् उनको भी शब्दरूप समझकर ही उनका लक्षण बनाना चाहिए; नहीं तो यही दुर्दशा उनमें भी होगी।

कुछ लोग एक और तर्क उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं कि—काव्य शब्द का प्रयोग उसके लिये होना चाहिए, जिससे रस का उद्बोध

होता हो—जिससे हमारे अंतरात्मा में एक प्रकार का आनंदास्वाद जग उठे। यह बात शब्द और अर्थ दोनों में समान है, इस कारण दोनों को काव्य कहना युक्ति-संगत है। पंडितराज कहते हैं—यह आपकी दलील ठीक नहीं। यदि आनंदास्वाद को जगा देनेवाली वस्तु का नाम ही काव्य हो, तो आप राग को भी काव्य कहिए; क्योंकि ध्वनिकार प्रभृति सभी साहित्य-मर्मज्ञों ने राग को रसव्यंजक (आनंदास्वाद का जगानेवाला) माना है। बहुत कहने की आवश्यकता नहीं, यदि आप रसव्यंजक को ही काव्य मानने लगें तो जितने नाट्य के अंग हैं—नृत्य-वाद्य आदि, सबको आप काव्य मान लीजिए। ऐसी दशा में आप को यह झगड़ा हटाना कठिन हो जायगा। इस कारण, जो रसोद्बोधन में समर्थ हो—जिससे आनंदास्वाद जग उठे—उसे ही काव्य मानना चाहिए, यह दलील पोच (निःसार) सिद्ध हुई।

इस विषय में हम आपसे एक बात और पूछते हैं—शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं, अथवा प्रत्येक पृथक्-पृथक्? यदि आप कहेंगे कि दोनों सम्मिलित रूप में काव्य के नाम से व्यवहृत किए जाते हैं, तब तो जिस तरह एक और एक मिलकर (अर्थात् दो एकों का योगफल) दो होता है—दो सम्मिलित एकों का नाम ही दो है; पर दो के अवयव प्रत्येक एक को दो नहीं कह सकते, उसी प्रकार श्लोक के वाक्य को आप काव्य नहीं कह सकते; क्योंकि वह उसका एक अवयव—केवल शब्द है। सो इस तरह पूर्वोक्त व्यवहार सर्वथा उच्छिन्न हो जायगा। अब यदि आप कहें कि प्रत्येक को पृथक् पृथक् काव्य शब्द से व्यवहार करना चाहिए, तो "एक पद्य में दो काव्य रहते हैं" यह व्यवहार होने लगेगा। सो है नहीं।

इस कारण वेद, शास्त्र और पुराणों के लक्षणों की तरह काव्य का

लक्षण भी शब्द का ही होना चाहिए। अर्थात् शब्द को ही काव्य मानना चाहिए, शब्द-अर्थ दोनों को नहीं !*

(यह तो हुआ "शब्द" को काव्य मानना चाहिए, अथवा "शब्द-अर्थ" दोनों को, इस बात का विचार। अब दूसरी बात लीजिए।) प्राचीन आचार्यों ने, काव्य के लक्षण में, शब्द और अर्थ के साथ एक विशेषण लगाया है 'गुण एवम् अलंकार सहित"। सो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'उदितं मण्डलं विधोः' 'गतोऽस्तमर्कः'

---

* इन दलीलों का खंडन नागेश भट्ट ने, इसकी टीका में, बहुत थोड़े में, बहुत अच्छे ढंग से किया है। अच्छा, आप वह भी सुन लीजिए—

नागेश कहते है—जिस तरह "काव्य सुना" इत्यादि व्यवहार है, उसी प्रकार "काव्य समझा" यह भी व्यवहार है, और समझना अर्थ का होता है, शब्द का नहीं; अतः काव्य शब्द का प्रयोग शब्द और अर्थ दोनों के सम्मिलित रूप के लिये ही होता है, यह मानना चाहिए। वेदादिक भी केवल शब्द का नाम नहीं है, किंतु शब्द-अर्थ दोनों के सम्मिलित रूप का ही नाम है, अतएव जो महाभाष्यकार भगवान् पतंजलि ने 'तदधीते तद्वेद' इस पाणिनीय सूत्र की व्याख्या करते हुए "शब्द-अर्थ" दोनों को वेदादि रूप माना है, वह संगत हो सकता है। रही आपकी दूसरी दलील—जिस तरह हम एक को दो नहीं कह सकते, उसी तरह दोनों का नाम यदि काव्य हो तो प्रत्येक के लिये उस शब्दका व्यवहार नहीं हो सकता। सो कुछ नहीं है। ऐसे स्थल पर हम रूढ लक्षणा से काम चला सकते हैं—उसके द्वारा प्रत्येक के लिये भी काव्य शब्द का प्रयोग हो सकता है। इस कारण "शब्द-अर्थ दोनों को काव्य शब्द से व्यवहृत करने में कोई दोष नहीं।

इन संस्कृत वाक्यों (अथवा "चन्द्र उग्यो नभ माँहि" इस हिंदी वाक्य) को, कोई नायिका दूती अथवा सखी से नायक के संकेत स्थान पर जाने के लिये इस अभिप्राय से कहे--प्रकाश हो गया, अब कहीं काँटा खीला लगने का डर नहीं; अथवा कोई अभिसारिका दूती से, यह समझ कर कि--अब प्रकाश हो गया, कोई देख लेगा, निषेध करने के लिए कहे; यद्वा कोई विरहिणी अपने सुहृद्वर्ग को यह सुझाने के लिए कहे कि अब मैं न जी सकूँगी; तो भी आपके हिसाब से वह काव्य न होगा; क्योंकि न उसमें कोई गुण है, न अलंकार। पर आप यह नहीं कह सकते कि वह काव्य नहीं है; क्योंकि यदि उसे आप काव्य न मानें तो जिसे आप काव्य कह रहे हैं, उसे भी काव्य मानने के लिए कोई उद्यत न होगा। कारण यह है कि जिस "चमत्कारीपन" को काव्य का जीवन माना जाता है, वह इन दोनों में समान ही है। दूसरे, गुणत्व और अलंकारत्व का अनुगम नहीं है--(अर्थात् आज दिन तक यह सिद्ध न हो सका कि गुणत्व और अलकारत्व जिनमें रहते हैं, वे गुण और अलकार अमुक ही हैं। उनकी संख्या अभी तक नियत ही न हो सकी; जिस अलंकारिक का जब जैसा विचार हुआ, उसने उसके अनुसार, उन्हें घटा दिया अथवा बढ़ा दिया। अतः गुणों और अलंकारों का लक्षण में समावेश करना उचित नहीं; क्योंकि जो स्वयं ही निश्चित नहीं, उनके द्वारा लक्षण क्या निश्चित हो सकेगा!)

(पर यदि आप कहें कि काव्य अथवा रस के धर्मों का नाम गुण है और काव्य में शोभा उत्पन्न करनेवाले अथवा काव्य के धर्मों का नाम अलंकार है, इस तरह गुणत्व और अलंकारत्व का अनुगम हो जाता है—अर्थात् जिनमें ये लक्षण दिखाई दें, उन्हें गुण और अलंकार समझ लीजिए, उनकी संख्या नियत न हो सकी तो क्या हुआ। तथापि हम कहेंगे कि लक्षण में 'दोष रहित' कहना तो अयोग्य ही है; क्योंकि) लोक में "अमुक काव्य दोषयुक्त है" यह व्यवहार

देखने में आता है। अर्थात् काव्य-पद का दोषरहित के लिए ही नहीं; दोष सहित के लिए भी प्रयोग किया जाता है। यदि आप कहें कि आप लक्षणा से काम चला लीजिए—(समझ लीजिए कि काव्य—जैसा पदग्रथन उस (दोषयुक्त) में भी है, इस कारण गौणी लक्षणा के द्वारा उसे भी काव्य समझ लेना चाहिए) तो यह भी अनुचित है; क्योंकि जबतक कोई मुख्यार्थ का बाधक कारण उपस्थित न हो, तब तक लाक्षणिक कहना ही नहीं बन सकता। (क्योंकि लक्षणा तभी होती है, जब कि मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ से संबंध और रूढ़ि अथवा प्रयोजन ये तीनों निमित्त हों।)*

हाँ, एक दूसरी युक्ति और है। आप कह सकते हैं कि जैसे एक पेड़की जड़ पर पक्षी बैठा है, पर डाली पर नहीं; तब उस पेड़ में एक स्थान पर (जड़ में) पक्षी का संयोग है और दूसरे स्थान पर (शाखा में) संयोग का अभाव। तथापि सर्वत्र संयोगरहित होने पर भी, एक स्थान पर संयोग के कारण, उस वृक्ष को संयोगी कह सकते हैं। ठीक इसी तरह अन्य सब स्थानों पर दोषरहित होने के कारण वह काव्य कहला सकता है और एक स्थान पर दोष युक्त होने के कारण दोषी भी। सो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जैसे जड़ पर पक्षी को बैठा देखकर, सब मनुष्यों को, यह प्रतीति होती है कि इस वृक्ष की जड़ में पक्षी का संयोग है, पर शाखा में नहीं, उस तरह किसी को भी इस बात का ठीक ठीक अनुभव नहीं होता कि यह पद्य पूर्वार्ध में काव्य है और उत्तरार्ध में नहीं। अतः यह दृष्टांत यहाँ नहीं लग सकता। दृष्टांत के द्वारा अनुभव का अपलाप असंभव है—जो बात हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है, वह दृष्टांत से नहीं हटाई जा सकती।

*** लक्षणा का विशेष विवरण द्वितीय आनन के आरम्भिक भाग में होगा, अतः हमने यहाँ विशेष प्रपंच नहीं किया है।**

एक और भी बात है कि जिसके कारण गुण एवं अलंकार काव्य-लक्षण में प्रविष्ट नहीं किए जा सकते। वह यह है कि जिस तरह शूर-वीरता आदि आत्मा के धर्म हैं, वैसे ही गुण भी काव्य के आत्मा रस के धर्म हैं; और जिस तरह हारादिक शरीर को शोभित करनेवाली वस्तुएँ हैं, उसी तरह अलंकार भी काव्य को अलंकृत करनेवाले हैं। अतः जिस तरह वीरता अथवा हारादिक शरीर के निर्माण में उपयोगी नहीं हैं, इसी तरह ये भी काव्य के शरीर को सिद्ध करने—उसके स्वरूप का लक्षण बनाने—में उपयुक्त नहीं हो सकते।

(यह तो हुई प्राचीनों की बात। अब नवीनों में से साहित्य-दर्पणकार बहुत प्रसिद्ध हैं। अच्छा, आइए, उनके 'काव्यलक्षण' की भी परीक्षा कर डालें।) साहित्यदर्पणकार ने "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" यह लक्षण बनाकर सिद्ध किया है कि "जिसमें रस हो वही काव्य है"। पर यह बन नहीं सकता; क्योंकि यदि ऐसा मानें तो जिन काव्यों में वस्तु-वर्णन अथवा अलंकार-वर्णन ही प्रधान हैं, वे सब काव्य काव्य ही न रहेंगे। आप कहेंगे कि हमको यह स्वीकार है—हम उनको काव्य मानना ही नहीं चाहते। सो यह उचित नहीं; क्योंकि महाकवियों का जितना संप्रदाय है, उनकी जो प्राचीन परिपाटी चली आई है, वह बिलकुल गड़बड़ा जायगी। उन्होंने स्थान-स्थान पर जल के प्रवाह, वेग, गिरने, उछलने और भ्रमण, एवं बंदरों और बालकों की क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। क्या वे सब काव्य नहीं हैं? आप कहेंगे कि उन वर्णनों में भी किसी न किसी तरह रस का स्पर्श है ही; क्योंकि ऐसे वर्णन भी उद्दीपन आदि कर सकने के कारण रस से संबंध रख सकते हैं। पर यदि यों मानने लगो तो "बैल चलता है" "हरिण दौड़ता है" आदि वाक्य भी काव्य होने लगें; क्योंकि जगत् की जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव कुछ न

कुछ हो सकती हैं। इस कारण प्राचीनों एवं नवीनों के—दोनों के—"काव्य लक्षण" ठीक नहीं हैं।*

काव्य का कारण

अच्छा, अब यह भी सोचिए कि काव्य का कारण—जिसके होने पर ही काव्य बन सकता है, अन्यथा नहीं—क्या वस्तु है? इस

*यहाँ हमें कुछ लिखना है। यद्यपि पंडितराज ने "काव्य लक्षण" के विषय में इतना सूक्ष्म विचार किया, तथापि वे इसके बनाने में सफल न हुए। इसका कारण हम पहले नागेशभट्ट की आलोचना, टिप्पणी में, देकर समझा चुके हैं। उसका सारांश यह है कि केवल शब्द को काव्य मानना ठीक नहीं, "शब्द और अर्थ" दोनों को काव्य मानना चाहिए। परंतु प्राचीन आचार्यों के लक्षण में भी "दोषरहित" कहना तो खंडित है; और यदि "गुण एवं अलंकार सहित शब्द और अर्थ" को काव्य मानें, तथापि वह उत्कृष्ट काव्य का लक्षण हो सकता है, साधारण काव्य का नहीं; क्योंकि सभी काव्यों में गुण और अलंकार नहीं रहते। इस कारण मेरे विचारानुसार "ऐसे शब्दों और अर्थों को काव्य मानना चाहिए, जिनके सुनने एवं समझने से अलौकिक आनंद की प्राप्ति हो।" तभी दृश्य काव्य कहना भी सार्थक हो सकता है; क्योंकि देखने में अर्थ आ सकते हैं, शब्द नहीं। यही बात अर्थालंकार आदि के विषय में भी समझो। यद्यपि नाटक के पात्रादिकों का बनानेवाला कवि नहीं है, तथापि कविको उस सब सामग्री को उस रूप में उपस्थित करनेवाला मानने में कोई संदेह नहीं। इस कारण काव्य के अर्थ का निर्माता भी वह हो सकता है। "केवल शब्द" को ही काव्य माननेके कारण "साहित्यदर्पणकार" का भी लक्षण हमें सम्मत नहीं; वे "रसात्मक वाक्य" को काव्य कहते हैं, और वाक्य भी शब्द ही है।

—अनुवादक

विषय में भी पंडितराज का प्राचीनों से मतभेद है; आप इनके इस विषय के विचार भी सुनिए। वे कहते हैं—

काव्य का कारण केवल प्रतिभा है, और प्रतिभा शब्द का अर्थ है—काव्य बनाने के लिये जो शब्द एवं अर्थ अनुकूल हों, जिनसे काव्य बन जाय, उनकी उपस्थिति; अर्थात् काव्य बनाने के लिये जहाँ जिस शब्द की और जिस अर्थ की आवश्यकता हो, वहाँ उसका तत्काल उपस्थित हो जाना; (ऐसा नहीं कि कविजी काव्य बनाने के लिये अकुला रहे हैं; परंतु न तो उसमें जोड़ने के लिये कोई सुदर पद ही मिलते हैं और न कोई ऐसी बात ही याद आती है कि जिससे उनका कार्य सिद्ध हो जाय।)

प्रतिभा में रहनेवाला 'प्रतिभात्व' एक प्रकार की जाति अथवा अखण्डोपाधि है जो (नैयायिकों के हिसाब से) काव्य के कारणतावच्छेदक के रूप में सिद्ध है।

उस प्रतिभा के दो कारण हैं—एक तो, किसी देवता अथवा किसी महापुरुष की प्रसन्नता होने के कारण, किसी ऐसे भाग्य का उत्पन्न हो जाना कि जिससे काव्यधारा अविरत चलती रहे; और दूसरा—विलक्षण व्युत्पत्ति और काव्य बनाने के अभ्यास का होना। किंतु ये तीनों सम्मिलित रूप में कारण नहीं हैं; क्योंकि कई बालकों तथा अबोधों को भी केवल महापुरुष की कृपा से ही प्रतिभा उत्पन्न हो गई है (जैसी कि कवि कर्णपूर के विषय में किंवदंती है)। आप कहेंगे कि वहाँ हम उस कवि के पूर्वजन्म के, विलक्षण (जैसे दूसरों में नहीं होते) व्युत्पत्ति और काव्य करने का अभ्यास मान लेंगे। (अर्थात् उसने पूर्वजन्म में इन बातों को सिद्ध कर लिया है, अब किसी महापुरुष की कृपा होते ही वे शक्तियाँ जग उठीं।) पर यों मानने में तीन दोष हैं—

१—गौरव अर्थात् जब उन दोनों के कारण न मानने पर भी

केवल अदृष्ट (भाग्य) से काम चल सकता है, तो क्यों उन दोनों को उसके साथ लगाकर कारणों की संख्या बढ़ाई जाय।

२—मानाभाव अर्थात् इसमें कोई प्रमाण नहीं कि ऐसे स्थान पर भी, इन तीनों को सम्मिलित रूप में ही प्रतिभा का कारण मानना चाहिए।

३—कार्य का बिना तीनों के कारण मानने पर भी सिद्ध हो जाना।

जब कि वेदादिक किसी प्रबल प्रमाण से यह सिद्ध किया गया हो कि अमुक वस्तु अमुक वस्तु का कारण है; पर हम संसार में कुछ स्थानों पर ऐसा देखते हों—उस वस्तु (कारण) के रहते हुए भी वह वस्तु (कार्य) उत्पन्न न हो, अथवा उसके न रहने पर भी वह उत्पन्न हो जाय, तब हमको, विवश होकर (क्योंकि वेदादिक झूठे तो हो नहीं सकते), यह मानना पड़ता है—इसका कारण, उस व्यक्ति का—जिसको कारण के बिना भी कार्य की प्राप्ति हो रही है अथवा कारण के होने पर भी कार्य की प्राप्ति नहीं हो रही है—पूर्व-जन्म में किए हुए, धर्म-अधर्म आदि हैं। पर यदि वेदादिक प्रबल प्रमाण के द्वारा कारण न बताए जाने पर हमारे निश्चित किए हुए कारणों में भी, हम किसी वस्तु को किसी वस्तु का कारण बताकर जहाँ गड़बड़ आने लगे, कह दें कि—इस बात को उसने पूर्वजन्म में कर लिया है, अतः ऐसा हो गया, तो भ्रम होने लगे—लोग किसी को भी किसी वस्तु का कारण बताने लगें। अतः पूर्वोक्त स्थल में पूर्वजन्म के व्युत्पत्ति और अभ्यास को कारण मानना उचित नहीं; क्योंकि व्युत्पत्ति और अभ्यास के बिना कविता हो ही न सके यह बात कुछ वेद में थोड़े ही लिखी हुई है कि जिसके लिये यह प्रपञ्च करना पड़े।

अब यदि आप कहें कि हम इस गड़बड़ में पड़ना नहीं चाहते; हम तो केवल अदृष्ट को ही कारण मान लेंगे। सो भी ठीक नहीं; क्योंकि बहुतेरे मनुष्य ऐसे देखने में आते हैं कि वे बहुत समय तक

काव्य करना जानते ही नहीं, पर कुछ दिनों के अनंतर जब उनको किसी प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास हो जाता है, तब उनमें प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है—वे काव्य बनाने लगते हैं। यदि वहाँ भी अदृष्ट को कारण मानने लगो तो व्युत्पत्ति और अभ्यास के पहले हीं उनमें प्रतिभा क्यों न उत्पन्न हो गई ? आप कहेंगे—थोड़े दिन के लिये उनका कोई बुरा अदृष्ट मान लीजिए, जिसने प्रतिभा की उत्पत्ति को रोक दिया; तो हम कहेंगे कि प्रायः व्युत्पत्ति और अभ्यास होने पर ही कविता बनानेवाले अधिक देखने में आते हैं, इस कारण अनेक स्थानों पर दो-दो (अच्छे और बुरे) अदृष्ट मानने की अपेक्षा, कविता के रोक देनेवाले अदृष्ट के नाश करने के लिये, आपको, जिन व्युत्पत्ति और अभ्यास की कल्पना करनी पड़ती है—जिनके उत्पन्न होने से प्रतिबंधक अदृष्ट नष्ट हो जाता है, उन्हीं को कारण मान लेना उचित है। इस कारण हम जो पहले बता आए हैं कि इन तीनों को (अर्थात् अदृष्ट को पृथक् और व्युत्पत्ति-अभ्यास को पृथक्) कारण मानना ही सीधा रास्ता है।

अब एक और शंका होती है—यदि अदृष्ट से भी प्रतिभा उत्पन्न होती है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से भी; और काव्य दोनों से बन सकता है, तो दो भिन्न-भिन्न कारणों से एक ही प्रकार का काम (प्रतिभा) उत्पन्न होने के कारण दोनों के कामों में गोटाला हो जायगा। और यह उचित नहीं; क्योंकि प्रकृति का नियम है कि भिन्न-भिन्न कारणों से कार्य भी भिन्न-भिन्न ही उत्पन्न हों। इसका उत्तर यह है—यद्यपि प्रतिभा दोनों का नाम है, तथापि अदृष्ट से उत्पन्न होनेवाली प्रतिभा दूसरी है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से उत्पन्न होनेवाली दूसरी; अतः अदृष्ट और व्युत्पत्ति—अभ्यास के कामों में गोटाला नहीं हो सकता। (इस बात को हम उदाहरण देकर स्पष्ट कर देते हैं—जैसे गन्ने से भी चीनी बनती है और चुकंदर से भी, और लड्डू दोनों से बन सकते हैं; पर दोनों

चीनियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त दो भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होनेवाली दोनों प्रतिभाएँ भिन्न भिन्न हैं और उन दोनों से काव्य बन सकता है।) बस, काव्य बनने के लिये किसी प्रकार की प्रतिभा होने की आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि दोनों प्रकार की प्रतिभाओं से एक ही प्रकार का काव्य बनता है, काव्य में कोई भेद नहीं होता। दूसरा पक्ष यह है—दोनों प्रतिभाओं से काव्य भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं—अर्थात् अदृष्ट से जो प्रतिभा उत्पन्न होती है, उससे बना काव्य दूसरे प्रकार का होता है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से उत्पन्न हुई प्रतिभा से बना दूसरे प्रकार का। अतः उन दोनों कारणों के कार्यों का कहीं भी मिलान नहीं होता, वे दोनों ठेठ तक भिन्न ही भिन्न रहते हैं।

इसके अनंतर एक बात और रह जाती है। वह यह कि—जिन मनुष्यों में व्युत्पत्ति और अभ्यास दोनों होते हैं, उनमें भी प्रतिभा क्यों नहीं उत्पन्न होती? इसके विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि वे व्युत्पत्ति और अभ्यास विलक्षण (विशेष प्रकार के) होते हैं। उन लोगों में वे वैसे नहीं होते; अतः वे काव्य नहीं बना पाते। अथवा, किसी विशेष प्रकार के पाप को उनकी प्रतिभा का प्रतिबंधक मान लेना चाहिए। आप कहेंगे कि आपको यह झगड़ा नया उठाना पड़ा, तो हम कहते हैं—यह नया नहीं है, यह तो तीनों को इकट्ठे कारण माननेवाले और केवल प्रतिभा अथवा शक्ति को कारण माननेवाले—दोनों के लिये समान ही आवश्यक है, क्योंकि प्रतिवादी जब मंत्रादिकों से, कुछ दिनों के लिये किसी अनेक काव्य बनानेवाले कवि की भी वाणी को रोक देता है, तो उससे काव्य नहीं बनाया जाता; यह देखा गया है।*

*** यहाँ महामहोपाध्याय श्रीगंगाधर शास्त्रीजी की टिप्पणी है, जिसका सारांश यह है—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—तीनों को**

काव्यों के भेद

जिस काव्य के विषय में इतना विवेचन किया गया है, वह काव्य चार प्रकार का होता है। १—उत्तमोत्तम, २—उत्तम, ३—मध्यम और ४—अधम।

सम्मिलित रूप में ही विशिष्ट काव्य का कारण मानना उचित है। विशिष्ट काव्य का अर्थ है अलौकिक वर्णन की निपुणता से युक्त कवि का कार्य। अब देखिए, शक्ति दो प्रकार की होती है—एक काव्य को उत्पन्न करनेवाली और दूसरी (कवि को) व्युत्पन्न करनेवाली। उनमें से दूसरी—व्युत्पादिका शक्ति का नाम ही निपुणता है। और अभ्यास से काव्य में अलौकिकता आती है। पहली शक्ति से पद जोड़ देने पर भी दूसरी शक्ति के न होने पर विलक्षण वाक्यार्थ का ज्ञान न होने के कारण कवि में अलौकिक वर्णन की निपुणता न हो सकेगी। अतः यही उचित है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को—सम्मिलित रूप में—काव्य का कारण माना जाय।

इस पर हमें कुछ लिखना है। प्राचीन और नवीन सभी आचार्यों के मत से काव्य उसी का नाम है, जो चमत्कारी हो; केवल तुकबंदी मात्र को किसी ने भी काव्य नहीं माना। अर्थात् जिसे आप विशिष्ट काव्य कहते हैं, उसी का नाम तो काव्य है। तब यह सिद्ध होता है—जिसे आप उत्पादिका शक्ति मानते हैं, वह काव्य की उत्पादिका तभी हो सकती है, जब कि उसमें पूर्वोक्त कविकर्म को उत्पन्न करने की योग्यता हो, न कि केवल तुकबंदी करवा देने की। अतएव काव्य-प्रकाशकार का "शक्तिर्निपुणता..." इस श्लोक की व्याख्या करते हुए, शक्ति के विषय में यह लिखना संगत होता है कि "शक्तिः कवित्वबीज-रूपः संस्कारविशेषः, यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वोपहसनीयं स्यात्।" (अर्थात् शक्ति एक प्रकार का संस्कार है, जो कि कविता का

उत्तमोत्तम काव्य

"उत्तमोत्तम" काव्य उसे कहते हैं, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण (अप्रधान) बनाकर किसी चमत्कारजनक अर्थ को अभिव्यक्त करें--व्यंजनावृत्ति से समझावें।

लक्षण का विवेचन

इस लक्षण में "किसी चमत्कार-जनक अर्थ को व्यक्त करें" इस कथन से यह सिद्ध हुआ—जिसमें व्यंग्य अत्यंत गूढ़ हो अथवा अत्यंत स्पष्ट हो, वह काव्य उत्तमोत्तम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे व्यंग्यों की चमत्कारजनकता नष्ट हो जाती है। यही बात जिसमें व्यंग्य सुंदर न हो, उसके विषय में भी समझो। अपरांग (अर्थात् किसी दूसरे अर्थ

बीजरूप है, जिसके बिना काव्य फैल नहीं सकता, अथवा यों कहिए कि फैलने पर भी उपहसनीय होता है। अन्यथा बिना शक्ति के बनाए हुए काव्य को उपहसनीय लिखना कुछ भी तात्पर्य न रख सकेगा; क्योंकि बिना शक्ति के काव्य उत्पन्न ही नहीं होता, तब उपहास किसका होगा? अतः यह मानना चाहिए कि काव्यप्रकाशकार के हिसाब से अनुपहसनीय अथवा आपके हिसाब से विशिष्ट काव्य के उत्पन्न करनेवाली शक्ति का नाम ही शक्ति है और उसे ही कहते हैं प्रतिभा। अतएव जब किसी की रचना चमत्कारी नहीं होती तो हम कहते हैं कि कवि में प्रतिभा नहीं है। साधारण पदयोजना की शक्ति को प्रतिभा के रूप में परिणत करना व्युत्पत्ति और अभ्यास का काम है। अतः उनको प्रतिभा का कारण मानना ही युक्तिसंगत है, सहकारी मानना नहीं। सो तीनों को सम्मिलित रूप में कारण मानने की अपेक्षा अंतिम दोनों को प्रतिभा का कारण मानना और केवल प्रतिभा को काव्य का कारण मानना, जैसा कि पंडितराज का मत है, उचित जँचता है।

का अंग) और वाच्यसिद्धयंग (अर्थात् जिसके बिना वाच्य अर्थ सिद्ध ही न हो) व्यंग्य भी चमत्कारी होते हैं; अतः इस लक्षण से उनका भी ग्रहण न हो जाय, इस कारण, लक्षण में "अपने को गौण बनाकर" कहा गया; जिसका यह अभिप्राय है कि शब्द और अर्थ (वाक्य) दोनों से व्यंग्य की प्रधानता होनी चाहिए, सो उन दोनों में नहीं होती; अतः वे भी उत्तमोत्तम काव्य नहीं हो सकते।

उदाहरण

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्त्तुमहो मनोरथान् ।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥

सोई सविध, सकी न करि सफल मनोरथ मंजु।
निरखति कछु मींचे नयन प्यारी पिय-मुखकंजु ॥

प्रियतमा अपने प्रियतम के समीप सोई है; पर आश्चर्य है कि वह अपने मनोरथों को सफल करने में असमर्थ है—उसकी शक्ति नहीं है कि वह अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण कर सके; अतः नेत्रों को कुछ-कुछ मुकुलित करती हुई प्रियतम के मुख-कमल को देख रही है।

इस श्लोक में नायिका की रति के आलंबन विभाव नायक के, पति-पत्नी के समीप सोने के कारण प्राप्त हुए एकांत-स्थान आदि उद्दीपन विभाव के, कुछ-कुछ मुकुलित नेत्रों से देखने रूपी अनुभाव के, और देखने के कुछ-कुछ होने के कारण व्यक्त होनेवाली लज्जा तथा देखने के कारण व्यक्त होनेवाले औत्सुक्य रूप व्यभिचारी भावों के संयोग से रति (स्थायी भाव) की अभिव्यक्ति होती है—अथवा यों कहिए कि पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम प्रतीत होता है। आलंबन आदि पदार्थों का स्वरूप (अर्थात् वे क्या वस्तु हैं, यह) आगे वर्णन किया जायगा।

अब यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है—इस पद्य में "रति की अभिव्यक्ति होती है" यह न मानकर "यदि यह सो गया हो, तो मैं इसका मुँह चूम लूँ" इस नायिका की इच्छा की ही अभिव्यक्ति क्यों न मान ली जाय। इसका समाधान यह है—पद्य में लिखा है कि "वह अपने मनोरथों को सफल करनेमें असमर्थ है", जिससे यह सिद्ध होता है कि उसके हृदय में सब मनोरथ विद्यमान हैं, और चुंबन की इच्छा भी एक प्रकार का मनोरथ ही है—मनोरथ शब्द से ही सामान्य रूप से उसका भी वर्णन हो जाता है; इस कारण वह वाच्य है, व्यंग्य नहीं, पर आप कहेंगे कि मनोरथ शब्द से सामान्य इच्छा के वाच्य होने पर भी "चुंबन करूँ" इस विशेष विषय से युक्त इच्छा के व्यंग्य होने में क्या बाधा है? इसका उत्तर यह है कि—चमत्कार नहीं रहेगा, बस यही बाधक है; क्योंकि जो पदार्थ विशेष रूप से व्यंग्य हो, वह भी यदि सामान्य रूप से वाच्य हो जाय, तो उसकी सहृदयों के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। अलंकार-शास्त्र के ज्ञाताओं ने उसी व्यंग्य को चमत्कारी स्वीकार किया है, जो किसी तरह भी अभिधावृत्ति का स्पर्श न करे। दूसरे, चुंबन की इच्छा को जब रति का अनुभाव मानें तभी वह सुंदर हो सकती है; अन्यथा जिस प्रकार "चुम्बन करता हूँ" यह कहने में कोई चमत्कार प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार उसमें भी कोई चमत्कार न हो सकेगा। अतः वह रति की अपेक्षा गौण ही है, प्रधान नहीं।

इसी तरह इस श्लोक में लज्जा भी (यद्यपि व्यंग्य है, तथापि) मुख्यतया व्यंग्य नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि "नेत्रों को कुछ कुछ मुकुलित करती हुई" इस नायिका के विशेषण से लज्जा अभिव्यक्त होती है। श्लोक में उस विशेषण का सिद्ध बात के अनुवाद-रूप में वर्णन किया गया है, विधेयरूप में नहीं—अर्थात् उसका विधान नहीं है। तब उस विशेषण से पूर्णतया संबंध रखनेवाली लज्जा ही इस

श्लोक का प्रधान अर्थ है, यह नहीं कहा जा सकता। आप कहेंगे कि—नहीं, श्लोक में लिखा है कि "नेत्रों को कुछ कुछ मुकुलित करती हुई... देख रही है", इस कारण यह तो आपको भी मानना पड़ेगा कि श्लोक में इस प्रकार देखने का विधान है, अतः लज्जा अनुवाद्य अर्थ से ही पूर्णतया संबंध रखती है, यह नहीं कहा जा सकता। हम कहते हैं कि ठीक; पर इस तरह भी लज्जा का कार्य आँखों का मींचना हो सकता है, देखना नहीं। श्लोक में आँखों के कुछ कुछ मींचने के साथ ही देखने का वर्णन किया गया है और देखना बिना रति (आंतरिक प्रेम) के हो नहीं सकता। यदि इस श्लोक से लज्जा को ही व्यक्त करना होता, तो "आँखें मुकुलित कर रही है" यही लिख देते; देखने की बात उठाने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं रह जाता। अब सोचो कि जिस प्रकार, अभिधावृत्ति के द्वारा, रति के अनुभाव (कार्य) "देखने" की अपेक्षा लज्जा का अनुभाव "आँखों का मींचना" गौण हो रहा है, वह देखने का विशेषण बन रहा है, उसी प्रकार, व्यंजनावृत्ति के द्वारा, लज्जा का भी रति की अपेक्षा गौण होना ही उचित है।

(यह तो है रस (संभोग शृङ्गार) का उदाहरण—अर्थात् इस पद्य के शब्द और अर्थ गौण होकर रति को व्यक्त करते हैं।) इसी प्रकार भाव (हर्ष आदि व्यभिचारी भाव) भी अभिव्यक्त होते हैं। अच्छा, भाव का भी उदाहरण लीजिए—

गुरुमध्यगता मया नताङ्गी निहता नीरजकोरकेण मन्दम्।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽऽसीत्॥

*　　*　　*　　*

हनी गुरुन बिच नतमुखी कमल-मुकुल ते झूमि।
कुंडल कछुक नचाइ, भौं नाइ, निरखि गइ घूमि॥

नायक अपने मित्र से कह रहा है—सास-ननद आदि गुरुजनों के बीच में बैठी हुई, अतएव लज्जा के मारे नम्र, प्रियतमा को मैंने, हलके हाथ से, कमल की डोंडी से मार दिया। उसने कुंडलों को कुछ नचाकर एवं भौंहें नीची करके मुझे देखा और फिर (दूसरी तरफ) घूम गई—मुँह फेर लिया।

इस पद्य में "घूम गई" इस वाक्य से "ऐ! बिना सोचे समझे कर गुजरनेवाले! तैंने यह अनुचित कार्य क्यों कर डाला" इस अर्थ से युक्त "अमर्ष" भाव प्रधानतया ध्वनित होता है; और उसकी अपेक्षा श्लोक के शब्द और अर्थ गौण हो गए हैं—अर्थात् उनमें वह आनंद नहीं है, जो अमर्ष भाव की अभिव्यक्ति में है।

अब एक दूसरे विचार से उत्तमोत्तम काव्य का एक उदाहरण और देते हैं। वह विचार यह है—अब तक जितने अलंकार शास्त्र के आचार्य हुए हैं, उन सबने रस भाव आदि को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य माना है—अर्थात् इनके प्रतीत होने के पूर्व विभावादिकों की उपस्थिति आवश्यक है और उनकी अभिव्यक्ति के अनंतर ही रस-भाव आदि की अभिव्यक्ति होती है; पर बीच के समय के अति सूक्ष्म होने के कारण उनका क्रम (पूर्वापरभाव) हमें लक्षित नहीं होता। यह एक नियत बात है, इससे विरुद्ध कभी नहीं होता। पंडितराजका सिद्धांत है कि रस भाव आदि संलक्ष्यक्रमव्यंग्य भी होते हैं—अर्थात् उनके पूर्व विभाव आदि की पृथक् प्रतीति होकर, उसके अनंतर उनकी पृथक् अनुभव की जानेवाली प्रतीति भी होती है। उदाहरण लीजिए—)

तल्पगताऽपि च सुतनुः श्वासासङ्गं न या सेहे।
सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति॥

× × × ×

सेज-सुई हू सुतनु जो साँस परसि अकुलाय।
वह अब पिय-कर हिय धर्‌यो हरुए रही उठाय॥

जो सुकुमारी नववधू, पलँग पर सोई हुई भी, श्वास के लगने मात्र को भी सहन नहीं करती थी—श्वास लगने पर अङ्गों को सिकोड़ने लगती थी वही इस समय हृदय पर धरे हुए पति के हाथ को धीरे-धीरे हटा रही है।

पंडितराज ने लिखा है कि—यह पद्य मेरे निबंध के अंतर्गत आया है, अतः पूर्व प्रकरण की आकांक्षा रखता है, इसलिए इसकी थोड़ी-सी व्याख्या कर दी जा रही है—

जो नववधू पलंग पर सोई हुई साँस लगते ही अङ्ग सिकोड़ने लगती थी, वह पति के परदेश जाने की पहली रात्रि में, पति कल परदेश जायगा अतः प्रवत्स्यत्पतिका होने के कारण सशङ्क प्रियतम द्वारा रखे हुए हाथ को नववधू के जातिस्वभाव के अनुसार हटा रही है, पर धीरे-धीरे।

यहाँ "धीरे-धीरे हटा रही है" इस कथन से रति नामक स्थायी भाव संलक्ष्यक्रम होकर व्यक्त हो रहा है। स्थायिभावादिक भी संलक्ष्यक्रम व्यंग्य होते हैं, यह आगे सिद्ध किया जायगा।

काव्य के इसी (उत्तमोत्तम) भेद को **'ध्वनिकाव्य'** कहा जाता है।

अप्पय दीक्षित के विवेचन का खंडन

अब, अप्पय दीक्षित ने 'चित्रमीमांसा' नामक ग्रंथ में जो एक ध्वनि काव्य के उदाहरण का विवेचन किया है, उस पर विचार किया जा रहा है—

(उसका प्रसंग यों है। किसी नायिका ने एक दूती को अपने नायक के पास भेजा कि वह उसे बुला लावे, पर वह स्वयं ही उससे रमण करके लौटी, और लगी इधर-उधर की बातें बनाने। विदग्ध नायिका को

यह बात बहुत खटकी; पर वह इस बात को स्पष्ट कैसे कह सकती थी; अतः उसने उससे यों कहा—)

निःशेषच्युतचंदनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याऽधमस्याऽन्तिकम्॥

हे झूठ बोलनेवाली दूती! तू अपने बांधव (नायिका) के ऊपर जो बीत रही है—उसे जो दुःख हो रहा है—उसे नहीं जानती, अतएव तू यहाँ से बावड़ी नहाने गई थी, उस अधम (नायक) के पास नहीं। यह तेरी दशा से सूचित हो रहा है। देख, तेरे स्तनों के ऊपर के भाग का चंदन हट गया है, नीचे के होठ का रंग (तांबूल का) बिलकुल साफ हो गया है, नेत्र पूर्णतया (पर आंतरिक अभिप्राय यह है कि प्रांत भागों में) अंजन-रहित हो गए हैं और यह तेरा दुबला-पतला शरीर रोमांचित हो रहा है।

इस पर अप्पय दीक्षित यों विवेचन करते हैं। वे कहते हैं कि "स्तनों का चंदन साड़ी की रगड़ से भी हट सकता है, इस कारण नायिका ने "सब" कहा; जिससे यह सिद्ध होता है कि सब चंदन (बिना मर्दन के) साड़ी की रगड़ से नहीं हट सकता। पर नहाने से भी सब चंदन हट सकता है, इस कारण "ऊपर के भाग का" कहा; जिससे यह सिद्ध होता है कि तूने स्नान नहीं किया; क्योंकि यदि तू स्नान करती तो सब स्थान का चंदन उड़ जाता; पर तेरे तो केवल ऊपर के भाग का ही उड़ा है; ऐसा आलिंगन से ही हो सकता है। इसी प्रकार तांबूल लेने में यदि देरी हो जाय तो होठ का रंग फीका हो सकता है, सो नहीं है; यह समझने के लिए उसने "बिलकुल साफ

हो गया है" कहा; क्योंकि ऊपर के होठ के रँगे हुए रहने पर नीचे का होठ बिना चुंबन के और किस तरह साफ हो सकता है ?" यहाँ से लेकर "यह भी ध्वनि का उदाहरण है" यहाँ तक के ग्रंथ से यह सिद्ध किया गया है कि जो "ऊपरी भाग"—आदि शब्दों से बने हुए वाक्यों के अर्थ हैं, वे संभोग के अंग—आलिंगन, चुंबन आदि के प्रतिपादन के द्वारा प्रधान व्यंग्य (संभोग) के व्यक्त करने में सहायता करते हैं। अर्थात् इस प्रकार के कथन से यह प्रकट होता है कि दूती की यह दशा संभोग से ही हुई है, अन्य किसी प्रकार नहीं।

पंडितराज कहते हैं कि अप्पय दीक्षित का यह विवेचन अलंकार-शास्त्र के तत्त्व को न समझने के कारण है; क्योंकि ऐसा करना—इन बातों का अन्य सब वस्तुओं से हटाकर केवल संभोग में ही लगाना—सब पुराने ग्रंथों के एवं युक्ति के विरुद्ध है। देखिए—

"काव्य प्रकाशकार" ने पंचम उल्लास के अंत में इसी उदाहरण का विवेचन करते हुए कहा है—"पूर्वोक्त उदाहरण में जो "चंदन का हटना" आदि लिखे हैं, वे दूसरे कारणों से भी हो सकते हैं, केवल संभोग के द्वारा ही नहीं; क्योंकि इसी श्लोक में उनको स्नान का कार्य बताया गया है; इस कारण वे कार्य एक ही वस्तु से संबंध रखते हों ऐसे नहीं हैं, दूसरी वस्तुओं से भी हो सकते हैं।" और वहीं उन्होंने "व्यक्ति-विवेक"—कार का जो यह मत है कि-

भम*धम्मिअ ! वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मालिदो देण।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरीअसीहेण ॥

---

* किसी नायिका ने गोदावरी नदी के तीरवर्ती एक कुंज को अपना संकेतस्थान बना रखा था; पर वहाँ एक महात्माजी नित्य पुष्प लेने के लिये जाया करते थे; इस कारण संकेत का भंग होते देखकर उसने उनसे कहा—

इत्यादिक स्थलों में हेतु से कार्य-ज्ञान होता है, और "हेतु से कार्य के ज्ञान होने का नाम अनुमान है, और व्यंजना से भी यही बात होती है, अतः व्यंजना और अनुमान में कोई भेद नहीं है।" इसका खंडन करते हुए, "व्यभिचारी (अन्यगामी) और असिद्ध होने का जिन हेतुओं में संदेह है, उनसे भी अर्थ ध्वनित हो सकता है, पर अनुमान नहीं हो सकता" यह स्वीकार किया है। इसी प्रकार "ध्वनि" (व्यंजनावृत्ति और व्यंग्यों के प्रतिपादन के मूलग्रंथ) के कर्त्ता (राजानक आनंदवर्धनाचार्य) ने भी माना है। तब यह सिद्ध हुआ कि "जिन शब्दों अथवा अर्थों से अन्य अर्थ ध्वनित होते हैं, वे व्यंजक अर्थ साधारण ही होते हैं—अर्थात् वे व्यंग्य से भी संबंध रखते हैं, और अन्यों से भी। अनुमान की तरह असाधारण नहीं" इस बात को प्रतिपादन करनेवाले प्रामाणिक विद्वानों के ग्रंथों के साथ, उन व्यंजकों को असाधारण—किसी विशेष वस्तु से ही संबंध रखनेवाले—बतानेवाले तुम्हारे ग्रंथ का, विरोध स्पष्ट है।

यह तो हुई पुराने ग्रंथों से विरोध की बात। अब हम आपसे पूछते हैं—आप जो "सब चंदन हट गया है" इत्यादि वाक्यार्थों को 'बावड़ी में नहाने' से हटाकर केवल संभोग के ही सिद्ध करने में लगा रहे हैं? सो क्यों लगा रहे हैं? इससे व्यंग्य अर्थ निकल सके इसलिये?

हे धर्मचारिन्! अब आप विश्वस्त होकर फिरते रहिए, क्योंकि जिस कुत्ते से आप डरा करते थे, उस कुत्ते को, आज, गोदावरी नदी के जलप्राय प्रदेश के कुंज में रहनेवाले मत्त सिंह ने मार दिया।

तात्पर्य यह है कि घर में कुत्ते से डरनेवाले पंडितजी! यदि आप कुंज में पहुँचे तो फिर प्राणों की कुशल नहीं है—उन्हें बिदाई देनी ही पड़ेगी। इस से यह अभिव्यक्त होता है कि "आप वहाँ न जाइएगा।"

सो तो है नहीं; क्योंकि व्यंग्य अर्थ निकलने के लिये "उसको व्यक्त करनेवाली वस्तुएँ उसी से संबंध रखनेवाली होनी चाहिएँ, वे और किसी से संबंध न रखें" इस बात का होना आवश्यक नहीं है। देखिए, दूती नायक से संभोग करके नायिका के पास आई है। उसकी दशा देखकर नायिका उससे कहती है—

ओणिद्दं दोब्बल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम्।
मह मन्दभाइणीए केरं सहि! तुह वि अहह! परिहवइ॥

हे सखि! हाय! मुझ मंदभागिनी के लिये तुझे भी जागरण, दुर्बलता, चिंता, आलस्य और दम भरजाने ने दबा रखा है, तू भी इनसे दुःखित हो रही है। यहाँ जागरण आदि बातें जैसी संयोगिनी (दूती) में हैं, वैसी ही वियोगिनी (नायिका) में भी हैं, एवं ये ही बातें रोगादि से भी हो सकती हैं; अतः ये सर्वथा साधारण बातें हैं। पर इन्हीं बातों पर जब यह विचार करते हैं—इनकी कहनेवाली कौन है और वह इन बातों को किससे किस अवसर पर कह रही है तो स्पष्ट हो जाता है कि वह उसके संभोग को लक्ष्य करके कह रही है। अतः यह सिद्ध हुआ कि किसी बात का साधारण अथवा असाधारण होना उस बात से कोई व्यंग्य नहीं निकाल सकता; किंतु उसका कहनेवाला कौन है, वह बात किससे कही जा रही है—इत्यादि के साथ उसको समझने पर व्यंग्य समझ में आ सकता है। प्रत्युत यदि वह बात ऐसी हो कि जो किसी विशेष वस्तु से ही संबंध रखती हो, जो कि नैयायिकों के सिद्धांत में 'व्याप्ति' कहलाती है, तो वह अनुमान के अनुकूल होगी और व्यंजना के प्रतिकूल—अर्थात् उससे व्यंजना नहीं, अपितु अनुमान होगा। अब यदि आप कहें कि "ऊपरी भाग" आदि शब्दों से रचित होने पर भी "सब चंदन उड़ गया है" इत्यादि वाक्यार्थ असाधारण न हुए; क्योंकि गीले कपड़े से पुँछ जाने आदि से भी वे बातें हो सकती हैं, तो हम

आपसे पूछते हैं कि बावड़ी के स्नान मात्र के हटा देने से क्या फल हुआ, उसके लिये क्यो इतना परिश्रम किया गया ? क्योंकि जिस तरह एक स्थान पर व्यभिचरित होना—संभोग के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से संबंध रखना—अनुमान के प्रतिकूल है और व्यंजना के नहीं, उसी प्रकार अनेक स्थानों पर व्यभिचरित होना भी। अतः यह सब प्रयास व्यर्थ है।

यह तो हुई एक बात। अब एक दूसरी बात और लीजिए। नायिका के इस कथन से यह व्यंग्य निकालता है कि "तू उसके पास ही रमण करने गई थी"। विचारकर देखने से ज्ञात होगा कि यह व्यंग्य दो बातों से बना हुआ है। उनमें से एक बात है "उसके पास ही गई थी" यह, और दूसरी है वहाँ जाने का फल "रमण"। इनमें से "उसके पास ही गई थी" इस अंश को व्यंग्य सिद्ध करना, तुम्हारे हिसाब से, कठिन है। तुमने जो रीति बताई है, उसके अनुसार "सब चंदन हट गया" इत्यादि विशेषण वाक्यों के अर्थ बावड़ी के स्नान में तो लग नहीं सकते; क्योंकि तुमने वैसा करने में बाधा उपस्थित कर दी है; समझा दिया है कि वे वापी-स्नान में नहीं लग सकते; अतः वाच्यार्थ में सब वाक्य के जो प्रधान अर्थ हैं कि "बावड़ी नहाने गई थी, उसके पास नहीं गई" इन शब्दों में विपरीत लक्षणा करनी पड़ेगी; तब उनका यह अर्थ होगा कि "बावड़ी नहाने नहीं गई", "उसके पास ही गई थी"। अर्थात् वाच्य अर्थ में जहाँ "गई थी" कहा है, वहाँ "नहीं गई थी" अर्थ करना पड़ेगा और जहाँ "नहीं गई थी" कहा है, वहाँ "गई थी" अर्थ करना पड़ेगा, अन्यथा बात ही न बनेगी। और वाच्यार्थ के बाधित होने पर जो अर्थ प्रकट होता है, वह व्यंजना से बोधित होता है अथवा व्यंग्य होता है, यह कहना उचित नहीं; क्योंकि वह लक्षणा का ही विषय है व्यंजना का नहीं। जैसे "अहो पूर्ण सरो यत्र लुठन्तः स्नान्ति मानवाः—अर्थात् आश्चर्य है कि यह सरोवर पूरा

भरा हुआ है, जिसमें मनुष्य लेटते हुए नहा रहे हैं" इस वाक्य में नहानेवाले मनुष्यों का विशेषण जो "लेटते हुए" है, उससे प्रकट होता है कि "तालाब भरा हुआ नहीं है" इस अर्थ को कोई भी व्यंग्य् नहीं बता सकता, यह लक्ष्य ही है। तब सिद्ध हुआ कि पूर्वोक्त व्यंग्य का एक अंश "उसके पास गई थी" यह तो, आपके हिसाब से, व्यंग्य है नहीं, लक्ष्य है।

अब यदि आप कहें कि "उसके पास ही गई थी" इस अंश के लक्ष्य होने पर भी जो जाने का फल है "रमण", वह तो व्यंग्य ही रहा; क्योंकि वह तो लक्षणा से ज्ञात हो नहीं सकता। सो भी नहीं; क्योंकि आपने ही "चित्रमीमांसा" में लिखा है—"अधम शब्द का अर्थ हीन है, और हीन दो प्रकार से हो सकता है—एक जाति से, दूसरे कर्म से। सो उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से हीन तो बता नहीं सकती......" इत्यादि। तब यह सिद्ध हुआ कि "रमण" भी अर्थापत्ति प्रमाण से स्पष्ट प्रतीत होता है; क्योंकि जो बात किसी दूसरी रीति से उपस्थित हो जाय, उसे शब्द का अर्थ नहीं माना जाता। पर यदि समझ लो कि "अर्थापत्ति" कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, जैसा कि कई एक दर्शनकारों ने माना है, तो वहाँ जाने का फल "रमण" व्यंग्य हो सकता है, पर तथापि जो बात तुम चाहते हो, वह सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि "स्तनों के ऊपरी भाग का चंदन हटना" आदि एवं नायक की "अधमता", ये जो वाच्य हैं, वे, तुम्हारे हिसाब से, केवल दूती के संभोग से ही सिद्ध हो सकते हैं, अन्य किसी प्रकार—अर्थात् बावड़ी में नहाने आदि—से नहीं; इस कारण यह काव्य 'गुणीभूतव्यंग्य' हो जायगा; क्योंकि बेचारे व्यंग्य को ही उन वाच्य अर्थों को सिद्ध करना पड़ेगा, सो वह वाच्यों की अपेक्षा गौण हो जायगा। तब तुमने जो इसे "ध्वनि-काव्य" माना है सो न हो सकेगा। इस तरह युक्ति के द्वारा भी तुम्हारा सब आडंबर व्यर्थ ही

सिद्ध होता है। सो अत्यंत चतुर नायिका के कहे हुए इन विशेषणों का वाच्य अर्थ (वापीस्नान) और व्यंग्य अर्थ (संभोग) दोनों में साधारण होना--दोनों में बराबर लग जाना—ही उचित है, न कि एक (संभोग) ही में लगना।

तब उनको यों लगाना चाहिए--"हे बांधव जन के (मेरे) ऊपर आई हुई पीड़ा को न जाननेवाली स्वार्थ में तत्पर दूती ! तू स्नान का समय न चूक जाय इसलिये, नदी और मेरे प्रिय दोनों के पास न जाकर, मेरे पास से, स्नान करने के लिये सीधी बावड़ी चली गई; उस, दूसरे की पीड़ा के अनभिज्ञ होने के कारण दुःख देनेवाले अतएव, अधम के पास नहीं। यह तेरी दशा से सूचित होता है। देख, बावड़ी में बहुतेरे युवा लोग नहाने के लिये आया करते हैं, उनसे लज्जित होने के कारण, तूने अपने हाथों को कंधे पर धरकर और उनमें आँटी लगाकर स्तनों को मला है; अतः ऊँचा होने के कारण स्तनों का ऊपरी भाग ही मला जा सका और छाती का चंदन लगा ही रह गया। इसी तरह, जल्दी में, अच्छी तरह न धोने के कारण ऊपर के होठ का रंग पूरा न उड़ सका; पर नीचे के होठ में कुल्लों के जल, दाँत साफ करने की अँगुली आदि की रगड़ अधिक लगती है, इस कारण वह बिलकुल साफ हो गया। नेत्रों में जल केवल लग ही पाया, अतः ऊपर-ऊपर से ही काजल हट सका। इसी प्रकार तू दुबली है और ठंड पड़ रही है, सो शरीर रोमांचित हो गया है।" इस तरह चतुर नायिका की उक्ति के अभिप्राय का छिपा हुआ होना ही उचित है, नहीं तो उसकी सब चतुराई मिट्टी में मिल जायगी।

इस प्रकार जब इन वाक्यों के अर्थ साधारण होंगे, तो मुख्य अर्थ में कोई बाधा न आवेगी; अतः यहाँ लक्षणा के लियेस्थान हीं न रहेगा। वाच्यार्थ समझने के अनंतर जब यह सोचेंगे कि यह बात कौन किससे

कह रही है, बात नायक के विषय की है; तब यह प्रतीत होगा--दुःख देने के कारण नायक को "अधम" कहा जा रहा है। और देखिए, वह अधम शब्द वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थों में समान रूप से अन्वित हो जाता है। फिर, "नायक ने, पहले, जो किसी प्रकार की बुराइयाँ की थीं, उसके हिसाब से, नायिका ने उसे दुःखदायी बताया है", वाच्य अर्थ में इस प्रकार समझा हुआ अधम शब्द व्यंजना-शक्ति के द्वारा "दूती से संभोग करने के कारण जो उसका दुःखदायित्व हुआ है" उस रूप में परिणत हो जाता है--उस शब्द से यह सिद्ध हो जाता है कि "नायक ने दूती से संभोग किया है।" यह है अलंकारशास्त्र के ज्ञाताओं के सिद्धांत का सार।

इससे "अधम-शब्द का अर्थ हीन है, और हीन दो प्रकार से हो सकता है—एक जाति से, दूसरे कर्म से। सो उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से हीन तो बता नहीं सकती। अब रही कर्म से हीनता, सो उसे भी, दूती के संभोग आदि, जो अपने (नायिका के) अपराध रूप में परिणत हो सकते हैं; ऐसे कर्म के अतिरिक्त अन्य तो बता नहीं सकती। और वैसे कर्म भी जो दूती के भेजने के पहले हुए थे, वे तो सब सह ही लिएगए हैं, सो उनको उघाड़ने की आवश्यकता नहीं। तब अंततोगत्वा, सब बखेड़े के हटने के बाद, दूती का संभोग ही सिद्ध होता है।" यह जो आप (अप्पय दीक्षित) ने लिखा है; वह भी खंडित हो जाता है। क्योंकि चतुर और उत्तम नायिका सखियों के सामने, उसी (दूती) से संभोग करना जो अपने नायक का अपराध है, उसे स्पष्ट प्रकट करे; यह अत्यन्त अनुचित है; अतः जिन पुराने अपराधों को वह सह चुकी है, वे बड़े असह्य थे, इस कारण नायिका को दूती के सामने उन्हीं का प्रति-पादन करना अभीष्ट था। बस, इतने में सब समझ लीजिए।

उत्तम काव्य

जिस काव्य में व्यंग्य चमत्कार-जनक तो हो, पर प्रधान न हो, वह उत्तम काव्य होता है।

यहाँ जो व्यंग्य वाच्य-अर्थ की अपेक्षा तो प्रधान हो पर दूसरे किसी व्यंग्य की अपेक्षा गौण हो, उस व्यंग्य में अतिव्याप्ति न हो जाय, इसके लिये "प्रधान न हो" लिखा है; क्योंकि जिसमें व्यंग्य की अपेक्षा व्यंग्य गौण भले ही हो; किन्तु वाच्य की अपेक्षा प्रधान हो वह 'ध्वनि काव्य' ही होता है। और, जिन वाच्य-चित्र-काव्यों में व्यंग्य लीन हो जाता है—उसका कुछ भी चमत्कार नहीं रहता—किंतु केवल अर्थालंकारों—उपमादिकों—की ही प्रधानता रहती है, उनमें अतिव्याप्ति न हो जाय; इसलिये लिखा है कि "चमत्कार-जनक हो"।

चित्रकाव्य भी गुणीभूतव्यङ्ग होता है

यहाँ एक विचार और है। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने "अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्" इस गुणीभूतव्यंग्य के लक्षण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "गुणीभूतव्यंग्य उसी का नाम है, जो "चित्र (अलंकारप्रधान) काव्य" न हो। पर यह उनका कथन ठीक नहीं; क्योंकि पर्यायोक्ति, समासोक्ति आदि अलंकार जिनमें प्रधान हों, उन काव्यों में अव्याप्ति हो जायगी—अर्थात् उनका यह लक्षण न हो सकेगा। और होना चाहिए अवश्य; क्योंकि सभी अलंकारशास्त्र के ज्ञाताओं ने उनको गुणीभूतव्यंग्य और चित्र दोनों माना है। अतः जो चित्र-काव्य हो, वह गुणीभूतव्यंग्य न हो सके यह कोई बात नहीं।

अच्छा अब उत्तम काव्य का उदाहरण लीजिए—

राघवविरहज्वालासंतापितसह्यशैलशिखरेषु ।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय ॥

रघुवर - विरहानल तपे सह्य-शैल के अंत।
सुख सों सोए, शिशिर में, कपि कोपे हनुमंत॥

भगवान् रामचंद्र के विरहानल की ज्वालाओं से संतप्त सह्याचल के शिखरों पर, ठंड के दिनों में, सुख से सोए हुए बंदर हनुमान् पर क्रोध कर रहे हैं।

इस श्लोक का व्यंग्य अर्थ यह है कि "जानकीजी की कुशलता सुनाकर हनुमान् ने रामचंद्र को शीतल कर दिया, उनका विरह-ताप शांत हो गया" और वाच्य अर्थ है "हनुमान् पर बंदरों का अकस्मात् उत्पन्न होनेवाला क्रोध"। सो यह वाच्य अर्थ व्यंग्य के द्वारा ही सिद्ध होता है; क्योंकि पहले जब व्यंग्य के द्वारा यह समझ लेते हैं—रामचंद्र का विरह शांत होने से सह्याचल के शिखर ठंडे हो गए, तब यह सिद्ध होता है कि—इसी कारण, ठंड के मारे, बंदरों ने हनुमान् पर क्रोध किया। अतः यह व्यंग्य गौण हो गया, प्रधान नहीं रहा; क्योंकि वाच्य अर्थ को सिद्ध करनेवाला व्यंग्य गौण हो जाता है, यह नियम है। पर इस दशा में भी, जिस तरह दुर्भाग्य के कारण कोई राजांगना किसी की दासी बनकर रहे, तथापि उसका अनुपम सौंदर्य झलकता ही है, ठीक उसी प्रकार इस व्यंग्य में भी अनिर्वचनीय सुंदरता दृष्टिगोचर हो रही है।

यहाँ एक शंका होती है—इसी तरह "तल्पगताऽपि च सुतनुः......
..." इस पूर्वोक्त ध्वनि-काव्य के उदाहरण में "हाथ का धीरे धीरे हटाना" भी नई दुलहिन के स्वभाव के विरुद्ध है; क्योंकि नवोढा के स्वभाव के अनुसार तो उसे झट हटा देना चाहिए था; इस कारण वह वाच्य भी व्यंग्य (प्रेम) से ही सिद्ध किया जा सकता है—अर्थात् धीरे धीरे उठाना तभी सिद्ध हो सकता है, जब हम यह समझ लें कि उसे पति से प्रेम होने लगा है, सो उसे उत्तमोत्तम काव्य कहना ठीक नहीं।

इसका उत्तर यह है—प्रतिदिन के सखियों के उपदेश आदि, जो कि विशेष चमत्कारी नहीं हैं, उनसे भी "धीरे धीरे उठाना" सिद्ध हो सकता है, अतः उसके सिद्ध करने के लिये प्रेम ही की विशेष आवश्यकता हो, सो बात नहीं है। अतः यह व्यंग्य वाच्यसिद्धि का अङ्ग नहीं है। किन्तु सहृदयों के हृदय में जो पहले ही से यह बात उठ खड़ी होती है कि "यह वियोग के समय का प्रेम है" उसे ध्वनित किए बिना "धीरे धीरे उठाना", स्वतंत्रतया, परम आनंद के आस्वाद का विषय बनने का सामर्थ्य नहीं रखता, अतः रसको ध्वनित करने में वह सहायक अवश्य है।

इसी तरह "निःशेषच्युतचन्दनम्········" आदि पद्यों में भी "अधमता" आदि वाच्य, व्यंग्य (दूती-संभोग आदि) के अतिरिक्त अन्य अर्थ (अपराधान्तर) द्वारा सिद्ध हैं, और व्यंग्य अर्थ का स्वयं अभिव्यक्त करते हैं सो वहाँ भी व्यंग्य के गौण होने की शंका न करनी चाहिए।

उत्तमोत्तम और उत्तम भेदों में क्या अंतर है ?

यद्यपि इन दोनों (उत्तमोत्तम और उत्तम) भेदों में व्यंग्य का चमत्कार प्रकट ही रहता है, छिपा हुआ नहीं; तथापि एक में व्यंग्य की प्रधानता रहती है और दूसरे में अप्रधानता, इस कारण इनमें एक दूसरे की अपेक्षा विशेषता है, जिसे सहृदय पुरुष समझ सकते हैं।

चित्र-मीमांसा के उदाहरण का खंडन

अच्छा, अब एक "चित्रमीमांसा" के उदाहरण का खंडन भी सुन लीजिए; (क्योंकि इसके बिना पंडितराज को कल नहीं पड़ती)। वह उदाहरण यह है—

प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेण वा
किमुत सकले याते वाऽह्नि प्रिय ! त्वमिहैष्यसि ?

इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालाऽऽलापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥

"प्यारे ! क्या आप एक पहर के बाद लौट आवेंगे, या मध्याह्न में, अथवा उसके भी बाद ? किंवा पूरा दिन बीत जाने पर ही लौटेंगे ?" अश्रुधारा सहित इस तरह की बातों से बालिका (नवोढा) जहाँ सैकड़ों दिनों में पहुँचनेवाले हैं, उस देश में जाना चाहते हुए प्रेमी के जाने का निषेध कर रही है—उसे जाने से रोक रही है।

इस पद्य में "सारा दिन पूरी अवधि है, उसके बाद मैं न जी सकूँगी" यह व्यंग्य है, और वाच्य है "प्यारे के जाने का निवारण"। अब सोचिए कि "प्यारे का न जाना" तभी हो सकता है, जब कि वह यह समझ ले कि "यह एक दिन के बाद न जी सकेगी", सो यह वाच्य-अर्थ पूर्वोक्त व्यंग्य से सिद्ध होता है, इस कारण यह काव्य 'गुणीभूत-व्यंग्य (मध्यम)' है। यह है चित्रमीमांसाकार का कथन।

अब पंडितराज के विचार सुनिए। वे कहते हैं—गुणीभूतव्यंग्य का यह उदाहरण ठीक नहीं, क्योंकि अश्रुधारासहित "क्या आप एक पहर के बाद लौट आवेंगे ?" इत्यादि कथन ही से 'प्यारे का न जाना' रूपी वाच्य सिद्ध हो जाता है, इस कारण व्यंग्य के गौण होकर उसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं। "बातों से···जाने का निवारण कर रही है" इस कथन में "बातों से" यह तृतीया करण अर्थ में है; अतः स्पष्ट है कि वे (बातें) जाने के निवारण की साधक हैं। पर यदि आप कहें कि—व्यंग्य भी तो वाच्य को सिद्ध कर सकता है, इस कारण हमने उसे गुणीभूत लिखा है तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यदि ऐसा करोगे तो "निःशेषच्युतचन्दनम्···" आदिकों में भी "दूती-संभोग" आदि व्यंग्य भी नायक की अधमता को सिद्ध करते हैं, इस कारण वे भी गुणीभूत हो जायँगे। हाँ, यदि आप कहें कि "अश्रुधारा सहित...

बातों" की तो "जाने के बाद बहुत समय तक न ठहरना" यह सिद्ध कर देने से भी चरितार्थता हो सकती है; अतः व्यंग्य-सहित होने पर ही उनसे "जाने का निवारण" सिद्ध हो सकता है; तो पंडितराज कहते हैं अच्छा, "उसके बाद न जी सकूँगी" इस व्यंग्य को वाच्यसिद्धि का अंग मानकर गौण समझ लीजिए; पर नायक-आदि विभाव, अश्रु-आदि अनुभाव एवं चित्त के आवेग आदि संचारी भावों के संयोग से ध्वनित होने वाले विप्रलंभ-शृंगार के कारण इस काव्य को 'ध्वनित-काव्य' कहा जाय तो कौन मना कर सकता है* ।

मध्यम काव्य

जिस काव्य में वाच्य-अर्थ का चमत्कार व्यंग्य अर्थ के चमत्कार के साथ न रहता हो—उससे उत्कृष्ट हो, अर्थात् व्यंग्य का चमत्कार स्पष्ट न हो और वाच्य का चमत्कार स्पष्ट प्रतीत होता हो, वह 'मध्यम काव्य' होता है ।

जैसे यमुना के वर्णन में लिखा है कि—

तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरि-भुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी......।

---

* इस बहस में पंडितराज अप्पय दीक्षित को परास्त न कर सके; क्योंकि मध्य में प्रतीत होनेवाले व्यंग्य के द्वारा भी ध्वनि एवं गुणीभूत-व्यंग्य का व्यवहार होना काव्यप्रकाशकारादि साहित्य के प्राचीन आचार्यों को सम्मत है; अतः अंत में विप्रलंभ-शृंगार के ध्वनित होने से इस काव्य को गुणीभूतव्यंग्य न मानना कुछ भी अभिप्राय नहीं रखता; अन्यथा काव्यप्रकाशकारादि के दिए हुए "ग्रामतरुणं तरुण्याः..." आदि उदाहरण भी असंगत हो जायँगे; क्योंकि अंततोगत्वा विप्रलंभ की ध्वनि तो वे भी हैं ही ।

(यह यमुना) उस भगवती भागीरथी की सखी है, जो, मानो, अपने पुत्र मैनाक को ढूँढ़ने के लिए लंबी की हुई एवं समुद्र के उदर में घुसी हुई हिमालय पर्वत की भुजा है।

यहाँ संस्कृत में 'क्यङ्' प्रत्यय से और हिंदी में 'मानो' शब्द से वाच्य उत्प्रेक्षा ही चमत्कार का कारण है। यद्यपि यहाँ पर, गंगाजी में हिमालय पर्वत की भुजा की उत्प्रेक्षा की गई है, इस कारण 'श्वेतता' और "पुत्र मैनाक को ढूँढ़ने के लिये...समुद्र के उदर में घुसी हुई" इस कथन से 'पाताल की तह तक पहुँचना' व्यंग्य हैं, और उनका किसी अंश में चमत्कार भी है ही; तथापि वह चमत्कार उत्प्रेक्षा के चमत्कार के अंदर घुसा प्रतीत होता है, जैसे किसी ग्रामीण नायिका ने इतनी केसर चुपड़ ली हो कि उसका गोरापन केसर-रस के लेप के अंदर छिप गया हो। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई भी वाच्य-अर्थ ऐसा नहीं है, जो व्यंग्य अर्थ से थोड़ा बहुत संबंध रखे बिना स्वतः रमणीयता उत्पन्न कर सके—अर्थात् वाच्य-अर्थ में रमणीयता उत्पन्न करने के लिये व्यंग्य का संबंध आवश्यक है, पर वैसे व्यंग्यों से कोई काव्य उत्तम कोटि में नहीं आ सकता।

वाच्य चित्रों को किस भेद में समझना चाहिए ?

इन्हीं दूसरे और तीसरे (उत्तम और मध्यम) भेदों में, जिनमें से एक में व्यंग्य जगमगाता हुआ होता है और दूसरे में टिमटिमाता, सब अलंकारप्रधान काव्य प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् 'वाच्यचित्र' काव्यों का इन्हीं दोनों भेदो में समावेश है।

अधम काव्य

जिस काव्य में शब्द का चमत्कार प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार शब्द के चमत्कार को शोभित करने के लिये हो, वह 'अधम काव्य' कहलाता है;

जैसे—

मित्रात्रिपुत्रनेत्राय त्रयीशात्रवशत्रवे ।
गोत्रारिगोत्रजत्राय गोत्रात्रे ते नमो नमः ॥

भक्त कहता है—सूर्य और चंद्र जिनके नेत्र हैं, जो वेदों के शत्रुओं (असुरों) के शत्रु हैं और इंद्र के वंशजों (देवताओं) के रक्षक हैं, उन—गोपाल अथवा वृषभवाहन (शिव)—आपको बार-बार नमस्कार है ।

इसमें स्पष्ट दिखाई देता है कि अर्थ का चमत्कार शब्द के चमत्कार में लीन हो गया है—(श्लोक सुनने से शब्द के चमत्कार की ही प्रधानता प्रतीत होती है, अर्थ का चमत्कार कोई वस्तु नहीं ।)

अधमाधम भेद क्यों नहीं माना जाता ?

यद्यपि जिसमें अर्थ के चमत्कार से सर्वथा रहित शब्द का चमत्कार हो, वह काव्य का पाँचवाँ भेद 'अधमाधम' भी इस गणना में आना चाहिए; जैसे—एकाक्षर पद्य, अर्धावृत्तियमक और पद्मबंध प्रभृति । परंतु आनंदजनक अर्थ के प्रतिपादन करनेवाले शब्द का नाम ही काव्य है, और उनमें आनंदजनक अर्थ होता नहीं, इस कारण 'काव्यलक्षण' के हिसाब से वे वास्तव में काव्य ही नहीं हैं । यद्यपि महाकवियों ने पुरानी परंपरा के अनुरोध से, स्थान-स्थान पर, उन्हें लिख डाला है, तथापि हमने उस भेद को काव्यों में इसलिये नहीं गिना कि वास्तव में जो बात हो उसी का अनुरोध होना उचित है, आँखें मींचकर प्राचीनों के पीछे चलना ठीक नहीं ।

प्राचीनों के मत का खंडन

कुछ लोग काव्यों के ये चार भेद भी नहीं मानते; वे—उत्तम, मध्यम एव अधम—तीन प्रकार के ही काव्य मानते हैं । उनके विषय में हमें यह कहना है कि अर्थ-चित्र और शब्द-चित्र दोनों को एक

सा--अधम--ही बताना उचित नहीं; क्योंकि उनका तारतम्य स्पष्ट दिखाई देता है। कौन ऐसा सहृदय पुरुष होगा कि जो—

> विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्
> भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम्।
> ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला
> निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥*

एवम्

> स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणु-
> स्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः।
> अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य
> पूर्वोत्थितो धूम इवाऽऽबभासे ॥†

इत्यादि काव्यों के साथ

---

* यह हयग्रीव राक्षस का वर्णन है। इसका अर्थ यों है—मित्रों के सम्मानदाता अथवा शत्रुओं के दर्पनाशक जिस हयग्रीव का, स्वेच्छा-पूर्वक भी (न कि किसी चढ़ाई आदि के लिये), घर से निकलना सुनकर घबड़ाए हुए इंद्र के द्वारा शीघ्रता से डलवाई गई हैं अर्गलाएं जिसमें ऐसी अमरावती (देवताओं की पुरी), मानो, डर के मारे आखें मीच लेती है।

† यह रण-वर्णन है। इसका अर्थ यों है—घोड़ों की टापों आदि से जो रज उड़ी थी, उसकी जड़ (पृथ्वी से सटा हुआ भाग) रुधिर ने काट दी, और वह उस रुधिर के ऊपर ही ऊपर उड़ने लगी। वह (रज) ऐसे शोभित होती थी, मानो, आग के केवल अँगारे शेष रह गए हैं और उससे जो पहले निकल चुका था, वह धुआँ (ऊपर उड़ रहा) है।

स्त्रच्छन्दा
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाऽह्नाय वः।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥*

इत्यादि काव्यों की, जिनको केवल साधारण श्रेणी के मनुष्य सराहा करते हैं, समानता बता सकता है। और यदि तारतम्य के रहते हुए भी दोनों का एक भेद बताया जाता है, तो जिनमें बहुत ही कम (व्यंग्य की प्रधानता और अप्रधानता का ही) अंतर है, उन 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यंग्य' को पृथक् पृथक् भेद मानने के लिये क्यों दुराग्रह है? अतः काव्य के चार भेद मानना ही युक्तियुक्त है।

शब्द-अर्थ दोनों चमत्कारी हों तो किस भेद में समावेश करना चाहिए?

जिस काव्य में शब्द और अर्थ दोनो का चमत्कार एक ही साथ हो, वहाँ यदि शब्द-चमत्कार की प्रधानता हो, तो अधम और अर्थ-चमत्कार की प्रधानता हो, तो मध्यम कहना चाहिए। पर यदि शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार दोनों समान हों, तो उस काव्य को मध्यम ही कहना चाहिए। जैसे—

---

* वह गङ्गा आपके अज्ञान को शीघ्र नष्ट करे, जिसके स्वतंत्र उछलते हुए और स्वच्छ जलप्राय प्रदेश के खड्डों के प्रबल जल की परंपरा महर्षियों के अज्ञान का नाश करनेवाली है और जिस जलपरम्परा में वे लोग स्नान एवं नित्यनियम किया करते हैं, जिसकी कंदराओं में, तरंगों की चोट से ऊपर का भाग गिर जाने के कारण, बड़े - बडे मेंढक दिखाई देते है और विस्तृत एवं सघन वृक्षों के गिराने के कारण अधिकता से युक्त लहरें ही जिसका गहरा मद है।

उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पन्धयानां
निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम् ।
उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः
सघातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत् ॥

खिले हुए कमलों के मध्य से निकलते हुए (रात भर मधुपान करके) मत्त भ्रमरों का उल्लास (आनंददाता), शोकरूपी दावानल से जिनका हृदय विकल हो रहा था उन चक्रवाकियों का निस्तार (दुःख मिटानेवाला), जिन्होंने तेज को नष्ट कर दिया था उन अंधकार के समूहों का उत्पात (नष्ट करनेवाला) और नेत्रों का पक्षपात (सहायक) एक तेज का पुञ्ज उदयाचल के प्रांत से प्रकट हुआ।

इस श्लोक में शब्दों से वृत्त्यनुप्रास की अधिकता और ओजगुण के प्रकाशित होने के कारण शब्द का चमत्कार है, और प्रसाद-गुण-युक्त होने के कारण शब्द सुनते ही ज्ञात हुए 'रूपक' अथवा 'हेतु' अलङ्काररूपी अर्थ का चमत्कार है। सो श्लोक में दोनों—शब्द और अर्थ के चमत्कारों—के समान होने के कारण दोनों की प्रधानता समान ही है; इस कारण इसे मध्यम काव्य कहना ही उचित है। (हिंदी में, इस श्रेणी में, पद्माकर के कितने ही पद्य आ सकते हैं।)

ध्वनि-काव्य के भेद

काव्य का उत्तमोत्तम भेद जो 'ध्वनि' है, उसके यद्यपि असंख्य भेद हैं, तथापि साधारणतया कुछ भेद यहाँ लिखे जाते हैं। ध्वनि-काव्य दो प्रकार का होता है—एक अभिधामूलक और दूसरा लक्षणामूलक।

उनमें से पहला अर्थात् अभिधामूलक ध्वनि-काव्य तीन प्रकार का है—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि। 'रसध्वनि' यह शब्द

यहाँ असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि (जिसमें ध्वनित करनेवाले और ध्वनित होने वाले के मध्य का क्रम प्रतीत नहीं होता) के लिये लाया गया है, अतः 'रस-ध्वनि' शब्द से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशांति, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता सबका ग्रहण समझना चाहिए।

दूसरा (लक्षणामूलक ध्वनि-काव्य) दो प्रकार का है--अर्थांतर-संक्रमित वाच्य और अत्यंत-तिरस्कृत वाच्य। इस तरह ध्वनिकाव्य के पाँच भेद हैं।

उनमें से 'रस-ध्वनि' सबसे अधिक रमणीय है; इस कारण पहले रस-ध्वनि का आत्मा जो 'रस' है, उसका वर्णन किया जाता है।

रस का स्वरूप और उसके विषय में ग्यारह मत

प्रधान लक्षण

(१)

अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मट भट्ट का मत

(क)

सहृदय पुरुष, संसार में, जिन रति-शोक आदि भावों का अनुभव करता है, वह कभी किसी से प्रेम करता है और कभी किसी का शोक इत्यादि, उनका उसके हृदय पर संस्कार जम जाता है—वे भाव वासनारूप से उसके हृदय में रहने लगते हैं। वे ही वासनारूप रति आदि स्थायी भाव, जो एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं और जिनका वर्णन आगे स्पष्ट रूप से किया जायगा, जब स्वतः प्रकाशमान और वास्तव में विद्यमान आत्मानंद के साथ अनुभव किए जाते हैं, तो

'रस' कहलाने लगते हैं। पर उस आनंदरूप आत्मा के ऊपर अज्ञान का आवरण छाया हुआ है—वह अज्ञान से ढँका हुआ है; और जब तक उस आत्मानंद का साथ न हो, तब तक वासनारूप रति आदि का अनुभव किया नहीं जा सकता। अतः उसके उस आवरण को दूर करने के लिये एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न की जाती है। जब उस क्रिया के द्वारा अज्ञान, जो उस आनंद का आच्छादक है, दूर हो जाता है, तो अनुभवकर्त्ता में जो अल्पज्ञता रहती है, उसे जो कुछ पदार्थों का बोध होता है और कुछ का नहीं, वह लुप्त हो जाती है; और सांसारिक भेद-भाव निवृत्त होकर उसे आत्मानंदसहित रति आदि स्थायी भावों का अनुभव होने लगता है। पूर्वोक्त अलौकिक क्रिया को विभाव, अनुभाव और संचारी भाव उत्पन्न करते हैं—अर्थात् वह उन तीनों के संयोग से उत्पन्न होती है।

(अब यह भी समझिए कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव क्या वस्तु हैं। जो रति आदि चित्तवृत्तियाँ आत्मानंद के साथ अनुभव करने पर रसरूप में परिणत होती हैं, वे जिन कारणों से उत्पन्न होती हैं वे कारण दो प्रकार के होते हैं। एक वे जिनसे वे उत्पन्न होती हैं और दूसरे वे जिनसे वे उद्दीप्त की जाती हैं—उन्हें जोश दिया जाता है। जिन कारणों से उत्पन्न होती हैं उन्हें आलंबन कारण कहते हैं और जिनसे वे उद्दीप्त की जाती हैं उन्हें उद्दीपन। इसी तरह पूर्वोक्त चित्तवृत्तियों के उत्पन्न होने पर शरीर आदि में कुछ भाव उत्पन्न होते हैं, जो उन चित्तवृत्तियों के कार्य होते हैं। और इसी प्रकार जब वे चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं तो उनके साथ अन्यान्य चित्तवृत्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं जो सहकारी होती हैं और उन चित्तवृत्तियों की सहायता करती हैं। इस बात को हम उदाहरण देकर समझा देते हैं। मान लीजिए कि शकुंतला के विषय में दुष्यंत की अंतरात्मा में रति अर्थात् प्रेम उत्पन्न हुआ; ऐसी दशा में रति का उत्पादन करनेवाली शकुंतला

हुई; अतः वह प्रेम का आलंबन कारण हुई। चाँदनी चटक रही थी, वनलताएँ कुसुमित हो रही थीं; अतः वे और वैसी ही अन्य वस्तुएँ उद्दीपन कारण हुई। अब दुष्यंत का प्रेम दृढ हो गया और शकुंतला के प्राप्त न होने के कारण, उसके वियोग में, उसकी आँखों से लगे अश्रु गिरने। यह अश्रुपात उस प्रेम का कार्य हुआ। यह रति का अनुभाव बनेगी। इसी तरह उस प्रेम के साथ-साथ, उसका सहकारी भाव, चिंता उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा कि मुझे उसकी प्राप्ति कैसे हो! यह चिन्ता रति का व्यभिचारी भाव बनेगी। इसी तरह शोक-आदि में भी समझो। पूर्वोक्त सभी बातों को हम संसार में देखा करते हैं। अब पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार)—संसार में, रति आदि के जो शकुंतला आदि आलंबन कारण होते हैं, चाँदनी आदि उद्दीपन कारण होते हैं, उनसे अश्रुपातादि कार्य उत्पन्न होते हैं और चिंता आदि सहकारी भाव होते हैं; वे ही जब, जहाँ जिस रस का वर्णन हो, उसके उचित एवं ललित शब्दों की रचना के कारण मनोहर काव्य के द्वारा उपस्थित होकर सहृदय पुरुषों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं, तब सहृदयता और एक प्रकार की भावना—अर्थात् काव्य के बार-बार अनुसंधान के प्रभाव से, उनमें से "शकुंतला दुष्यंत की स्त्री है" इत्यादि भाव निकल जाते हैं, और अलौकिक बनकर—संसार की वस्तुएँ न रहकर—जो कारण हैं वे विभाव, जो कार्य हैं वे अनुभाव और जो सहकारी हैं वे व्यभिचारी भाव कहलाने लगते हैं। इन्हीं के द्वारा प्रादुर्भूत (उक्त) अलौकिक व्यापार से आनन्दांश का आवरणरूप अज्ञान तत्काल निवृत्त कर दिया जाता है, अतएव ज्ञाता द्वारा अपने अल्पज्ञता आदि धर्मों को हटाकर, स्वप्रकाश होने के कारण, वास्तव निज स्वरूपानन्द (अनागन्तुक आनन्द) के साथ अनुभूयमान (संस्काररूपेण) पहले से स्थित वासनारूप रति-आदि (स्थायीभाव) 'रस' कहलाते हैं।

इसी बात को मम्मटाचार्य काव्यप्रकाश में कहते हैं—

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।

अर्थात् स्थायी भाव (रति आदि) जब पूर्वोक्त विभावादिकों से व्यक्त होता है तो 'रस' कहलाता है। और 'व्यक्त होने' का अर्थ यह है कि जिसका अज्ञानरूप आवरण नष्ट हो गया है उस चैतन्य का विषय होना—उसके द्वारा प्रकाशित होना। जैसे किसी शराव (सकोरा, कसोरा) आदि से ढंका हुआ दीपक, उस ढक्कन के हटा देने पर, पदार्थों को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है, इसी प्रकार आत्मा का चैतन्य विभावादि से मिश्रित रति आदि को प्रकाशित करता और स्वयं प्रकाशित होता है।

रति-आदि अंतःकरण के धर्म हैं और जितने अंतःकरण के धर्म हैं, उन सबको "साक्षिभास्य" माना गया है। 'साक्षिभास्य' किसे कहते हैं सो भी समझ लीजिए। संसार के जितने पदार्थ हैं, उनको आत्मा अंतः-करण से संयुक्त होकर भासित करता है और अंतःकरण के धर्म—प्रेम आदि—उस साक्षात् देखनेवाले आत्मा के ही द्वारा प्रकाशित होते हैं, अतः साक्षिभास्य कहलाते हैं।

अब यह शंका होती है कि रति आदि, जो वासनारूप से अंतः-करण में रहते हैं, उनका केवल आत्मचैतन्य के द्वारा बोध हो सकता है, क्योंकि वे अंतःकरण के धर्म हैं, पर विभाव आदि पदार्थों—अर्थात् शकुंतला आदि का उस चैतन्य के द्वारा, कैसे भान होगा? क्योंकि वे तो अन्तःकरण के धर्म हैं नहीं। इसका उत्तर यह है कि जैसे सपने में घोड़े आदि और जागते में (भ्रम होने पर) राँगे में चाँदी आदि साक्षिभास्य ही होते हैं, केवल आत्मा के द्वारा ही उनका भान होता है; क्योंकि वे कोई पदार्थ तो हैं नहीं, केवल कल्पना है; उसी प्रकार इन (विभावादि) को भी साक्षिभास्य मानने में कोई विरोध नहीं।

अब रही यह शंका कि ऐसा मानने से रस नित्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह भी उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली वस्तु के समान है, उसकी सदा तो स्फूर्ति होती नहीं; अतः व्यवहार से विरोध हो जायगा। सो इसका समाधान यह है कि—रस को ध्वनित करनेवाले विभावादिकों के आस्वादन के (क्योंकि ये कल्पित हैं) अथवा उनके संयोग से उत्पन्न किए हुए अज्ञानरूप आवरण के भंग की उत्पत्ति और विनाश के कारण रस की उत्पत्ति और विनाश मान लिए जाते हैं। जैसे कि वैयाकरण लोग अक्षरों को नित्य मानते हैं, तथापि वर्णों को व्यक्त करनेवाले तालु-आदि स्थानों की क्रियाओं की उत्पत्ति और विनाश को अकार आदि अक्षरों की उत्पत्ति और विनाश मान लेते हैं।

तब यह सिद्ध हुआ कि जब तक विभावादिकों की चर्वणा होती है—उनका अनुभव होता रहता है, तब तक ही आत्मानंद का आवरणभंग होता है और आवरणभंग होने पर ही रति-आदि प्रकाशित होते हैं; अतः जब विभावादिकों की चर्वणा निवृत्त हो जाती है, तब प्रकाश ढँक जाता है, इस कारण स्थायी भाव यद्यपि विद्यमान रहता है, तथापि हमें उसका अनुभव नहीं होता।

(ख)

(पहले पक्ष में यह बतलाया गया है कि विभावादिकों के संयोग से एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है और उसके द्वारा पूर्वोक्त रीति से रस का आस्वादन होता है, पर इस अलौकिक क्रिया के न मानने पर भी काम चल सकता है, इस अभिप्राय से कहते हैं)—अथवा यों समझना चाहिए—

सहृदय पुरुष जो विभावादिकों का आस्वादन करता है, उसका सहृदयता के कारण, उसके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है और उस

प्रभाव के द्वारा, काव्य की व्यंजना से उत्पन्न की हुई उसकी चित्तवृत्ति, जिस रस के विभावादिकों का उसने आस्वादन किया है उसके स्थायी भाव से युक्त अपने स्वरूपानंद को, जिसका वर्णन पहले हो चुका है, अपना विषय बना लेती है—अर्थात् तन्मय हो जाती है, जैसी कि सविकल्पक* समाधि में योगी की चित्तवृत्ति हो जाती है। तात्पर्य यह कि उसकी चित्तवृत्ति को उस समय स्थायी भाव से युक्त आत्मानंद के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का बोध नहीं रहता। अर्थात् पूर्वोक्त व्यापार के बिना, विभावादिकों के आस्वादन के प्रभाव से ही, चित्तवृत्ति रति आदि सहित आत्मानंद का अनुभव करने लगती है। यह आनंद अन्य सांसारिक सुखों के समान नहीं है; क्योंकि वे सब सुख अंतःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यरूप होते हैं, उनके अनुभव के समय चैतन्य का और अंतःकरण की वृत्तियों का योग रहता है; पर यह आनंद अंतःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यरूप नहीं, किंतु शुद्ध चैतन्यरूप है; क्योंकि इस अनुभव के समय चित्तवृत्ति आनंदमय हो जाती है और आनंद अनवच्छिन्न रहता है—उसका अंतःकरण की वृत्तियों के द्वारा अवच्छेद नहीं रहता।

इस तरह, अभिनवगुप्ताचार्य ("ध्वनि" के टीकाकार) और मम्मट भट्ट (काव्यप्रकाशकार) आदि के ग्रंथों के वास्तविक तात्पर्य के अनुसार "अज्ञानरूप आवरण से रहित चैतन्य से युक्त रति-आदि स्थायी भाव ही 'रस' हैं" यह स्थिर हुआ।

---

* समाधियां दो प्रकार की हैं—एक संप्रज्ञात और दूसरी असंप्रज्ञात; इन्हीं का नाम सविकल्पक और निर्विकल्पक भी है। सविकल्पक समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय का पृथक्-पृथक् अनुसंधान रहता है; पर निर्विकल्पक में कुछ नहीं रहता, योगी ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है।

(ग)

वास्तव में तो आगे जो श्रुति हम लिखनेवाले हैं उसके अनुसार, रति आदि से युक्त आवरण-रहित चैतन्य का ही नाम 'रस' है।

अस्तु, कुछ भी हो, चाहे ज्ञानरूप आत्मा के द्वारा प्रकाशित होने वाले रति-आदि को रस मानो अथवा रति-आदि के विषय में होनेवाले ज्ञान को; दोनों ही तरह यह अवश्य सिद्ध है कि रस के स्वरूप में रति और चैतन्य दोनों का साथ है। हाँ, इतना भेद अवश्य है कि एक पक्ष में चैतन्य विशेषण है और रति आदि विशेष्य और दूसरे पक्ष में रति आदि विशेषण हैं और चैतन्य विशेष्य। पर दोनों ही पक्षों में, विशेषण अथवा विशेष्य किसी रूप में रहनेवाले चैतन्यांश को लेकर रस की नित्यता और स्वतःप्रकाशमानता सिद्ध है और रति आदि के अंश को लेकर अनित्यता और दूसरे के द्वारा प्रकाशित होना।

चैतन्य के आवरण का निवृत्त हो जाना—उसका अज्ञान-रहित हो जाना—ही इस रस की चर्वणा (आस्वादन) कहलाती है, जैसा कि पहले कह आए हैं; अथवा अंतःकरण की वृत्ति के आनंदमय हो जाने को (जैसा कि दूसरा पक्ष है) रस की चर्वणा समझिए। यह चर्वणा परब्रह्म के आस्वाद-रूप समाधि से विलक्षण है, क्योंकि इसका आलंबन विभावादि विषयों (सांसारिक पदार्थों) से युक्त आत्मानंद है और समाधि के आनंद में विषय साथ रह नहीं सकते। यह चर्वणा केवल काव्य के व्यापार (व्यंजना) से उत्पन्न की जाती है।

अब यह शंका हो सकती है कि इस आस्वादन में सुख का अंश प्रतीत होता है इसमें क्या प्रमाण है ? हम पूछते हैं कि समाधि में भी सुख का भान होता है इसमें क्या प्रमाण है ? प्रश्न दोनों में बराबर ही है। आप कहेंगे—

"सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्" (भगवद्‌गीता) अर्थात् समाधि में जो अत्यंत सुख है, उसे बुद्धि जान सकती है, इन्द्रियाँ नहीं।" इत्यादि शब्द प्रमाणरूप में विद्यमान हैं; तो हम कहेंगे कि हमारे पास भी दो प्रमाण विद्यमान हैं। एक तो "रसो वै सः" (अर्थात् वह आत्मा रसरूप है) और "रस ँ ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनंदी-भवति" (रस को प्राप्त होकर ही यह आनंदरूप होता है) ये श्रुतियाँ और दूसरा सब सहृदयों का प्रत्यक्ष। आप सहृदयों से पूछ देखिए कि इस चर्वणा में कुछ आनंद है अथवा नहीं। स्वयं अभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं—"जो यह दूसरे (ख) पक्ष में 'चित्तवृत्ति के आनंदमय हो जाने' को रस की चर्वणा बताई गई है, वह शब्द के व्यापार (व्यंजना) से उत्पन्न होती है, इस कारण शब्द-प्रमाण के द्वारा ज्ञात होनेवाली है और प्रत्यक्ष सुख का आलंबन है—इसके द्वारा सुख का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इस कारण प्रत्यक्ष रूप है; जैसे कि "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से उत्पन्न होनेवाला ब्रह्मज्ञान।"

(२)

भट्टनायक का मत

साहित्यशास्त्र के एक पुराने आचार्य भट्टनायक का कथन है कि—तटस्थ रहने पर—रस से कुछ संबंध न होने पर—यदि रस की प्रतीति मान ली जाय तो रस का आस्वादन नहीं हो सकता; और 'रस हमारे साथ संबंध रखता है' यह प्रतीत होना बन नहीं सकता; क्योंकि शकुंतलादिक सामाजिकों (नाटक देखनेवाले आदि) के तो विभाव हैं नहीं—वे उनके प्रेम आदि का तो आलंबन हो नहीं सकतीं; क्योंकि सामाजिकों से शकुंतला आदि का लेना-देना क्या? और बिना विभाव के आलंबनरहित रस की प्रतीति हो नहीं सकती; क्योंकि जिसे हम अपना प्रेमपात्र समझना चाहते हैं, उससे हमारा कुछ संबंध तो अवश्य

होना चाहिए--उसमें वह योग्यता होनी चाहिए कि वह हमारा प्रेम-पात्र बन सके। आप कहेंगे कि 'स्त्री होने' के कारण वे साधारण रूप से विभाव बनने की योग्यता रख सकती हैं। सो यह ठीक नहीं। जिसे हम विभाव (प्रेमपात्र) मानते हैं, उसके विषय में हमें यह ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि 'वह हमारे लिये अगम्य नहीं है—उसके साथ हमारा प्रेम हो सकता है', और वह ज्ञान भी ऐसा होना चाहिए कि जिसकी अप्रामाणिकता (गैरसबूती) न हो—अर्थात् कम से कम, हम यह न समझते हो कि यह बात बिलकुल गलत है। अन्यथा स्त्री तो हमारी बहिन आदि भी होती हैं वे भी विभाव होने लगेंगी। इसी तरह करुण-रसादिक में जिसके विषय में हम 'शोक' कर रहे हैं, वह अशोच्य (अर्थात् जिसका सोच करना अनुचित है, जैसे ब्रह्मज्ञानी) अथवा निंदित पुरुष (जिसके मरने से किसी को कष्ट न हो) न होना चाहिए। अब जिसे हम विभाव मानते हैं, उसके विषय में वैसे (अगम्य होने आदि के) ज्ञान की उत्पत्ति का न होना किसी प्रतिबंधक (उस ज्ञान को रोकनेवाले) के सिद्ध हुए बिना बन नहीं सकता। यदि आप कहें कि 'दुष्यंतादिक (जिनकी शकुंतलादिक प्रेमपात्र थीं) के साथ हमारा अपने को अभिन्न समझ लेना ही उस ज्ञान का प्रतिबंधक है; सो ठीक नहीं; क्योंकि शकुंतला का नायक दुष्यंत पृथिवीपति और धीर पुरुष था और हम इस युग के क्षुद्र मनुष्य हैं, इस विरोध के स्पष्ट प्रतीत होने के कारण उसके साथ अपना अभेद समझना दुर्लभ है।

यह तो हुई एक बात। अब हम आपसे एक दूसरी बात पूछते हैं—यह जो हमें रस की प्रतीति होती है सो है क्या? दूसरा कोई प्रमाण तो इस बात को सिद्ध करनेवाला है नहीं; अतः (काव्य सुनने से उत्पन्न होने के कारण) इसे शब्द-प्रमाण से उत्पन्न हुई समझिए। सो हो नहीं सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर, रात-दिन व्यवहार में आने-वाले अन्य शब्दों के द्वारा ज्ञात हुए, स्त्री-पुरुषों के वृत्तांतों के ज्ञान में

जैसे कोई चित्ताकर्षकता नहीं होती, वही दशा इस प्रतीति की भी होगी। यदि इसे मानस ज्ञान समझें, यो यह भी नहीं बन सकता; क्योंकि सोच-साचकर लाए हुए पदार्थों का मन में, जो बोध होता है, उससे इसमें विलक्षणता दिखाई देती है। न इसे स्मृति ही कह सकते हैं; क्योंकि उन पदार्थों का वैसा अनुभव पहले कभी नहीं हुआ है, और जिस वस्तु का अनुभव नहीं हुआ हो, उसकी स्मृति हो नहीं सकती। अतः यह मानना चाहिए कि अभिधा शक्ति के द्वारा जो पदार्थ समझाए जाते हैं, उन पर 'भावकत्व' अथवा 'भावना' नामक एक व्यापार काम करना है। उसका काम यह है—रस के विरोधी जो 'अगम्या होने आदि' के ज्ञान हैं, वे हटा दिए जाते हैं, और रस के अनुकूल 'कामिनीपन' आदि धर्म ही हमारे सामने आते हैं। इस तरह वह क्रिया दुष्यंत, शकुंतला, देश, काल, वय और स्थिति आदि सब पदार्थों को साधारण बना देती है, उनमें किसी प्रकार की विशेषता नहीं रहने देती कि जिससे हमारी रस-चर्वणा में गड़बड़ पड़े। बस, यह सब कार्रवाई करके वह (भावना) ठंडी पड़ जाती है। उसके अनंतर एक तीसरी क्रिया उत्पन्न होती है, जिसका नाम है "भोगकृत्त्व", अर्थात् आस्वादन करना। उस क्रिया के प्रभाव से हमारे रजोगुण और तमोगुण का लय हो जाता है और सत्त्वगुण की वृद्धि होती है; जिससे हम अपने चैतन्यरूपी आनंद को प्राप्त होकर (सांसारिक झगड़ों से) विश्राम पाने लगते हैं, उस समय हमें इन झगड़ों का कुछ भी बोध नहीं रहता, केवल आनंद ही आनंद का अमुभव होता है। वस, यह विश्राम ही रस का साक्षात्कार (अनुभव) है; और 'रस' हैं इसके द्वारा अनुभव किए जानेवाले रति-आदि स्थायी भाव, जिनको कि पूर्वोक्त भावना नामक क्रिया साधारण रूप में—अर्थात् किसी व्यक्ति-विशेष से संबंध न रखनेवाले बनाकर—उपस्थित करती हैं। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि सत्त्वगुण की वृद्धि के कारण जो आनंद प्रकाशित होता है, उससे

अभिन्न ज्ञान (चैतन्य) का नाम ही 'भोग' है और उसके विषय (अनुभव में आनेवाले) होते हैं रति-आदि स्थायी भाव। अतः इस पक्ष में भी (प्रथम पक्ष की तरह ही) भोग किए जाते हुए (अर्थात् चैतन्य से युक्त) रति आदि अथवा रति आदि का भोग (अर्थात् रति आदि से युक्त चैतन्य) इन दोनों का नाम रस है। यह आस्वाद ब्रह्मानंद के आस्वाद का समीपवर्त्ती या सहोदर कहलाता है, ब्रह्मानंद रूप नहीं, क्योंकि यह विषयों (रति आदि) से मिश्रित रहता है और उस (ब्रह्मानंद) में विषयानंद सर्वथा नहीं रहता। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि पूर्वोक्त रीति से काव्य के तीन अंश हैं—एक अभिधा, जिससे काव्यगत पदार्थों को समझा जाता है; दूसरा भावना, जिससे उनमें से व्यक्तिगतता हटा दी जाती है और तीसरा भोगीकृति, जिससे उनका आस्वादन किया जाता है।

इस मत में पहले मत से, केवल, भावकत्व अथवा भावना नामक अतिरिक्त क्रिया का स्वीकार करना ही विशेषता है; भोग आवरण से रहित चैतन्य रूप है और आवरण भंग करनेवाली भोगीकृति नामक क्रिया तो (पहले मत की) व्यंजना ही है; इसमें और उसमें कुछ अंतर नहीं। एवं भोगकृत्त्व तथा ध्वनित करना इन दोनों में भी कोई भेद नहीं। शेष सब पद्धति वही है।

(३)

नवीन विद्वानों का मत

साहित्यशास्त्र के नवीन विद्वानों का मत है—काव्य में कवि के द्वारा और नाटक में नट के द्वारा, जब विभाव आदि प्रकाशित कर दिए जाते हैं, वे उन्हें सहृदयों के सामने उपस्थित कर चुकते हैं, तब हमें, व्यंजना वृत्ति के द्वारा, दुष्यंत आदि की जो शकुंतला आदि के विषय

में रति थी, उसका ज्ञान होता है—हमारी समझ में यह आता है कि दुष्यंत आदि का शकुंतला आदि के साथ प्रेम था।

तदनंतर सहृदयता के कारण एक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है जो कि एक प्रकार का दोष है। इस दोष के प्रभाव से हमारा अंतरात्मा कल्पित दुष्यंतत्व से आच्छादित हो जाता है—अर्थात् हम उस दोष के कारण अपने को, मन ही मन, दुष्यंत समझने लगते हैं। तब जैसे (हमारे) अज्ञान से ढँके हुए सीप के टुकड़े में चाँदी का टुकड़ा उत्पन्न हो जाता है—हमें सीप के स्थान में चाँदी की प्रतीति होने लगती है; ठीक इसी तरह पूर्वोक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यंतत्व से आच्छादित अपने आत्मा में, साक्षिभास्य शकुंतला आदि के विषय में, अनिर्वचनीय (सत् असत् से विलक्षण, अतएव जिनके स्वरूप का ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता ऐसी) रति आदि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं—अर्थात् हमें शकुंतला आदि के साथ व्यवहारतः बिलकुल झूठे प्रेम आदि उत्पन्न हो जाते हैं, और वे (चित्तवृत्तियाँ) आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाशित होती हैं। बस, उन्हीं विलक्षण चित्तवृत्तियों का नाम "रस" है। यह रस एक प्रकार के (पूर्वोक्त) दोष का कार्य है और उसका नाश होने पर नष्ट हो जाता है—अर्थात् जब तक हमारे ऊपर उस दोष का प्रभाव रहता है तभी तक हमें उसकी प्रतीति होती है।

यद्यपि यह न तो सुखरूप है, न व्यंग्य है और न इसका वर्णन हो सकता है; तथापि इसकी प्रतीति के अनंतर उत्पन्न होनेवाले सुख के साथ जो इसका भेद है वह हमें प्रतीत नहीं होता; इस कारण हम इसका सुखशब्द से व्यवहार करते हैं। कह देते हैं कि 'रस' सुखरूप है।

इसी तरह इसके पूर्व, व्यंजनावृत्ति के द्वारा, शकुंतला आदि के विषय में जो दुष्यंत आदि की रति आदि का ज्ञान होता है उसका

और इस—झूठे प्रेम आदि—का भेद विदित नहीं होता; अतः हम इसे व्यंग्य और वर्णन करने योग्य कह देते हैं—अर्थात् हम यह कहने लगते हैं कि यह व्यंजना वृत्ति से प्रकाशित हुआ है और कवि ने इसका वर्णन किया है।

इसी प्रकार सहृदयों की आत्मा को आच्छादित करनेवाला दुष्यंतत्व भी अनिर्वचनीय ही है, उसके भी स्वरूप का यथार्थ निरूपण नहीं हो सकता। वह हमारे आत्मा का आच्छादन कैसे करता है सो भी समझ लेना चाहिए। वह यों है कि जब हम अपनेआपको दुष्यंत समझ लेते हैं, तब यह समझते हैं कि यह रति आदि हमारे ही हैं, किसी अन्य व्यक्ति के नहीं; बस, इसी का अर्थ यह है कि हमको दुष्यंतत्व ने आच्छादित कर दिया। इस तरह मानने से, भट्टनायक की जो ये शंकाएँ हैं कि— "दुष्यंत आदि के जो रति-आदि हैं उनका तो हमें आस्वादन नहीं हो सकता; अतः वे रस नहीं कहला सकते; और अपने रति-आदि व्यक्त नहीं हो सकते, क्योंकि उनका शकुंतला आदि से कोई संबंध नहीं। यदि दुष्यंत के साथ अपना अभेद मानें तो वह हो नहीं सकता; क्योंकि हमको 'वह राजा हम साधारण पुरुष' इत्यादि बाधक ज्ञान है—इत्यादि।" सो सब उड़ गईं; इस पक्ष में उनको अवकाश ही नहीं है।

और जो कि प्राचीन आचार्यों ने विभावादिकों का साधारण होना (किसी विशेष व्यक्ति से संबंध न रखना) लिखा है, उसका भी बिना किसी दोष की कल्पना किए सिद्ध होना कठिन है; क्योंकि काव्य में जो शकुंतला आदि का वर्णन है, उसका बोध हमें शकुंतला (दुष्यंत की स्त्री) आदि के रूप में ही होता है, केवल स्त्री के रूप में नहीं। तब यह तो सिद्ध हो ही गया कि शकुंतला आदि में जो विशेषता है उसे निवृत्त करने के लिये किसी दोष की कल्पना करना आवश्यक है; और तब उसी दोष के द्वारा

अपने आत्मा में दुष्यंत आदि के साथ अभेद समझ लेना भी सहज ही सिद्ध हो सकता है। फिर यों ही क्यों न समझ लिया जाय कि किसी प्रकार की गड़बड़ ही न रहे।

अब यहाँ एक शंका होती है कि आपने "अनिर्वचनीय रति-आदि के अनंतर जो सुख उत्पन्न होता है उसका और रति का भेदज्ञान न होने के कारण हम उसे सुखरूप कहते हैं"; इस कथन के द्वारा जो 'रति आदि के अनंतर केवल सुख का उत्पन्न होना' स्वीकार किया है, सो ठीक नहीं; क्योंकि रति के अनुभव से एक प्रकार का सुख उत्पन्न होता है यह बात बन सकती है; पर करुण रसादिकों के स्थायी भाव जो शोक आदि हैं, वे दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं, यह प्रसिद्ध है; अतः उनको सहृदय पुरुषों के आनंद का कारण कैसे कहा जा सकता है—यह कैसे माना जा सकता है कि उनसे भी सहृदयों को आनंद ही मिलता है। प्रत्युत यह सिद्ध हो सकता है कि जिस तरह नायक को दुःख उत्पन्न होता है उसी प्रकार सहृदय मनुष्य को भी होना चाहिए। यदि आप कहें कि सच्चे शोक आदि से दुःख उत्पन्न होता है, कल्पित से नहीं; अतः नायकों को दुःख होता है और (कल्पित शोक आदि के अनुभवकर्त्ता) सहृदय को नहीं। तो हम कह सकते हैं कि जब हमको रस्सी में सर्प का भ्रम होता है तब भी हमें भय और कंप उत्पन्न नहीं होने चाहिएँ। दूसरे, यदि आप यह मानते हैं कि कल्पित शोकादिक से दुःख नहीं होता, तो हम कहेंगे कि आपके हिसाब से रति भी कल्पित है, अतः उससे सुख भी उत्पन्न नहीं होना चाहिए।

इसका समाधान यह है कि यदि सहृदयो के हृदय के द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि जिस तरह शृंगाररस-प्रधान काव्यों से आनंद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार करुण-रसप्रधान काव्यों से भी केवल आनंद ही उत्पन्न होता है, तो यह नियम है कि 'कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए—अर्थात् जैसे जैसे कार्य देखे जाते

हैं, तदनुरूप ही उनके कारण समझ लिए जाते हैं'; सो जिस तरह काव्य के व्यापार को आनंद का उत्पन्न करनेवाला मानते हो, उसी प्रकार उसे दुःख का रोकनेवाला भी मानना चाहिए। पर यदि आनद की तरह दुःख भी प्रमाणसिद्ध है, उसका भी सहृदयों को अनुभव होता है, तो काव्य की क्रिया को दुःख को रोकनेवाली न मानना चाहिए। काव्य की अलौकिक क्रिया से आनंद और शोक आदि से दुःख, इस तरह अपने-अपने कारण से सुख और दुःख दोनों उत्पन्न हो जायँगे। उन्हें उत्पन्न होने दीजिए।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि यदि करुण रसादिक में दुःख की भी प्रतीति होती है तो ऐसे काव्यों के बनाने के लिए कवि, और सुनने के लिये सहृदय क्यों प्रवृत्त होंगे? क्योंकि जब ऐसे काव्य अनिष्ट का साधन हैं तो उनसे निवृत्त होना ही उचित है। इसका उत्तर यह है कि जिस तरह चंदन का लेप करने से शीतलता-जन्य सुख अधिक होता है और उसके सूख जाने पर पपड़ियों के उखड़ने का कष्ट उसकी अपेक्षा कम; इसी प्रकार करुण-रसादिक में भी वांछनीय वस्तु अधिक है और अवांछनीय कम, इस कारण सहृदय लोग उनमें प्रवृत्त हो सकते हैं। और जो लोग काव्यों में शोक आदि से भी केवल आनंद की ही उत्पत्ति मानते हैं उनकी प्रवृत्ति में तो कोई झगड़ा है ही नहीं।

हाँ, उनसे आपका यह प्रश्न हो सकता है कि यदि करुण-रसादिक में केवल आनंद ही उत्पन्न होता है, तो फिर उनके अनुभव से अश्रुपातादिक क्यों होते हैं? इसका उत्तर यह है कि उन आनंदों का यही स्वभाव है, अतः जो अश्रुपात होता है, वह दुःख के कारण नहीं। अतएव भगवद्भक्त लोग जब भगवान् का वर्णन सुनते हैं, तब उनको अश्रुपातादि होने लगते हैं; पर उस अवस्था में किंचिन्मात्र भी दुःख का अनुभव नहीं होता।

आप कहेंगे कि करुण रसादिक में शोक आदि से युक्त दशरथ आदि से अभेद मान लेने पर यदि आनंद आता है, तो स्वप्न आदि में अथवा सन्निपात आदि में, अपने आत्मा में, शोक आदि से युक्त दशरथ आदि के अभेद का आरोप कर लेने पर भी आनंद ही होना चाहिए; पर अनुभव यह है कि उन अवस्थाओं में केवल दुःख ही होता है; इस कारण यहाँ भी केवल दुःख होता है यही मानना उचित है। इसके उत्तर में हम कहते हैं कि यह काव्य के अलौकिक व्यापार (व्यंजना) का प्रभाव है कि जिसके प्रयोग में आए हुए शोक आदि सुंदरतारहित पदार्थ भी अलौकिक आनंद को उत्पन्न करने लगते हैं; क्योंकि काव्य के व्यापार से उत्पन्न होनेवाला रुचिर आस्वाद, अन्य प्रमाणों से उत्पन्न होनेवाले अनुभव की अपेक्षा विलक्षण है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि पूर्वोक्त वाक्य के "काव्य के व्यापार से उत्पन्न होनेवाला" इस अंश का अर्थ है, काव्य के व्यापार से उत्पन्न होनेवाली भावना से उत्पन्न हुए रति आदि का आस्वाद, अतः रस का आस्वाद यद्यपि काव्य के व्यापार से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु काव्य के बार-बार अनुसंधान से उत्पन्न होता है, तथापि कोई हानि नहीं।

अब रही, शकुंतला आदि में अगम्या होने का ज्ञान हमें क्यों नहीं उत्पन्न होता है, यह बात; सो इसका उत्तर यह है कि अपने आत्मा में दुष्यंत से अभेद समझ लेने के कारण हमें उस (अगम्या होने) की प्रतीति नहीं होती।

(४)

अन्य मत

इसके अतिरिक्त अन्य विद्वानों का मत है कि व्यंजनानामक क्रिया के (जिसे प्राचीन विद्वान् मानते हैं) और अनिर्वचनीय

ख्याति के (जिसे नवीन विद्वान् मानते हैं) मानने की कोई आवश्यकता नहीं है; अर्थात् रस न तो व्यंग्य है न अनिर्वचनीय; किंतु शकुंतला आदि के विषय में रति आदि से युक्त व्यक्ति के साथ अभेद का मनःकल्पित ज्ञान ही 'रस' है; अर्थात् रस एक प्रकार का भ्रम है, जो पूर्वोक्त व्यक्ति से हमें झूठे ही अभिन्न कर डालता है। उसके द्वारा, पूर्वोक्त दोष के प्रभाव से, हमको अपने आत्मा में दुष्यंत आदि की तद्रूपता समझ पड़ने लगती है और उसका उत्पन्न करने-वाला है काव्यगत पदार्थों का बार-बार अनुसंधान अर्थात् काव्य के पदार्थों को बार बार सोचने-विचारने से इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाया करता है। जो दुष्यंत-शकुंतला आदि इस ज्ञान के विषय होते हैं, अर्थात् जिनके विषय में यह भ्रम होता है, उनका संसार की व्यावहारिक वस्तुओं से कोई संबंध नहीं।

आप कहेंगे कि यदि आप इस तरह के मनःकल्पित ज्ञान को ही रस मानते हैं, तो स्वप्न आदि में जो इसी प्रकार का मानस ज्ञान होता है, आपके हिसाब से, वह भी रस ही हुआ। वे कहते हैं, नहीं; इसी लिये तो हमने लिखा है कि 'वह काव्य के बार-बार अनुसंधान से उत्पन्न होता है'। स्वप्न के बोध में वह बात नहीं है, अतः वह रस नहीं हो सकता। इसी कारण स्वप्नादिक में वैसा आह्लाद नहीं होता।

इस तरह मानने पर भी एक आपत्ति रहती है कि जो रति-आदि हमारे हैं ही नहीं—सर्वथा मनःकल्पित हैं, उनका अनुभव ही कैसे होगा? पर यह आपत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि यह रति-आदि का अनुभव लौकिक तो है नहीं, कि इसमें जिन वस्तुओं का अनुभव होता है उनका विद्यमान रहना आवश्यक हो, किंतु भ्रम है। आप कहेंगे कि जब रस भ्रमरूप है, तो 'रस का आस्वादन होता है' यह व्यवहार कैसे सिद्ध हो सकता है; क्योंकि भ्रम तो स्वयं ज्ञानरूप है उसका आस्वादन

क्या ? इसका उत्तर यह है कि भ्रम रति-आदि के विषय में होता है, और रति-आदि का आस्वादन हुआ करता है (यह अनुभवसिद्ध है); बस, इसी आधार पर यह व्यवहार हो गया है कि 'रसों का आस्वादन होता है' । वास्तव में 'रस' का आस्वादन नहीं होता । वे लोग यह भी कहते हैं ।

जिसे इस मत के अनुसार रस कहते हैं, वह ज्ञान तीन प्रकार से हो सकता है । एक यह कि शकुंतला-आदि के विषय में जो रति है उससे युक्त मैं दुष्यंत हूँ; दूसरा यह कि शकुंतला आदि के विषय में जो रति है उससे युक्त दुष्यंत मैं हूँ और तीसरा यह कि मैं शकुंतला आदि के विषय में जो रति है उससे और दुष्यंतत्व से युक्त हूँ । अतः इन लोगों को तीनों प्रकार के ज्ञान को रस मानना पड़ेगा ।

अब एक बात और सुनिए । इन तीनों ज्ञानों में जो रति विशेषणरूप से प्रविष्ट हो रही है, उसकी प्रतीति काव्य के शब्दों से तो होती नहीं, क्योंकि उसमें रति-आदि के वाचक शब्द लिखे नहीं रहते, और उसका बोध करानेवाली व्यंजना को ये स्वीकार नहीं करते; अतः इन्हें रति-आदि के ज्ञान के लिए, पहले, (नट-आदि की) चेष्टा-आदि कारणों से सिद्ध अनुमान स्वीकार करना पड़ेगा । अर्थात् इनके मत में रति-आदि का, चेष्टा आदि द्वारा, अनुमान कर लिया जाता है ।

(५)

एक दल (भट्टलोल्लट इत्यादि) का मत

विद्वानों के एक दल का मत है कि दुष्यंत-आदि में रहनेवाले जो रति-आदि हैं, प्रधानतया, वे ही रस हैं; उन्हीं को, नाटक में, सुंदर विभाव आदि का अभिनय दिखाने में निपुण दुष्यंत आदि का पार्ट लेनेवाले नट पर, और काव्य में काव्य पढ़नेवाले व्यक्ति के ऊपर आरोपित करके हम उसका अनुभव कर लेते हैं । इस मत में भी रस का अनुभव, पूर्व मत की तरह, (तीनों प्रकार से) 'शकुंतला के विषय में

जो रति है, उससे युक्त यह (नट) दुष्यंत है' इत्यादि समझना चाहिए। इस मत के अनुसार 'शकुंतला के विषय में जो रति है उससे युक्त यह (नट) दुष्यंत है' इस बोध में दो अंश हैं—एक नट-विषयक, दूसरा दुष्यंतविषयक। इनमें से विशेष्यरूप नट का बोध लौकिक है क्योंकि नट समक्ष है और शेष अलौकिक है, क्योंकि दुष्यन्तादिक भ्रान्तिमूलक हैं।

(६)

कुछ विद्वानों (श्रीशंकुक प्रभृति) का मत है

कि दुष्यंत-आदि में जो रति-आदि रहते हैं, वे ही जब नट अथवा काव्यपाठक में, उसे दुष्यंत समझकर, अनुमान कर लिए जाते हैं, तो उनका नाम 'रस' हो जाता है। नाटक आदि में जो शकुंतला-आदि विभाव परिज्ञात होते हैं, वे यद्यपि कृत्रिम होते हैं, तथापि उनको स्वाभाविक मानकर और नट को दुष्यंत मानकर पूर्वोक्त विभावादिकों से नट आदि में रति-आदि का अनुमान कर लिया जाता है। यद्यपि दुष्यंत आदि के चरित्रों का उससे भिन्न नट आदि के विषय में अनुमित होना नियम-विरुद्ध है, तथापि अनुमान की सामग्री के बलवान् होने के कारण, वह बन जाता है।

(७)

कितने ही कहते हैं

विभाव, अनुभाव और संचारी भाव ये तीनों ही सम्मिलित रूप में रस कहलाते हैं।

(८)

बहुतेरों का कथन है

कि तीनों में जो चमत्कारी हो, वही रस है, और यदि चमत्कारी न हो तो तीनों ही रस नहीं कहला सकते।

(९)

इनके अतिरिक्त कुछ लोग कहते हैं

कि बार-बार चिंतन किया हुआ विभाव ही रस है।

(१०)

दूसरे कहते हैं

कि बार-बार चिंतन किया हुआ अनुभाव ही रस है।

(११)

तीसरे कहते हैं

कि बार बार चिंतन किया हुआ व्यभिचारी भाव ही रसरूप में परिणत हो जाता है।

पूर्वोक्त मतों के अनुसार भरतसूत्र की व्याख्याएँ

यह तो हुआ रसों के विषय में मतभेद। अब इन सबका मूल जो भरत-मुनि का यह सूत्र है कि—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

इसकी पूर्वोक्त मतों के अनुसार व्याख्याएँ भी सुनिए। **प्रथम मत** के अनुसार—"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा, **संयोग** अर्थात् ध्वनित होने से, आत्मानंद से युक्त स्थायी भाव रूप अथवा स्थायी भाव से उपहित आत्मानंदरूप **रस की, निष्पत्ति** होती है अर्थात् वह अपने वास्तव रूप में प्रकाशित होता है" यह अर्थ है।

द्वितीय मत के अनुसार—"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के (सं+योग) **सम्यक्** अर्थात् साधारण रूप से, **योग** अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावना करने से, स्थायी भाव रूप उपाधि से युक्त सत्त्वगुण की वृद्धि से प्रकाशित, अपने आत्मानंद-रूप रस की, **निष्पत्ति** अर्थात् भोग नामक साक्षात्कार के द्वारा अनुभव होता है" अर्थ है।

तृतीय मत के अनुसार—"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के, **संयोग** अर्थात् **एक** प्रकार की भावनारूपी दोष से, दुष्यंत आदि के अनिर्वचनीय रति-आदिरूप **रस** को, निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है" अर्थ है।

चतुर्थ मत के अनुसार—"विभावादिकों के, **संयोग** अर्थात् ज्ञान से, **एक** प्रकार के ज्ञानरूप **रस** की, **निष्पत्ति** अर्थात् उत्पत्ति होती है" अर्थ है।

पंचम मत के अनुसार—"विभावादिकों के, **संयोग** अर्थात् संबंध से, रस अर्थात् रति-आदि की, **निष्पत्ति** होती है अर्थात् वे (नट-आदि पर) आरोपित किए जाते हैं" अर्थ है।

षष्ठ मत के अनुसार—"कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक रूप में समझे हुए विभावादिकों के द्वारा, संयोग अर्थात् अनुमान के द्वारा, **रस** अर्थात् रति-आदि की, **निष्पत्ति** होती है अर्थात् नटादिरूपी पक्ष[1] में अनुमान कर लिया जाता है" अर्थ है।

सप्तम मत के अनुसार—"विभावादिक तीनों के **संयोग** अर्थात् सम्मिलित होने से, **रस** की **निष्पत्ति** होती है अर्थात् रस कहलाने लगता है" अर्थ है।

अष्टम मत के अनुसार—"विभावादिकों में से, **संयोग** अर्थात् चमत्कारी होने से—अर्थात् जो चमत्कारी होता है वही—**रस** कहलाता है" अर्थ है।

अब जो तीन मत शेष रहे, उनमें सूत्र का अर्थ संगत नहीं होता, अतः उनका सूत्र से विरोध पर्यवसित होता है—अर्थात् वे स्वतंत्र मत हैं, सूत्रानुसारी नहीं।

---

१ जिसमें किसी वस्तु का अनुमान किया जाता है उस आधार को पक्ष कहते हैं; जैसे 'वह्निमान् पर्वतो धूमात्' यहां पर्वत पक्ष है।

विभावादिकों में से प्रत्येक को रसव्यंजक क्यों नहीं माना जाता

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इनमें से केवल एक—अर्थात् केवल विभाव, केवल अनुभाव अथवा केवल व्यभिचारी भाव—का किसी नियत रस को ध्वनित करना नहीं बन सकता; क्योंकि वे जिस तरह एक रस के विभाव आदि होते हैं, उसी तरह दूसरे रस के भी हो सकते हैं।

(उदाहरण के लिये देखिए; व्याघ्र आदि जिस तरह भयानक रस के विभाव हो सकते हैं उसी प्रकार वीर, अद्भुत और रौद्र-रस के भी हो सकते हैं; अश्रुपातादिक जिस तरह शृंगार के अनुभाव हो सकते हैं उसी प्रकार करुण और भयानक के भी हो सकते हैं; चिंतादिक जिस तरह शृंगार के व्यभिचारी हो सकते हैं उसी प्रकार करुण, वीर और भयानक के भी हो सकते हैं। अतः सूत्र में तीनों को सम्मिलित रूप में ही ग्रहण किया गया है, प्रत्येक को पृथक् पृथक् नहीं।)

जब इस प्रकार यह प्रमाणित हो चुका कि तीनों के सम्मिलित होने पर ही रस ध्वनित होता है, तब, जहाँ-कहीं किसी असाधारण रूप में वर्णित विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव में से किसी एक से ही रस का उद्बोध हो जाता है,

जैसे कि निम्नलिखित पद्य में—

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदपाण्डुः कपोलः॥

मालतीमाधव प्रकरण के प्रथम अङ्क का यह श्लोक है। माधव मकरंद से मालती का वर्णन कर रहे हैं—(मालती के) अंग अत्यंत

रौंदी हुई कमल की जड़ के समान हो गए हैं, शरीरस्थितिमात्रोपयोगी क्रियाओं में परिवार के प्रार्थना करने पर, बड़ी कठिनता से, उसकी प्रवृत्ति होती है—अर्थात् एक बार उपक्रम-मात्र होकर रह जाता है-चेष्टा नहीं होती और नए हाथी-दाँत के टुकड़े के समान श्वेत कपोल कलंकरहित चंद्रमा की शोभा को धारण करने लगे हैं—उनमें ललाई का लेश भी नहीं रहा है।

यहाँ केवल अनुभाव के वर्णन मात्र से ही विप्रलंभ-शृंगार का आस्वादन होने लगता है।

ऐसे स्थलों में अन्य दोनों (जैसे यहाँ विभाव और व्यभिचारी भाव) का आक्षेप कर लिया जाता है।

सो यह बात नहीं है कि रस कहीं सम्मिलितों से उत्पन्न होता है और कहीं एक ही से; किंतु तीनों के सम्मेलन के विना रस उत्पन्न होता ही नहीं, यह सिद्ध है।

सो इस तरह विद्वानों ने यद्यपि अनेक प्रकार की बुद्धियों के द्वारा, रस को, अनेक रूपों में समझा है—आज दिन तक भी इस विषय में विचार स्थिर नहीं हो पाए हैं; तथापि इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं कि इस संसार में, रस एक सौंदर्यमय वस्तु है और उसमें परमानंद की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती।

रस कौन-कौन और कितने हैं ?

पूर्वोक्त रस—शृंगार, करुण, शांत, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और बीभत्स इस तरह—नौ प्रकार का है; और इसमें प्रमाण है भरत मुनि का वाक्य।

शान्तरस पर विचार

पर कुछ लोग कहते हैं—

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात्।
अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते॥

अर्थात् शांतरस के सिद्ध करने के लिये शांति की आवश्यकता है, और (सांसारिक झगड़ों में व्यापृत) नट में उसका होना असंभव है; अतः नाट्य में आठ ही रस होते हैं, उसमें शांतरस का होना नहीं बन सकता।

इस बात को दूसरे विद्वान् मानना नहीं चाहते। वे कहते हैं—आपने जो यह हेतु दिया है कि 'नट में शांति का होना असंभव है', सो असंगत है—इस बात का यहाँ मेल नहीं मिलता; क्योंकि हम लोग नट में रस का अभिव्यक्त होना स्वीकार ही नहीं करते। वह शांत रहे अथवा अशांत, यदि सामाजिक लोग शांतियुक्त होंगे, तो उन्हें रस का आस्वादन होने में कोई बाधा नहीं। आप कहेंगे—यदि नट में शांति न होगी तो वह शांतरस का अभिनय ही प्रकाशित नहीं कर सकेगा; तो हम आपसे कहेंगे—नट जब भयानक अथवा रौद्ररस की अभिव्यक्ति के लिये अभिनय करता है, तब भी उसमें भय और क्रोध तो रहते नहीं; फिर वह उन रसों का अभिनय भी कैसे कर सकता है? यदि आप कहें कि नट में क्रोध आदि के न होने के कारण, क्रोधादिक के वास्तविक कार्य वध-बंधन आदि के उत्पन्न न होने पर भी शिक्षा और अभ्यास आदि से बनावटी वध-बंधन आदि के उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं होती—यह देखा ही जाता है, तो हम कहेंगे कि इस विषय में भी वैसा ही क्यों नहीं समझ लेते? दोनों स्थानों पर वही तो बात है।

हाँ, आप यह कह सकते हैं कि सामाजिकों में भी, नाटकादि के द्वारा, शांतरस का उदय कैसे हो सकता है? क्योंकि विषयों से विमुख होना ही शांतरस का स्वरूप है, और नाटक में उसके विरोधी पदार्थ—गीत, वाद्य आदि—विद्यमान रहते हैं; अतः विरोधियों के द्वारा रस का आविर्भाव सिद्ध होना असंभव है। इसका उत्तर यह है कि जो लोग नाटक में शांतरस को स्वीकार करते हैं, वे गीतवाद्य आदि को उसका विरोधी नहीं मानते; क्योंकि यदि ऐसा हो तो उनका फल—शांतरस

का उदय—ही न बन पावे। दूसरे, यदि आप यावन्मात्र विषयों के चिंतन को शांतरस के विरुद्ध मानें, तो शांतरस का आलंबन—संसार का अनित्य होना एवं उसके उद्दीपन पुराणों का सुनना, सत्संग, पवित्र वन और तीर्थों के दर्शन—आदि भी विषय ही हैं, अतः वे भी उसके विरोधी हो जायँगे। इस कारण, यह मानना चाहिए कि जिनमें शांत-रस के अनुकूल—संसार से विरक्त होने के उपयोगी वर्णन होता है—वे भजन-कीर्त्तन आदि शांतरस के अभिव्यंजक हो सकते हैं। इसी कारण, 'सगीतरत्नाकर' के अंतिम अध्याय में—

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
तदचारु, यतः कश्चिन्न रसं स्वदते नटः॥

अर्थात् 'नाटकों में आठ ही रस हैं' यह जो कुछ लोगों की शंका है, सो ठीक नहीं; क्योंकि नट किसी रस का आस्वादन नहीं करता—इत्यादि लिखकर यह सिद्ध कर दिया है कि नाटकों में भी शांत-रस है। परंतु जो लोग 'नाटकों में शांतरस नहीं है' यह मानते हैं, उन्हें भी, किसी प्रकार की बाधा न होने के कारण, एवं 'महाभारतादि ग्रंथों में शांतरस ही प्रधान है' यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध होने के कारण, उसे (शांतरस को) काव्यों में अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसी कारण, मम्मट भट्ट ने भी "अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः (नाटक में आठ रस माने गए हैं)" इस तरह प्रारंभ करके "शान्तोऽपि नवमो रसः (शांत भी नौवाँ रस है)" इस तरह उपसंहार किया है। अर्थात् उनके हिसाब से भी काव्यों में शांतरस सिद्ध है। अतः रस नौ हैं, इस बात में कोई संदेह नहीं।

स्थायी भाव

पूर्वोक्त रसों के, क्रम से, रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास, भय और जुगुप्सा ये स्थायी भाव होते हैं। अर्थात् शृंगार

का रति, करुण का शोक, शांत का निर्वेद, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय, हास्य का हास, भयानक का भय और बीभत्स का जुगुप्सा स्थायी भाव होता है।

रसों और स्थायी भावों का भेद

अच्छा, अब, रसों से स्थायी भावों में क्या भेद है, सो भी समझ लीजिये। **पहले और दूसरे मतों में**—जिस तरह घड़े आदि का घड़े आदि के अन्दर आए हुए आकाश से भेद है, उस तरह; **तीसरे मत में**—जिस तरह सच्ची चाँदी से मन :—कल्पित चाँदी में भेद है, उस तरह; और **चौथे मत में**—जिस तरह विषय (ज्ञानगम्य पदार्थ) का ज्ञान से भेद है, उस तरह स्थायी भावों का रसों से भेद समझना चाहिए।

ये स्थायी क्यों कहलाते हैं?

ये रति आदि भाव किसी भी काव्यादिक में उसकी समाप्ति पर्यंत स्थिर रहते हैं, अतः इनको स्थायी भाव कहते हैं। आप कहेंगे कि ये तो चित्तवृत्तिरूप हैं, अतएव तत्काल नष्ट हो जानेवाले पदार्थ हैं, इस कारण इनका स्थिर होना दुर्लभ है, फिर इन्हें स्थायी कैसे कहा जा सकता है? और यदि वासनारूप से इनको स्थिर माना जाय तो व्यभिचारी भाव भी हमारे अंतःकरण में वासनारूप से विद्यमान रहते हैं, अतः वे भी स्थायी भाव हो जायँगे। इसका उत्तर यह है कि यहाँ इन वासनारूप भावों का बार-बार अभिव्यक्त होना ही स्थिर-पद का अर्थ है। व्यभिचारी भावों में यह बात नहीं होती, क्योंकि उनकी चमक बिजली की चमक की तरह अस्थिर होती है—वे एक बार प्रकट होकर फिर ओझल हो जाते हैं; अतः वे स्थायी भाव नहीं कहला सकते*। जैसा कि लिखा है—

* यहाँ म० म० श्रीगंगाधरशास्त्रीजी की टिप्पणी है, जिसका अभिप्राय यह है—यदि वेदांतियों के मत के अनुसार यह माना जाय

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्याशु स स्थायी लवणाकरः ॥
चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते संबध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ॥

तथा—

सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान् ।
यावद्रसं वर्त्तमानः स्थायी भाव उदाहृतः ॥

अर्थात् जो भाव विरोधी एवं अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता; किन्तु विरुद्ध भावों को भी शीघ्र अपने रूप में परिणत कर लेता है, उसका नाम स्थायी है और वह लवणाकरके समान है। जिस तरह लवणाकर समुद्र में गिरने से सब वस्तुएँ लोन बन जाती हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव से मिलकर सब भाव तद्रूप हो जाते हैं।

जो भाव बहुत समय तक चित्त में रहते हैं, विभावादिकों से

कि कोई भी चित्तवृत्ति उसके विरुद्ध चित्तवृत्ति उत्पन्न होने तक स्थिर रहती है, तो स्थिर-पद का बार बार अभिव्यक्त होना अर्थ करने की आवश्यकता नहीं। और जो 'विरुद्धैः......' इस कारिका में विरुद्ध भावों से भी स्थायी भाव का विच्छेद न होना लिखा है, सो लौकिक दृष्टि से जो भाव विरुद्ध दिखाई देते हैं उनके विषय में लिखा गया है। काव्य में तो 'अयं स रसनोत्कर्षी......' इत्यादि स्थलों में लोकदृष्टया विरुद्ध भाव—प्रेम आदि—भी शोक आदि के पोषक ही होते हैं—यह अनुभव-सिद्ध है। अन्यथा ऐसे स्थलों में 'प्रतिकूलविभावादिग्रह'रूपी रस-दोष होगा, जो किसी को भी सम्मत नहीं।

संबंध करते हैं और रस-रूप बन जाते हैं, वे यहाँ (साहित्य-शास्त्र में) स्थायी नाम से प्रसिद्ध हैं। तथा—

जिस भाव का स्वरूप सजातीय और विजातीय भावों से तिरस्कृत न किया जा सके, और जब तक रस का आस्वादन हो तब तक वर्तमान रहे उसे स्थायी भाव कहते हैं।

कुछ लोग कहते हैं—पूर्वोक्त रति-आदि नौ भावों में से अन्यतम (कोई एक) होना ही स्थायी भाव का परिचायक है। सो नहीं हो सकता; क्योंकि रति आदिकों में से किसी एक के बढ़े-चढ़े हुए होने पर (उन्हीं में से) यदि अन्य कोई भाव बढ़ा-चढ़ा न हो तो उसको व्यभिचारी भाव माना जाता है। बढ़े-चढ़े हुए का क्या अर्थ है सो भी समझ लीजिये। अधिक विभावादिकों से उत्पन्न हुए का नाम 'बढ़ा चढ़ा हुआ है' और थोड़े विभावादिकों से उत्पन्न हुए का नाम है 'नहीं बढ़ा चढ़ा हुआ'। अतएव 'रत्नाकर' में लिखा है—

रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः॥

अर्थात् अधिक विभावादिकों से उत्पन्न हुए रति-आदि स्थायी भाव होते हैं, और वे ही जब थोड़े विभावादिकों से उत्पन्न होते हैं तो व्यभिचारी कहलाते हैं।

इस तरह मान लेने पर वीर-रस के प्रधान होने पर क्रोध, रौद्र-रस के प्रधान के होने पर उत्साह और शृंगार-रस के प्रधान होने पर हास व्यभिचारी होता है। और बिना क्रोधादिक के वीरादिक रस रहते ही नहीं, यह भी सिद्ध है। जब प्रधान रस को पुष्ट करने के लिये उस (अंगभूत भाव क्रोध आदि) को भी अधिक विभावादिकों से अभिव्यक्त किया जाता है तो वह 'रसालंकार' कहलाने लगता है—इत्यादि समझ लेना चाहिए।

स्थायी भावों के लक्षण

१—रति

स्त्री-पुरुष की, एक दूसरे के विषय में, प्रेमनामक जो चित्त-वृत्ति होती है उसे 'रति' स्थायी भाव कहते हैं।

वही प्रेम यदि गुरु, देवता अथवा पुत्र आदि के विषय में हो तो व्यभिचारी भाव कहलाता है।

२—शोक

पुत्र-आदि के वियोग अथवा मरण-आदि से उत्पन्न होने-वाली व्याकुलता नामक जो एक चित्तवृत्ति होती है उसे 'शोक' कहते हैं।

परंतु स्त्री-पुरुष के वियोग में, जब तक प्रेमपात्र के जीवित होने का ज्ञान हो, तब तक व्याकुलता से पुष्ट किए हुए प्रेम की ही प्रधानता रहती है, अतः 'विप्रलंभ' नामक शृंगार-रस होता है। उस समय जो व्याकुलता रहती है, वह व्यभिचारी भाव मात्र है। पर यदि प्रेमपात्र के मरने का पता लग जाय तो व्याकुलता प्रधान रहती है, और प्रेम उसे पुष्ट करता है, इस कारण वहाँ करुण-रस ही होता है। और जब कि मर जाने का ज्ञान होने पर भी देवता की प्रसन्नता आदि से, किसी प्रकार, उसके पुनः जीवित होने का ज्ञान हो सके, तो आलंबन (प्रेमपात्र) के सर्वथा नष्ट न हो जाने के कारण, लंबे परदेशवास की तरह, 'विप्रलंभ' ही होता है, 'करुण' नहीं; जैसा कि (कादंबरी में) चन्द्रापीड़ से महाश्वेता ने जो बातें की हैं, उनमें।

कुछ लोगों की इच्छा है—ऐसी जगह एक दूसरा ही रस मानना चाहिए, जिसका नाम 'करुण-विप्रलंभ' है।

३—निर्वेद

जिसकी (वेदांत आदि के द्वारा) नित्य और अनित्य वस्तुओं

के विचार से उत्पत्ति होती है, और जिसका नाम विषयों से विरक्ति है उसे 'निर्वेद' कहते हैं।

वही निर्वेद यदि घर के झगड़े आदि से उत्पन्न हुआ हो, तो व्यभिचारी भाव होता है।

४—क्रोध

जिसकी, गुरु अथवा बंधु के मरने आदि—किसी प्रबल अपराध—के कारण, उत्पत्ति होती है, और जिसे जल उठना कहा जाता है, उसे 'क्रोध' कहते हैं।

यह शत्रु-विनाश-आदि का कारण होता है।

यही जलना यदि किसी छोटे-मोटे अपराध से उत्पन्न हुआ हो, तो कठोर वचन और मौन-आदि का कारण होता है, तब वह अमर्ष नामक व्यभिचारी कहलाता है। 'अमर्ष' और 'क्रोध' में यही भेद है।

५—उत्साह

जिसकी, शत्रु के पराक्रम तथा किसी के दान आदि के स्मरण से उत्पत्ति होती है, और जिसे उन्नतता कहा जाता है, उसे 'उत्साह' कहते हैं।

६—विस्मय

जिसकी, अलौकिक वस्तु के देखने आदि से उत्पत्ति होती है, और जिसे आश्चर्य कहा जाता है, उसे 'विस्मय' कहते हैं।

७—हास

जिसकी, वाणी एवं अंगों के विकारों के देखने आदि से उत्पत्ति होती है, और जिसे खिल जाना कहा जाता है, उसे 'हास' कहते हैं।

८—भय

जिसकी, व्याघ्र आदि के देखने आदि से उत्पत्ति होती है,

और जो प्रबल अनर्थ के विषय में हुआ करती है, एवं जिसे व्याकुलता कहा जाता है, उसे 'भय' कहते हैं।

यदि वही व्याकुलता किसी प्रबल अनर्थ के विषय में न हुई हो, तो उसे 'त्रास' नामक व्यभिचारी भाव कहते हैं। पर दूसरे विद्वानों का यह भी कथन है कि उत्पातकारी वस्तुओं के द्वारा उत्पन्न हुई व्याकुलता का नाम 'त्रास' है, और अपने अपराध के द्वारा उत्पन्न होनेवाली व्याकुलता का नाम 'भय'। भय और त्रास में यह भेद है।

९—जुगुप्सा

किसी घृणित वस्तु के देखने से जो घृणा नामक एक प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे 'जुगुप्सा' कहते हैं।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव

इन्हीं स्थायी भावों को हम लोग, संसार में, उन उन नायकों में देखा करते हैं। ऐसे स्थानों पर जो वस्तुएँ उन चित्तवृत्तियों के आलंबन—अर्थात् विषय—अथवा उद्दीपन—अर्थात् जोश देनेवाली—होने के कारण, 'कारण' रूप से प्रसिद्ध हैं; वे ही काव्य अथवा नाटक में इन (स्थायी भावों) के अभिव्यक्त होने पर 'विभाव' कहलाने लगती हैं, क्योंकि 'विभावयन्ति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विभाव—शब्द का अर्थ (रति-आदि के) 'उत्पन्न करनेवाले' अथवा 'समृद्ध करनेवाले' है।

उन स्थायी भावों से जो कार्य उत्पन्न होते हैं—जैसे रोमांचादिक; उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं; क्योंकि 'अनु पश्चाद् भाव उत्पत्तिर्येषाम्' अथवा 'अनुभावयन्ति' इन व्युत्पत्तियों के अनुसार अनुभाव शब्द का अर्थ 'जो (स्थायी भावों के) अनंतर उत्पन्न हों' अथवा 'जो उनका अनुभव करावें' यह है।

जो स्थायी भावों के साथ में रहनेवाली चित्तवृत्तियाँ होती हैं—जैसे चिंता आदि, उन्हें 'व्यभिचारी भाव' कहते हैं।

विभावादि के कुछ उदाहरण

शृंगार-रस के स्त्री-पुरुष आलंबन विभाव; चाँदनी, वसंत ऋतु, अनेक प्रकार के बाग-बगीचे, सुखप्रद पवन और एकांत स्थान आदि उद्दीपन विभाव; प्रेमपात्र के मुख का दर्शन, उसके गुणों का श्रवण और कीर्तन आदि एवं कंप, रोमांच आदि 'सात्त्विक भाव' अनुभाव; और स्मरण, चिंता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

करुण-रस के बंधु का नष्ट हो जाना आदि आलंबन विभाव; उसके घर, घोड़े, गहने आदि का देखना आदि तथा उसकी बातें सुनना आदि उद्दीपन विभाव; शरीर का पछाड़ना (छटपटाना) और अश्रु-पात आदि अनुभाव और ग्लानि, श्रम, भय, मोह, विषाद, चिंता, औत्सुक्य, दीनता और जड़ता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

शांत-रस के अनित्य रूप से समझा हुआ जगत् आलंबन विभाव, वेदांत का सुनना, तपोवन एवं तपस्वियों का दर्शनादि उद्दीपन विभाव; विषयों से अरुचि, शत्रु-मित्रादिकों से उदासीनता, निश्चेष्टता, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि आदि अनुभाव और हर्ष, उन्माद, स्मृति, मति आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

रौद्र-रस के अपराध करनेवाला पुरुष आदि आलंबन विभाव; उसका किया हुआ अपराध आदि उद्दीपन विभाव; लाल नेत्र करना, दाँत चबाना, कठोर भाषण करना, शस्त्र उठाना इत्यादि, जिनका फल बध अथवा बंधन आदि हैं, अनुभाव; और अमर्ष, वेग, उग्रता, चप-लता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। इत्यादि।

इस तरह जो चित्तवृत्ति जिसके विषय में होती है, वह उसका आलंबन और जो निमित्त हैं वे उद्दीपन होते हैं—यह समझ लेना चाहिए।

रसों के अवांतर भेद और उदाहरण आदि

श्रृंगार-रस

श्रृंगार-रस दो प्रकार का है—संयोग और विप्रलंभ। यदि स्त्री-पुरुषों के संयोग के समय प्रेम हो, तो 'संयोग-श्रृंगार' कहलाता है, और यदि वियोग के समय हो, तो 'विप्रलंभ-श्रृंगार'। पर संयोग का अर्थ 'स्त्री-पुरुषों का एक स्थान पर रहना' नहीं है; क्योंकि एक पलँग पर सोते रहने पर भी, यदि ईर्ष्या आदि हों, तो 'विप्रलंभ-रस' का ही वर्णन किया जाता है। इसी तरह वियोग का अर्थ भी 'अलग अलग रहना' नहीं है; क्योंकि वही दोष यहाँ भी कहा जा सकता है। अतः यह मानना चाहिए कि 'संगोग' और 'वियोग' ये दोनों एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं, और वे हैं 'मिला हुआ हूँ' और 'बिछुड़ा हुआ हूँ' यह ज्ञान। (तात्पर्य यह कि जब प्रेमी वा प्रेमिका चित्त में संयुक्तता का अनुभव करें तब 'संयोग श्रृंगार' समझना चाहिए और जब वियुक्तता का अनुभव करें तब 'विप्रलम्भ श्रृंगार'।)

उनमें से 'संयोग-श्रृंगार' का उदाहरण 'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा···' एवं 'सोई सविध सकी न करि......' इत्यादि पहले वर्णन कर चुके हैं।

अप्पय दीक्षित का खण्डन

और जो कि 'चित्र-मीमांसा' में लिखा है—

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तते।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥"

(अर्थात् वाणी और अर्थ की तरह मिले हुए, जगत् के जननी-जनक पार्वती और परमेश्वर (शिव) को, वाणी और अर्थ के ज्ञान के लिये, अभिवादन करता हूँ) इस पद्य में श्रृंगार-रस की ध्वनि है; क्योंकि इससे शिव-पार्वती का सर्वाधिक प्रेमयुक्त होना ध्वनित होता है।" सो

यह ध्वनि के मार्ग को न समझने के कारण लिखा गया है। इस श्लोक में पार्वती और परमेश्वर के विषय में कवि का प्रेम प्रधान है, और उन दोनों (शिव-पार्वती) का पारस्परिक प्रेम उसकी अपेक्षा गौण हो गया है; और गौण रति आदि के कारण काव्य को 'रस-ध्वनि' कहना उचित नहीं; क्योंकि यह सिद्धांत है—

"भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ।"

अर्थात् जिसको अलंकारादिकों से शोभित किया जाता है, वह (रसादिक) रस-भाव आदि को शोभित करनेवाले अलङ्काररूप रस आदि से भिन्न है।"

तात्पर्य यह कि जिनके कारण काव्य को 'ध्वनिरूप' कहा जाता है, वे रसादिक किसी की अपेक्षा गौण नहीं होते, उन्हें अन्य अलंकारादिक शोभित करते हैं, वे किसी को नहीं। अन्य रसादिकों को अलङ्कृत करनेवाले रसादिक उनसे भिन्न हैं।

यह तो हुई 'संयोग-शृंगार' की बात, अब 'विप्रलंभ-शृंगार' का उदाहरण सुनिए; जैसे—

वाचो माङ्गलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पं जने
केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा ।
निःश्वासग्लपिताधरोपरिपतद्बाष्पार्द्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव ! शिव ! प्राणेशमालोकते ॥

× × ×

पिय-गौन समै सब लोग करैं बहु भाँति उचारन मंगल-बानी ।
मुख-कंज दिए रति-मंदिर के सुठि गोख के द्वार महा-अकुलानी ॥
अति-साँस ते सूखे भए अधरा पर ते कुच ढारती लोचन-पानी
वह बालिका चंचल नैनन ते निज-नाथ निहारत हाय ! अयानी ॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है—पतिदेव के परदेश जाने का समय है, लोग अत्यधिक मांगलिक वचन बोल रहे हैं, पर वह चंचलनयना बालिका (नवोढा) रति-भवन के झरोखे में मुख-कमल डाले हुए बैठी है, अत्यन्त श्वासों के कारण कुम्हलाए हुए अधरों पर अश्रु गिर रहे हैं और उनसे कुच भीग गए हैं। शिव! शिव!! ऐसी दशा को प्राप्त हुई वह अपने प्राणनाथ को देख रही है। (उस बेचारी को न यह बोध है कि अश्रु गिरने से अशकुन होगा और न न यही शंका है कि लोग क्या कहेंगे!)

इस पद्य में (नायिका के प्रेमपात्र) नायकरूपी आलंबन के, निःश्वास, अश्रु-पातादिरूप अनुभाव के और विषाद, चिंता, आवेग आदि व्यभिचारी भावों के संयोग से ध्वनित हुई नायिका की रति, वियोग काल में होने के कारण 'विप्रलंभ रस' के निर्देश का कारण है। अथवा; जैसे—

आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनोः
कान्तिः काचिन्निखिलनयनाकर्षणे कामणज्ञा।
श्वासो दीर्घस्तदवधि मुखे पाण्डिमा गण्डयुग्मे
शून्या वृत्तिः कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत्॥

× × ×

जनमी जब ते जग में सजनी, मधु-धारन की बरसावनहारी।
ब्रजराजकिशोर की कान्ति कछू जन-नैन-विमोहिनी कामनगारी॥
तबते सगरी कुल-नारिन की सब हालत हाय! भई कछु न्यारी।
मुख दीरघ साँस, कपोलन पै सितता, हिय में भइ शून्यता भारी॥

जब से मधु बरसानेवाली और सब मनुष्यों के नेत्रों को आकर्षण करने का जादू जाननेवाली नंद-नंदन की अनिर्वचनीय कांति उत्पन्न

हुई है तब से कुलांगनाओं के मुख में दीर्घ श्वास, दोनों कपोलों पर सफेदी एवं चित्त में शून्यवृत्ति (विचाररहितता) उत्पन्न हो गई है। अथवा; जैसे—

नयनाञ्चलावमर्शं या न कदाचित् पुरा सेहे।
आलिङ्गिताऽपि जोषं तस्थौ सा गन्तुकेन दयितेन॥

× × ×

नैन-कोन को मिलन जो सहन कियो कबहूँ न।
आलिङ्गित ह्वै पिय-गवन वहै करति है चूँ न॥

जिस नायिका ने, पहले कभी, नेत्र के प्रांत का मिल जाना भी सहन न किया था, वही (वियोग के समय) परदेश जानेवाले पति से आलिंगन की हुई भी चुप खड़ी थी, चूँ भी न करती थी।

इस पद्य में भी स्वाभाविक चंचलता की निवृत्ति अनुभाव और जड़ता व्यभिचारी भाव है।

प्राचीन आचार्यों ने इस—विप्रलंभ रस—को प्रवास आदि उपाधियों से पाँच प्रकार का माना है; पर प्रवास*, अभिलाष, विरह, ईर्ष्या और शाप के कारण जो वियोग होते हैं, उनमें कोई विशेषता न समझ पड़ने के कारण हमने उनका विस्तार नहीं किया।

---

* प्रिय के परदेश जाने की हालत में प्रवासरूप, समागम से पूर्व ही गुणश्रवण आदि से अभिलाषरूप, गुरुजनों की लज्जादि के कारण रुकने पर विरहरूप, मान से ईर्ष्यारूप और जिस तरह शकुन्तला को दुर्वासा के शाप से वियोग हुआ उस तरह होने पर शापरूप उपाधियाँ हुआ करती हैं जिनके कारण वियोग को पाँच प्रकार का कहा जाता है—यह है प्राचीन आचार्यों का अभिप्राय।

करुण-रस; जैसे—

अपहाय सकलबान्धवचिन्तामुद्वास्य गुरुकुलप्रणयम् ।
हा ! तनय !! विनयशालिन् !!! कथमिव परलोकपथिकोऽभूः ॥

* * * *

सब बंधुन को सोच तजि तजि गुरुकुल को नेह ।
हा ! सुशील सुत !! किमि कियो अनत लोक तैं गेह ॥

हाय ! अत्यन्त सुशील बेटे ! तू सब बंधुओं की चिंता को त्याग कर और गुरुकुल के प्रेम को भी हटाकर किस तरह परलोक का पथिक हो गया !!

यहाँ मरा हुआ पुत्र आलंबन है, उस समय में आए हुए बाँधवों का दर्शन आदि उद्दीपन हैं, रोना अनुभाव है और दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं।

शांत रस; जैसे—

मलयानिलकालकूटयो रमणीकुन्तलभोगिभोगयोः ।
श्वपचात्मभुवोर्निरन्तरा मम जाता परमात्मनि स्थितिः ॥

* * * *

मलय-अनिल अरु गुरु गरल, तिय-कुन्तल अहि-देह ।
सुपच रु विधि को भेद तजि मम थिति भई अछेह ॥

मलयाचल के वायु और विष में, स्त्रियों के केश-पाश और सर्प के शरीर में एवं चण्डाल तथा ब्रह्मा में भेदभावरहित मेरी स्थिति, परमात्मा में, हो गई है।

यहाँ सब जगत् आलंबन है, सब व्यक्तियों और वस्तुओं में समानता अनुभाव है और मति-आदि संचारी भाव हैं। यद्यपि पूर्वार्ध

में पहले उत्तम (मलय-पवन आदि) का वर्णन और पीछे अधम (विष आदि) का वर्णन है; पर उत्तरार्ध में पहले अधम (श्वपच) का और पीछे उत्तम (ब्रह्मा) का वर्णन है, अतः 'प्रक्रम—भंग' दोष है—अर्थात् जिस क्रम से प्रारंभ किया गया, उसी क्रम का समाप्तिपर्यंत निर्वाह नहीं हो सका; तथापि 'कहनेवाला, ब्रह्मरूप होने के कारण उत्तम-अधम के ज्ञान से रहित हो गया है' यह बात प्रकाशित करने के लिये 'क्रमभंग' गुण ही है—अर्थात् इससे वक्ता की उत्तमाधम-ज्ञान-शून्यता प्रकाशित होती है, जो कि ब्रह्मज्ञानी के लिये आवश्यक है। सो यह दोष नहीं।

यह तो हुआ शांतरस का उदाहरण; अब उसका प्रत्युदाहरण भी सुनिए—

सुरस्रोतस्विन्याः पुलिनमधितिष्ठन्नयो-
र्विधायान्तर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विषयान्।
विधूतान्तर्ध्वान्तो मधुर-मधुरायां चिति कदा
निमग्नः स्यां कस्याञ्चन नव-नभस्याम्बुदरुचि ॥

❀ ❀ ❀ ❀

श्रीगंगा के पुलिन बैठि करि नयन-निमीलन।
तजिके महा-उपाधिरूप ये सकल विषय-गन ॥
अन्तःकरण मलीन करि दियौं जाने इकदम।
करिके दूर समग्र वहै अज्ञानरूप तम ॥
भादौं के नव-घन-सरिस परम मनोहर कान्तिमय।
मधुर-मधुर चैतन्य में होवेगो कब मम विलय ॥

श्रीगंगाजी के वालुकामय तट पर बैठा हुआ मैं, आँखें मींचकर, सब सांसारिक विषयों को, तत्काल दूर हटाकर एवं अंतःकरण के अंध-कार (अज्ञान) से रहित होकर, भाद्रपद के नवीन मेघ के समान

कांतियुक्त किसी (अनिर्वचनीय) परम-मधुर चैतन्य में कब निमग्न हो जाऊँगा—उसकी तन्मयता मुझे कब प्राप्त होगी !

यद्यपि इस पद्य में भी विषयों का निरादर आलंबन है, गंगा के तट आदि उद्दीपन हैं, आँखों का मींचना आदि अनुभाव हैं और उनके संयोग से स्थायी भाव निर्वेद की प्रतीति होती है; तथापि भगवान् वासुदेव को प्रेमपात्र मानकर जो कवि का प्रेम है, उसकी अपेक्षा निर्वेद गौण हो गया है; इस कारण निर्वेद के रहते हुए भी यह पद्य 'शांत-रस' की ध्वनि नहीं कहा जा सकता। यह पद्य मेरी (पंडितराज की) बनाई हुई 'करुणा-लहरी' नामक पुस्तक में लिखा गया है और उसमें भाव (भगवत्प्रेम) ही प्रधान है, अतः इस पद्य में भी उसी की प्रधानता उचित है। दूसरे, इस पद्य की ओजस्विनी रचना भी शांत-रस के प्रतिकूल है, इस कारण भी इसे उसके उदाहरणरूप में उपस्थित करना उचित नहीं। यदि कहो कि 'मलयानिलकालकूटयोः......' इस पूर्वोक्त पद्य में भी 'परमात्मा में स्थिति' का वर्णन है, अतः वहाँ भी भाव प्रधान होना चाहिए, उसे शांत-रस का उदाहरण कैसे कह दिया; तो उसका उत्तर यह है कि वहाँ 'परमात्मा में स्थिति हो गई है' यह लिखा है, सो उसे अपने आत्मा में भगवद्रूपता का बोध होने के कारण प्रेम की प्रतीति नहीं होती; क्योंकि प्रेम पृथक् समझने पर ही हो सकता है, ऐक्यज्ञान होने पर नहीं।

रौद्र-रस; जैसे—

नवोच्छलितयौवनस्फुरदखर्वगर्वज्वरे
मदीयगुरुकार्मुकं गलितसाध्वसं वृश्चति।
अयं पततु निर्दयं दलितदृप्तभूभृद्गल-
स्खलद्रुधिरघस्मरो मम परश्वधो भैरवः॥

नव-जौवन की बाढ़ ते बड़े गरब ते फाटि ।
मेरे गुरु को धनुष यह निरभै ह्वै दिय काटि ॥
निरभै ह्वै दिय काटि अबै यह अतिसय भीषण ।
तृप्त दृप्तभूपाल-कंठ-शोणित करि भक्षण ॥
मेरो फरसा पड़े तासु ऊपर निर्दय-मन ।
ह्वै जावै परतच्छ वच्छ को सब नव-जौवन ॥

सीता-स्वयंवर में, परशुराम ने, जब धनुष के टुकड़े हुए देखे तो उनसे न रहा गया। वे बोले—किसी को, नवयौवन की उमंग के कारण, अभिमानरूपी ज्वर तेज हो गया है, तभी तो उसने निर्भय होकर मेरे गुरु—भगवान् शिव—का धनुष तोड़ डाला। अब उसके ऊपर यह मेरा भयंकर फरसा निर्दयता के साथ गिरे, जिसने काटे हुए अभिमानी भूमिपतियों के गले से झरते हुए रुधिर का पान किया है—मैं चाहता हूँ कि उस उन्मत्त की निर्दयतापूर्वक खबर ली जाय।

यहाँ जिसको परशुराम ने, उस समय, यह नहीं जाना था कि 'यह भगवान् राम हैं', वह गुरु (शिवजी) के धनुष को तोड़ देनेवाला आलंबन है। गुरुद्रोही का नाम न लेना चाहिए इस कारण, अथवा क्रोधोत्पत्ति के कारण, 'तोड़नेवाला' यह विशेषण मात्र ही कहा गया है, विशेष्य (तोड़नेवाले का नाम) नहीं। एक प्रकार की भुवनव्यापी ध्वनि से अनुमान किया हुआ 'निर्भय होकर धनुष तोड़ देना' उद्दीपन है, कठोर वचन अनुभाव है और गर्व, उग्रता आदि संचारी भाव हैं।

यह धनुष के भंग की ध्वनि से समाधि टूट जाने पर परशुरामजी की उक्ति है। इस पद्य की अत्यंत उद्धत रचना भी रौद्ररस की परम ओजस्विता को पुष्ट करती है।

यद्यपि अन्यत्र गुरु का स्मरण होने पर अहंकार का निवृत्त हो जाना आवश्यक है; पर इस प्रसंग में, ऐसे अवसर पर भी, गर्व का उत्कर्ष

प्रकाशित होने से परशुरामजी की विवेकरहितता स्पष्ट प्रतीत होती है, और उसके द्वारा उनके क्रोध की अधिकता ज्ञात होती है। यहाँ गर्व का उत्कर्ष प्रकाशित करनेवाला, गुरु के साथ लगा हुआ 'मेरे' शब्द है; उससे 'अजहत्स्वार्था लक्षणा' के द्वारा यह ध्वनित होता है कि "मैं पृथ्वी को इक्कीस बार निःक्षत्रिय करनेवाला हूँ (फिर मेरे गुरु के धनुष को कौन छू सकता है)"

यह तो है उदाहरण, अब प्रत्युदाहरण सुनिए—

धनुर्विदलनध्वनिश्रवणतत्क्षणाविर्भव-
न्महागुरुवधस्मृतिः श्वसनवेगधूताधरः।
विलोचनविनिःसरद्बहलविस्फुलिङ्गव्रजो
रघुप्रवरमाक्षिपञ्जयति जामदग्न्यो मुनिः॥

❀ ❀ ❀ ❀

धनु-विदलन को शब्द सुनि स्मरण भयौ तत्काल।
परम - गुरू जमदग्नि के वध को सब अहवाल॥
वध को सब अहवाल साँस कंपे दशनच्छद।
नैननि निकसत उग्र आग के कनिका बेहद॥
जयति परशुधर राम राम पै ह्वै निर्दय मन।
करत प्रबल आक्षेप कियो क्यों तें धनु-विदलन॥

जिनको धनुष टूटने का शब्द सुनते ही, तत्काल, महागुरु जमदग्नि के वध का स्मरण हो आया; अतएव श्वास-वायु के वेग से नीचे का होठ फड़कने लगा और नेत्रों से आग की चिनगारियों का भारी समूह निकलने लगा ऐसी दशा में रामचंद्र पर आक्षेप करते हुए मुनि परशुराम सबसे उत्कृष्ट हैं।

यहाँ भी, यद्यपि अपराधपात्र भगवान् रामचंद्र आलंबन हैं, धनुष टूटने के शब्द का सुनना उद्दीपन है, श्वास तथा नेत्रों का जलना आदि अनुभाव हैं, पिता के वध का स्मरण, गर्व और उग्रता आदि संचारी भाव हैं और इनके द्वारा क्रोध अभिव्यक्त होता है; तथापि जिसके कारण कवि ने परशुरामजी का वर्णन किया है, उस कवि के गुरु-प्रेम की अपेक्षा क्रोध गौण हो गया है, अतः उसके कारण इस पद्य को रौद्र-रस की ध्वनि नहीं कहा जा सकता।

काव्यप्रकाश पर विचार

अच्छा, अब यहाँ एक प्रसंगप्राप्त बात भी सुन लीजिए। 'काव्य-प्रकाश' में रौद्र-रस का यह उदाहरण दिया गया है—

'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरु पातकम्
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्द्धं तेषां सभीमकिरीटिना—
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्॥'

'वेणीसंहार' नाटक के तृतीय अंक में द्रोण-वध से कुपित अश्वत्थामा की, अर्जुन आदि के प्रति, यह उक्ति है—

शस्त्र उठानेवाले जिन मर्यादारहित, नरपशुओं ने गुरु (द्रोणाचार्य) का वधरूपी पातक किया है या उसमें अनुमति दी है अथवा उसे आँखों देखा है—कृष्ण, भीम और अर्जुन के साथ साथ—उन सभी लोगों के रुधिर, मज्जा तथा मांस से अकेला ही मैं दिग्देवताओं की बलि करता हूँ।

इस पद्य की रचना रौद्र-रस को व्यक्त नहीं कर सकती—इस रचना में वह शक्ति नहीं कि जिसके सुनते ही यह पता लग जाय कि यह रौद्र रस के वर्णन का पद्य है; सो यह उस पद्य के निर्माता की अशक्ति ही है।

वीर-रस

वीर-रस चार प्रकार का है; क्योंकि वीर-रस का स्थायी भाव जो 'उत्साह' है, वह दान, दया, युद्ध और धर्म इन चार निमित्तों से चार प्रकार का है। उनमें से पहला—अर्थात् दानवीर; जैसे—

कियदिदमधिकं मे यद् द्विजायार्थयित्रे
कवचमरमणीयं कुंडले चार्पयामि।
अकरुणमवकृत्य द्राक् कृपाणेन निर्य-
द्बहलरुधिरधारं मौलिमावेदयामि॥

❀ ❀ ❀

अरपे याचत दुजहिं कवच-कुंडल साधारण।
कहहु कहा यह अधिक भयो मम हे सदस्य-गण॥
निर्दयता ते काटि कंठ झटपट्ट खड्ग सन।
भूरि रक्त की धार झरत शिर करौं निवेदन॥

मेरे लिये यह क्या अधिक बात है कि मैं माँगने आए हुए ब्राह्मण को, साधारण-से, कवच और कुंडल अर्पण कर रहा हूँ। लीलिए, यदि वह चाहे तो, निर्दयता के साथ, तलवार से तत्काल काटकर गहरी रुधिर-धारा झरते हुए (अपने) शिर को भी निवेदन कर रहा हूँ।

यह, ब्राह्मण का वेष धारण करके आए हुए इंद्र को कवच और कुण्डल देने के लिये उद्यत देखकर, उस दान से आश्चर्ययुक्त सभासदों के प्रति, कर्ण का कथन है।

यहाँ माँगनेवाला आलंबन है, उसकी वर्णन की हुई स्तुति उद्दीपन है, कवचादिक का दान करना और उनको साधारण समझना अनुभाव है और 'मेरे लिये' इस शब्द से 'अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' से सूचित किया हुआ गर्व एवं अलौकिक पिता भगवान् भुवन-भास्कर से अपने

उत्पन्न होने आदि का स्मरण संचारी भाव हैं। इस पद्य की रचना भी उन-उन अर्थों के अनुकूल ओज और मृदुता दोनों से युक्त होने के कारण सहृदयों के हृदय (अन्तःकरण) में चमत्कार उत्पन्न कर देनेवाली है। देखिए—पूर्वार्ध में कवच और कुण्डल के अर्पण को साधारण बताना उत्साह का पोषक है इसलिये उसके अनुकूल मृदुरचना है, और उत्तरार्ध में '......मौलि' के पहले, वक्ता के गर्व और उत्साह को पुष्ट करने के लिये, उद्धत है; पर उसके बाद ब्राह्मण के विषय में विनययुक्तता प्रकाशित करने के लिये फिर मृदु है। इसी कारण 'निवेदन कर रहा हूँ' कहा, 'देता हूँ' अथवा 'वितरण करता हूँ' नहीं।

निम्नलिखित पद्य 'दान-वीर' का उदाहरण नहीं हो सकता—

यस्योद्दामदिवानिशार्थिविलसद्दानप्रवाहप्रथा-
माकर्ण्यावनिमण्डलागतवियद्बन्दीन्द्रवृन्दाननात्।
ईर्ष्यानिर्भरफुल्लरोमनिकरव्यावल्गदूधःस्रव-
त्पीयूषप्रकरैः सुरेन्द्रसुरभिः प्रावृट्पयोदायते ॥

❀ ❀ ❀

जाचक-जन-हित नित्य सुभग निरवधि वितरन ते।
उपजी कीरति जासु, फिरे जे मनुज-भुवन ते॥
तिन बंदिन मुख जानि होत ईर्ष्या अति भारी।
ताते इकदम फूलि उठत रोमावलि सारी॥
सो फड़कत-गादी गिरत नव-पय-चय-आसार सन।
होत सुरेश्वर की सुरभि ज्यों पावस को सघन घन॥

भूमंडल से लौटकर आए हुए स्वर्गीय बंदीजनों के समूह के मुख से, जिसकी, याचक लोगों में विलसित होनेवाली रात-दिन दान के प्रवाह की ख्याति को सुनकर ईर्ष्या के कारण अत्यंत पुलकित कामधेनु

फड़कती हुई गादी में से झरते हुए नवीन दुग्ध के समूहों के कारण वर्षा ऋतु के मेघ-सी बन जाती है—उसके स्तनों से दूध की अविरल धारा प्रारंभ हो जाती है।

यहाँ इंद्र-सभा में बैठे हुए सब दर्शक लोग आलंबन हैं, भूमंडल से आए हुए स्वर्गीय बंदीजनों के मुख से किए हुए राजा के दान का वर्णन उद्दीपन है, गादी से झरते हुए नवीन दूध का समूह अनुभाव है और ईर्ष्या के द्वारा ध्वनित हुई राजा के दान-वर्णन को साधारण दिखाने की बुद्धि, जिसे 'असूया' कहना चाहिए, वह और अन्य ऐसी ही चित्तवृत्तियाँ संचारी भाव हैं। इनके संयोग से यद्यपि कामधेनु का उत्साह अभिव्यक्त होता हैं; तथापि वह राजा की स्तुति की अपेक्षा गौण हो गया है, अतः उसको लेकर यहाँ वीर-रस नहीं कहा जा सकता।

इसी कारण यह उदाहरण भी नहीं बन सकता—

साब्धिद्वीपकुलाचलां वसुमतीमाक्रम्य सप्तान्तरां
सर्वां द्यामपि सस्मितेन हरिणा मन्दं समालोकितः।
प्रादुर्भूतपरप्रमोदविदलद्रोमाञ्चितस्तत्क्षणं
व्यानम्रीकृतकन्धरोऽसुरवरो मौलिं पुरो न्यस्तवान्॥

*　　*　　*　　*

उदधि, दीप, कुल-अचल सहित सब भुवहिं स्ववश कै।
सब सुरगहु कों; लगे देखिबे हरि सस्मित ह्वै॥
उपज्यो परम प्रमोद, भयो पुलकित, अरु सत्वर।
शिर आगे धरि दीन्ह असुर, करि नम्र शिरोधर॥

समुद्रों, द्वीपों एवं कुलपर्वतों के सहित पृथ्वी को और सात कोटवाले समग्र स्वर्ग का भी आक्रमण करने के अनन्तर भगवान्

वामन ने जब कुछ हँसकर राजा बलि की तरफ (तीसरे पैंड के लिये) थोड़ा सा देखा, तो उस असुरश्रेष्ठ ने अत्यन्त आनन्द की उत्पत्ति के कारण पुलकित होकर, तत्काल गरदन नीची करके सिर सामने रख दिया, कहा—लो, एक पैर इस पर भी धरकर इसे भी स्वीकार कर लो।

यहाँ भगवान् वामन आलंबन हैं, उनका थोड़ा-सा देखना उद्दीपन है, रोमांचादिक अनुभाव हैं और हर्षादिक संचारी भाव हैं। यद्यपि इनके संयोग से 'उत्साह' अभिव्यक्त होता है, तथापि वह गौण हो गया है; क्योंकि जिस तरह पहले पद्य में दूसरे (कामधेनु) का उत्साह राजा की स्तुति को उत्कृष्ट करनेवाला था, उसी तरह यहाँ राजा (बलि) का उत्साह भी राजा की स्तुति को उत्कृष्ट करता है; सो स्तुति प्रधान हुई और उत्साह गौण।

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि 'काव्यपरीक्षा'-कर्ता श्रीवत्सलांछन भट्टाचार्य ने जो वीर-रस का यह उदाहरण दिया है—

> **"उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान् देवः पिनाकी गुरुः**
> **शौर्यं यत्तु न तद् गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत् कर्मभिः।**
> **त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः**
> **सत्त्वब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं वा न लोकोत्तरम्॥"**

'महावीरचरित' नाटक के द्वितीय अंक में धनुष तोड़ने से कुपित परशुराम के प्रति यह रामचन्द्र की उक्ति है—

भगवन्! आपकी कौन वस्तु लोकोत्तर नहीं है, आपके पिता महर्षि जमदग्नि हैं, आपने साक्षात् शिवजी से धनुर्वेद का अध्ययन किया है, आपकी वीरता तो आपके कर्त्तव्यों से ही स्पष्ट है, उसके वर्णन के लिये शब्द नहीं मिलते। आपके त्याग का तो कहना ही क्या? सप्त-समुद्र-

मुद्रित पृथ्वी का, विना किसी लगाव या स्वार्थ के, दे डालना हँसी खेल नहीं है। आप ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों की तपस्या के निधान हैं। आपकी सभी बातें निराली हैं।

यह उदाहरण ठीक नहीं; क्योंकि यह भी दूसरे का अंग होने से गुणीभूत व्यंग्य हो गया है। 'रसध्वनि' में यह उदाहरण उचित नहीं।

एक शङ्का और उसका उत्तर

यहाँ एक शंका हो सकती है कि—आपने जो 'दान-वीर' का उदाहरण दिया है 'अकरुणमवकृत्य......इत्यादि'; उसमें प्रतीत होनेवाला 'दान-वीर (रस)' भी कर्ण की स्तुति का अंग है—उससे भी कर्ण की प्रशंसा सूचित होती है; अतः उसे आपने ध्वनि-काव्य कैसे बताया ? हाँ, यह सच है; पर, थोड़ा ध्यान देकर देखिए, उस पद्य में कवि का तात्पर्य तो कर्ण के वचन का केवल अनुवाद करने मात्र में है, कर्ण की स्तुति करना तो उसका प्रतिपाद्य है नहीं; और कर्ण है महाशय, इस कारण उसका भी अपनी स्तुति में तात्पर्य हो नहीं सकता; क्योंकि अपनी बड़ाई करना क्षुद्राशयों का काम है। सो उस वाक्य का अर्थ (तात्पर्य) तो कर्ण की स्तुति है नहीं; किंतु वीररस की प्रतीति के अनंतर, वैसे उत्साह के कारण, रसज्ञों के हृदय में वह (स्तुति) अनुमित मात्र होती है। पर जहाँ राजा का वर्णन हो, वहाँ तो राजा की स्तुति में ही पद्य का तात्पर्य रहता है; अतः वह स्तुति वाक्यार्थरूप होती है, सो उसे प्रधान माने बिना निर्वाह नहीं।

दूसरा दयावीर; जैसे—

न कपोत ! भवन्तमण्वपि स्पृशतु श्येनसमुद्भवं भयम् ।
इदमद्य मया तृणीकृतं भवदायुःकुशलं कलेवरम् ॥

* * * *

जनि कपोत, तुहि तनिक हू छुवै बाज-भय, आज।
यह तन तिनका मैं कियो तेरे जीवन-काज॥

हे कबूतर, बाज का भय तेरा किंचिन्मात्र भी स्पर्श न करे। आज, मैंने, तेरे जीवन को कुशलता प्रदान करनेवाले इस शरीर को तिनका बना दिया है—मैं इस शरीर को तिनके की तरह समझकर नष्ट कर रहा हूँ और चाहता हूँ कि बाज के द्वारा तुझे किसी प्रकार का भय न हो।

अथवा इस पद्य की रचना यों समझिए—

न कपोतकपोतकं तव स्पृशतु श्येन! मनागपि स्पृहा।
इदमद्य मया समर्पितं भवते चारुतरं कलेवरम्॥

* * * *

जनि कपोत-पोतहि छुवै तनिक हु तुव मन बाज!
यह तुव हित अपरन कियो सुघर कलेवर आज॥

हे बाज! (मैं चाहता हूँ कि) तेरी इच्छा (इस) कबूतर के बच्चे का किंचिन्मात्र भी स्पर्श न करे। मैंने, आज, तेरे लिये इस परम रमणीय शरीर का समर्पण कर दिया है।

यहाँ राजा शिबि की, पहले पद्य में कबूतर के प्रति और दूसरे पद्य में बाज के प्रति, उक्ति है।

यह कबूतर आलंबन है, उसका व्याकुल होना उद्दीपन है और उसके लिये अपने शरीर का अर्पण करना अनुभाव है।

पर यह कहना कि 'इस पद्य में शरीर के दान की प्रतीति होती है, इस कारण यह दानवीर की ध्वनि हो जायगा', उचित नहीं; क्योंकि बाज का कबूतर खाद्य पदार्थ है, अत; वह कबूतर का याचक हो सकता है, राजा के शरीर का नहीं। बाज को जो शरीर दान किया गया है, सो तो कपोत के शरीर की रक्षा के लिये बदले में दिया गया है, वह दान नहीं, किंतु 'लेन-देन' है।

तीसरा युद्धवीर; जैसे—

रणे दीनान् देवान् दशवदन ! विद्राव्य वहति
प्रभावप्रागल्भ्यं त्वयि तु मम कोऽयं परिकरः ।
ललाटोद्यज्ज्वालाकवलितजगज्जालविभवो
भवो मे कोदण्डच्युतविशिखवेगं कलयतु ॥

*　　*　　*　　*

दीन-देवतनि दशवदन, रन छुड़ाइ तू आज ।
है प्रभाव-शाली, कहा तोपै साज-समाज ॥
तोपै साज-समाज भाल की धधकत झारन ।
जारि दियो जिन विश्व वहै शिव जूझैं इहि रन ॥
देखैं मम कोदंड-मुक्त-शर-वेगहिँ, तू जनि ।
समुझै सगरे ठासु बापुरे दीन-देवतनि ॥

हे दशानन ! बेचारे देवताओं को रण में भगाकर भारी सामर्थ्य रखनेवाले तेरे विषय में तो मेरी यह तैयारी क्या हो सकती है—तू तो चीज ही क्या है, पर जिनके ललाट से निकली हुई ज्वालाओं से सारे संसार का वैभव भस्म हो जाता है, वे महादेव मेरे धनुष से निकले हुए बाणों के वेग को झेलें। तात्पर्य यह कि तुझे तो मैं समझता ही क्या हूँ, पर यदि समग्र संसार के संहारक भगवान् शिव भी आवें तो वे भी मेरे बाणों के वेग को देखकर चकित हो सकते हैं। यह रावण के प्रति भगवान् राम की उक्ति है।

यहाँ महादेव आलंबन हैं, रण का देखना उद्दीपन है, रावण की अवज्ञा अनुभाव है और गर्व संचारी भाव है। रचना देवताओं के प्रस्ताव में उद्धत नहीं है, जिसके द्वारा उनकी कायरता प्रकट होती है, और उससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् रामचंद्र उनको वीर-रस

का आलंबन नहीं समझते। हाँ, रावण के प्रस्ताव में देवताओं के दर्प को दमन करनेवाली वीरता का प्रतिपादन करना है, अतः उद्धत है, पर उसकी अवज्ञा की गई है, राम उसे अपनी बराबरी का नहीं समझते, अतएव उनके उत्साह का आलंबन नहीं है सो उसे आलंबन मानकर रस की प्रतीति नहीं हो सकती, इस कारण उस रचना में उद्धतता का आधिक्य नहीं है। पर, भगवान् शिव परम उत्तम आलंबन विभाव हैं, और उनको आलंबन मान कर ही ओजस्वी वीर-रस संपन्न होता है, अतः उनके प्रस्ताव में पूर्णतया उद्धत रचना है।

चौथा धर्मवीर; जैसे—

सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मीरुपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः।
अपहरतुतरां शिरः कृतान्तो मम तु मतिर्न मनागपैति धर्मात्॥

❀ ❀ ❀ ❀

विलय होहु ततकाल राज्य-लक्ष्मी मम सारी।
अथवा ऊपर परहु खरग-धारा भयकारी॥
हरहु काल हू सीस सहूँगो अविचल सब यह।
मेरी मति तो डिगै धरम ते तनिक न अब यह॥

चाहे राज्य-लक्ष्मी तत्काल विलीन हो जाय, चाहे तलवारों की धाराएँ सिर पर पड़ें, यद्वा स्वयं काल शिर उतार ले; पर मेरी बुद्धि तो धर्म से किंचिन्मात्र भी नहीं हटती।

यह 'अधर्म से भी शत्रु को जीतना चाहिए' यों कहनेवाले के प्रति महाराज युधिष्ठिर का कथन है। यहाँ धर्म आलंबन है।

"न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः

(महाभारत उ० पर्व)

(अर्थात् धर्म को काम, भय अथवा लोभ के लिये, किं बहुना, जीवन के लिये भी कभी न छोड़ना चाहिए)"

इत्यादि शास्त्रीय वाक्यों की आलोचना उद्दीपन है, शिर के कटने आदि का अंगीकार करना अनुभाव है और धृति संचारी भाव है।

वीर-रस के, चार नहीं अनेक भेद हो सकते हैं।

इस तरह प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से वीर-रस का चार प्रकार से वर्णन किया गया है, पर वास्तव में विचार किया जाय तो, शृङ्गार की तरह, वीर-रस के भी बहुतेरे भेद निरूपण किए जा सकते हैं। देखिए, यदि पूर्वोक्त 'सपदि विलयमेतु······' इत्यादि अथवा 'विलय होहु ततकाल······' इत्यादि पद्य में 'मम तु मतिर्न मानागपैति सत्यात्' अथवा 'मेरी मति तो डिगै सत्य ते तनिक न अब यह' इस तरह अन्तिम चरण बदल दिया जाय तो 'सत्य-वीर' भी एक भेद हो सकता है।

आप कहेंगे कि सत्य भी धर्म के अन्तर्गत है, इस कारण 'धर्मवीर-रस' में ही 'सत्य-वीर' का भी समावेश हो जाता है। तो हम कहते हैं कि दान और दया भी धर्म के अन्तर्गत ही है, फिर 'दान वीर और 'दया-वीर' को भी अलग गिनना अनुचित है।

इसी तरह 'पाण्डित्य-वीर' भी प्रतीत होता है; जैसे—

अपि वक्ति गिरां पतिः स्वयं यदि तासामधिदेवताऽपि वा।
अयमस्मि पुरो हयाननस्मरणोल्लङ्घितवाङ्मयाम्बुधिः॥

❀ ❀ ❀

यदि बोलैं वाक्पति स्वयं कै सारद हू आइ।
हूँ तयार हयमुख सुमिरि, सब विधि विद्या पाइ॥

सभा में बैठकर एक पण्डित जी कह रहे हैं—यदि स्वयं बृहस्पति अथवा वाग्देवी भी बोलें, तो भी भगवान् हयग्रीव के स्मरण से समग्र

वाङ्मय-वारिधि को पार करनेवाला यह मैं सामने उपस्थित हूँ—आप लोगों का मुझे कुछ भी भय नहीं है, जिसकी इच्छा आवे वह बात करले।

यहाँ बृहस्पति और सरस्वती-आदि आलंबन हैं, सभा-आदि का दर्शन उद्दीपन है, सब विद्वानों का तिरस्कार अनुभाव है, गर्व संचारी भाव है और इनसे पुष्ट किया हुआ वक्ता का उत्साह प्रतीत होता है।

आप कहेंगे—यह तो 'युद्ध-वीर' ही है; क्योंकि युद्ध-शब्द से वाद-विवाद का भी संग्रह हो जाता है; क्योंकि वह भी एक प्रकार का झगड़ा ही है। तो हम कहते हैं—यों ही सही; पर 'क्षमा-वीर' के विषय में आप क्या समाधान करेंगे ? जैसे—

अपि बहलदहनजालं मूर्ध्नि रिपुर्मे निरन्तरं धमतु।
पातयतु वाऽसिधारामहमणुमात्रं न किञ्चिदाभाषे॥

❀ ❀ ❀ ❀

भलै अहित जन दहन-गन मम सिर सतत जराहिं
कै पटकहिं असि-धार, पै हौं कछु बोलौं नाहिं॥

भले ही शत्रु मेरे सिर पर निरन्तर गहरी आग जलाते रहें, अथवा तलवार की धार पटकते रहें, पर मैं बोलने का नहीं। यह क्षमावान् की उक्ति है।

अथवा 'बल-वीर' में क्या समाधान करेंगे ? जैसे—

परिहरतु धरां फणिप्रवीरः, सुखमयतां कमठोऽपि तां विहाय।
अहमिह पुरुहूत! पञ्चकोणे निखिलमिदं जगदक्लमं वहामि॥

❀ ❀ ❀ ❀

फनि-पति धरनिहि परिहरै, कमठ हु करै अराम।
सुरपति, हौं निज-पंख पै राखौं जगत तमाम॥

सर्पवीर शेषजी अपने ऊपर से पृथ्वी को हटा दें और कच्छप महाशय भी उसे छोड़कर आराम करें। हे इन्द्र! लो, मैं—एक ही, अपने पंख के एक कोने पर इस सब जगत् को बिना घबराहट के धारण कर लेता हूँ। यह इन्द्र के प्रति गरुड़ का कथन है।

आप कहेंगे कि 'अपि वक्ति···' और 'परिहरतु धराम्···' इन दोनों पद्यों में तो गर्व ही ध्वनित होता है, उत्साह नहीं; और बीच के पद्य 'अपि बहल···' में धृति-भाव ध्वनित होता है, अतः ये भाव की ध्वनियाँ हैं, रस की नहीं; तो फिर आप युद्ध-वीरादिकों में भी गर्व आदि की ध्वनियों को ही क्यों नहीं बता देते, अथवा यावन्मात्र रस-ध्वनियों को, उनमें जो व्यभिचारी भाव ध्वनित होते हैं, उनकी ध्वनियाँ हैं, यह कहकर क्यों नहीं गतार्थ कर देते? यदि आप कहें कि उनमें जो स्थायी भाव की प्रतीति होती है, वह छिपाई नहीं जा सकती—उसे स्वीकार करना ही पड़ता है, तो सोच देखिए, वही बात यहाँ भी है। 'पीछे के पद्यों में तो उत्साह प्रतीत नहीं होता है और 'दया-वीर'-आदि में प्रतीत होता है'—यह कहना तो केवल राजाज्ञा है—अर्थात् जबदस्ती का लट्ठ है। अतः यह सिद्ध है कि पूर्वोक्त गणना अपर्याप्त ही है।

अद्भुत-रस; जैसे—

चराचरजगज्जालसदनं वदनं तव।
गलद्गगनगाम्भीर्यं वीक्ष्याऽस्मि हृतचेतना॥

× × ×

थावर-जंगम-जगत-गन-सदन बदन तुव जोइ।
गई गगन की गहनता रही चेतना खोइ॥

जिसमें सब स्थावर और जंगम जगत् निवास करता है, और जिसके देखने पर आकाश की भी गंभीरता गिर जाती है, उस तेरे मुख को देखकर मेरी बुद्धि नष्ट हो गई है—मेरी अकल काम नहीं करती कि यह है क्या गजब!

यह, किसी समय, भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविंद को देखने के अनंतर, यशोदाजी की उक्ति है। यहाँ मुख आलंबन है, उसके भीतर समग्र स्थावर-जंगम जगत् का देखना उद्दीपन है, बुद्धि का नष्ट हो जाना एवम् उसके द्वारा प्रतीत होनेवाले रोमांच, नेत्रों का विकसित हो जाना आदि अनुभाव हैं और त्रास-आदि व्यभिचारी भाव हैं। यहाँ पुत्र का प्रेम यद्यपि विद्यमान है, तथापि प्रतीत नहीं होता; क्योंकि उसका कोई व्यंजक शब्द नहीं है—इस पद्य के किसी शब्द से उसकी अवगति नहीं होती। यदि प्रकरणादिक की पर्यालोचना करने पर वह प्रतीत भी हो जाय, तथापि आश्चर्य उसकी अपेक्षा गौण नहीं हो सकता, क्योंकि 'समझने की शक्ति ही जाती रही' ऐसा कहने से आश्चर्य की ही प्रधानता प्रकट होती है। इसी तरह 'यह कोई महापुरुष है' यह समझकर भक्ति भी उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि उसमें यशोदा का यह निश्चय रुकावट डालता है कि 'यह बालक मेरा पुत्र है'। सो भक्ति की अपेक्षा भी आश्चर्य गौण नहीं हो सकता।

काव्यप्रकाश पर विचार

सहृदय-शिरोमणि प्राचीन आचार्यों (काव्यप्रकाशकार) ने जो उदाहरण दिया है—

"चित्रं महानेष बताऽवतारः
क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः।

लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः
काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥

भगवान् वामन को देखकर बलि कहते हैं—हर्ष है कि यह (आपका) महान् अवतार लोकोत्तर है, ऐसी कांति कहाँ प्राप्त हो सकती है ? यह चलने, बैठने, देखने आदि का ढंग सर्वथा नवीन ही है; अलौकिक धैर्य है, विलक्षण प्रभाव है, अनिर्वचनीय आकार है; यह एक नई सृष्टि है—अब तक ऐसा कोई उत्पन्न ही नहीं हुआ ।

उसके विषय में हमें यह कहना है कि—इस पद्य में 'विस्मय' स्थायीभाव की प्रतीति भले ही हो, उसके विषय में हमें कुछ नहीं कहना है; पर उस विस्मय के कारण इस पद्य को अद्भुत-रस की ध्वनि कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि इस पद्य में जिस महापुरुष का वर्णन किया गया है, उसके विषय में स्तुति करनेवाले की जो भक्ति है, वही यहाँ प्रधान है; और विस्मय उसे उत्कृष्ट बनाता है, अतः उसकी अपेक्षा गौण हो गया है । जैसा कि महाभारत में, भगवद्गीता के अंदर, जब अर्जुन ने विश्वरूप (विराट रूप) के दर्शन किए तो उसने कहा—

"पश्यामि देवांस्तव देव ! देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेष-संघान् ।

हे देव ! मैं आपके शरीर में सब देवताओं को तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणियों के समूहों को देख रहा हूँ ।"

इत्यादि वाक्य-संदर्भ में (आश्चर्य यद्यपि प्रतीत होता है, तथापि वहाँ, अर्जुन की, भगवान् के विषय में उत्पन्न हुई, भक्ति प्रधान है और आश्चर्य गौण) ।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि इस आश्चर्य को यहाँ रसालंकार कहना उचित है, रस-ध्वनि कहना नहीं । पर यदि आप फिर कहें कि 'इसमें

भक्ति की प्रतीति होती ही नहीं' तो हम सहृदयों से प्रार्थना करेंगे कि आप लोग थोड़ा, आँखें मींचकर, सोचिए—देखिए कि इसमें भक्ति की प्रतीति होती है, अथवा नहीं।

हास्य-रस

जैसे—

श्रीतातपादैर्विहिते निबन्धे
निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा—
अङ्गं गवां पूर्वमहो पवित्रं
न वा कथं रासभधर्मपत्न्याः ?

× × ×

दादाजी किय दंग बुधन, लेख लिखि यह जुगति—
सुचि गौ-पूरब-अंग रासभ-रानी को न क्यों ?

श्रीमान् पिताजी ने जो निबंध लिखा, उसमें यह एक नई युक्ति वर्णन की गई है। वह युक्ति यह है—आश्चर्य है कि यदि गायों का पूर्व अंग पवित्र है तो गर्दभ महाशय की धर्म-पत्नीजी का वह अंग क्यों न पवित्र माना जाय ? अर्थात् उनकी दृष्टि में गौ और गर्दभी एक समान हैं।

यहाँ तार्किक (युक्ति सोचनेवाले) का पुत्र आलंबन है, उसका शंकारहित कथन उद्दीपन है, दाँत निकालना आदि अनुभाव है और उद्वेग आदि व्यभिचारी भाव हैं।

हास्य के भेद

हास्य-रस के विषय में प्राचीन आचार्यों का कथन है कि—

आत्मस्थः परसंस्थश्चेत्यस्य भेदद्वयं मतम्।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः॥

हसन्तमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते ।
योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः परस्थः परिकीर्त्तितः ॥
उत्तमानां मध्यमानां नीचानामप्यसौ भवेत् ।
त्र्यवस्थः कथितस्तस्य षड् भेदाः सन्ति चाऽपरे ॥
स्मितं च हसितं प्रोक्तमुत्तमे पुरुषे बुधैः ।
भवेद्विहसितं चोपहसितं मध्यमे नरे ॥
नीचेऽपहसितं चातिहसितं परिकीर्त्तितम् ।
ईषत्फुल्लकपोलाभ्यां कटाक्षैरप्यनुल्बणैः ॥
अदृश्यदशनो हासो मधुरः स्मितमुच्यते ।
वक्त्रनेत्रकपोलैश्चेदुत्फुल्लैरुपलक्षितः ॥
किञ्चिल्लक्षितदन्तश्च तदा हसितमिष्यते ।
सशब्दं मधुरं कायगतं वदनरागवत् ॥
आकुञ्चिताक्षि मन्द्रं च विदुर्विहसितं बुधाः ।
निकुञ्चितांसशीर्षश्च जिह्मदृष्टिविलोकनः ॥
उत्फुल्लनासिको हासो नाम्नोपहसितं मतम् ।
अस्थानजः साश्रुदृष्टिराकम्पस्कन्धमूर्धजः ॥
शार्ङ्गदेवेन गदितो हासोऽपहसिताह्वयः ।
स्थूलकर्णकटुध्वानो वाष्पपूरप्लुतेक्षणः ॥
करोपगूढपार्श्वश्च हासोऽतिहसितं मतम् ।

हास्य-रस दो प्रकार का है—एक आत्मस्थ, दूसरा परस्थ । **आत्मस्थ** उसे कहते हैं, जो देखनेवाले को विभाव (हास्य

के विषय) के देखने मात्र से उत्पन्न हो जाता है; और जो हास्य-रस दूसरे को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है एवं जिसका विभाव भी हास्य ही होता है—अर्थात् जो दूसरे के हँसने के कारण ही होता है, उसे रसज्ञ पुरुष **परस्थ** कहते हैं।

यह उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार के व्यक्तियों में उत्पन्न होता है; अतः इसकी तीन अवस्थाएँ कहलाती हैं। एवं उसके और भी छः भेद हैं—उत्तम पुरुष में **स्मित** और **हसित**, मध्यम पुरुष में **विहसित** और **उपहसित** तथा नीच पुरुष में **अपहसित** और **अतिहसित** होते हैं।

जिसमें कपोल थोड़े विकसित हों, नेत्रों के प्रान्त अधिक प्रकाशित न हों, दाँत दिखाई न दें और जो मधुर हो, वह हँसना **स्मित** कहलाता है।

जिस हँसने में मुख, नेत्र और कपोल विकसित हो जायँ और कुछ दाँत भी दिखाई दें, उसे **हसित** माना जाता है।

जिस हँसने में शब्द होता हो, जो मधुर हो, जिसकी पहुँच शरीर के अन्य अवयवों में भी हो, जिसमें मुँह लाल हो जाय, आँखें कुछ-कुछ मिंच जायँ और ध्वनि गंभीर हो, उसे विद्वान् लोग **विहसित** कहते हैं।

जिसमें कन्धे और सिर सिकुड़ जायँ, टेढ़ी नजर से देखना पड़े और नाक फूल जाय उस हँसने का नाम **उपहसित** है।

जो हँसना बे-मौके हो, जिसमें आँखों में आँसू आ जाय और कंधे एवं केश खूब हिलने लगें, उस हँसने का शार्ङ्गदेव आचार्य ने **अपहसित** नाम रखा है।

जिसमें बहुत भारी और कानों को अप्रिय लगनेवाला शब्द हो, नेत्र आँसुओं के मारे भर जायँ और पसलियों को हाथों से पकड़ना पड़े, वह हँसना **अतिहसित** कहलाता है।

भयानक-रस

जैसे—

श्येनमम्बरतलादुपागतं शुष्यदाननबिलो विलोकयन् ।
कम्पमानतनुराकुलेक्षणः स्पन्दितुं नहि शशाक लावकः ॥

× × × ×

नभ ते झपटत बाज लखि भूल्यो सकल प्रपंच ।
कंपित-तन व्याकुल-नयन लावक हिल्यो न रंच ॥

एक दर्शक कहता है—बेचारे लवा (एक प्रकार का पक्षी) ने ज्योंही आकाश से झपटते हुए बाज को देखा, त्योंही मुँह सूख गया, देह थरथराने लगी, नेत्र व्याकुल हो गए और हिल भी न सका ।

यहाँ बाज आलंबन है, उसका वेग-सहित झपटना उद्दीपन है, मुँह सूखना आदि अनुभाव हैं और दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं ।

बीभत्स-रस;

जैसे—

नखैर्विदारितान्त्राणां शवानां पूयशोणितम् ।
आननेष्वनुलिम्पन्ति हृष्टा वेतालयोषितः ॥

× × × ×

फाड़ि नखन शव-आँतड़िन, रुधिर-मवाद निकारि ।
लेपति अपने मुखन पै हरसि प्रेत-गन-नारि ॥

एक मनुष्य किसी से रणांगण अथवा श्मशान का दृश्य कह रहा है—हर्षयुक्त वेतालों की स्त्रियाँ नखों से मुरदों की अँतड़ियों को फाड़कर मवाद और रुधिर को मुँह पर लेप रही हैं ।

यहाँ मुरदे आलंबन हैं, अँतड़ियों का चीरना आदि उद्दीपन हैं, ऊपर से आक्षिप्त किए हुए रोमांच, नेत्र मींचना आदि अनुभाव हैं और आवेग आदि संचारी भाव हैं ।

'हास' और 'जुगुप्सा' का आश्रय कौन होता है ?

अब एक शंका हो सकती है कि रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद इन स्थायी-भावों में जिस तरह आलंबन और आश्रय दोनों की प्रतीति होती है; जैसे कि—यदि शकुंतला के विषय में दुष्यंत का प्रेम है तो शकुंतला प्रेम का आलंबन है और दुष्यंत आश्रय, और वहाँ इन दोनों की प्रतीति होती है; उस तरह हास और जुगुप्सा में नहीं होती; क्योंकि इन दोनों में केवल आलंबन की ही प्रतीति होती है, आश्रय का वर्णन होता ही नहीं। और यदि पद्य सुननेवाले को ही उनका आश्रय माना जाय तो यह उचित नहीं; क्योंकि वह तो रस के आस्वाद का आधार है—उसे तो अलौकिक रस की चर्वणा होती है, सो वह लौकिक हास और जुगुप्सा का आश्रय नहीं हो सकता। हम कहते हैं कि हाँ, यह सच है; पर वहाँ उन दोनों भावों के आश्रय—किसी देखनेवाले पुरुष का आक्षेप कर लेना चाहिए, उसे ऊपर से समझ लेना चाहिए। और यदि ऐसा न करें, तो भी जिस तरह सुननेवाले को अपनी स्त्री के वर्णन में लिखे हुए पद्यों से रस का उद्‌बोध हो जाता है—अर्थात् वहाँ जो लौकिक रति का आश्रय है, वही रस का भी अनुभवकर्ता हो जाता है; उसी तरह यहाँ भी लौकिक भाव और रस के आश्रय को एक ही मान लेने में कोई बाधा नहीं।

इस तरह संक्षेप से रसों का निरूपण किया गया है।

रसालंकार

इन रसों के प्रधान होने पर, इनके कारण, काव्य को 'रस-ध्वनि' कहा जाता है, और दूसरों की अपेक्षा गौण होने पर इन्हें 'रसालंकार' कहा जाता है, और ऐसी दशा में वह काव्य, जिसमें ये आए हों, 'रसध्वनि' नहीं कहला सकता। कुछ लोगों का कथन है कि—जब ये प्रधान हों, तभी इनको रस कहा जाना चाहिए, अन्यथा ये अलंकार मात्र ही होते हैं, उनमें रस कहलाने की योग्यता ही नहीं होती। तथापि

जो लोग उन्हें रसालंकार कहते हैं, सो उसी प्रकार जैसे कि 'अलंकार-ध्वनि'* कहते हैं। इस बात को एक उदाहरण देकर समझा देते हैं। जिस तरह कोई ब्राह्मण बौद्धमत की दीक्षा लेकर 'श्रमण' (बौद्ध-भिक्षुक) बन जाय, तब वह ब्राह्मण तो रहता नहीं, तथापि उसे पहले ब्राह्मण रहने के कारण लोग 'ब्राह्मण-श्रमण' कहा करते हैं, बस, वही हिसाब यहाँ समझिए। अर्थात् जो किसी भी अवस्था में रस या अलंकार शब्द से व्यवहार में प्रयुक्त हो चुके हैं उनका अन्य अवस्था में भी उसी प्रकार व्यवहार होता है। यहाँ यह और समझ लीजिए कि ये रस तभी कहे जाते हैं जब ये असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में रहते हैं। संलक्ष्यक्रम होने से तो इनका वस्तु शब्द से ही व्यवहार होता है। यह है उनका मत।

ये 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' क्यों कहलाते हैं?

ये रस 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' कहलाते हैं, क्योंकि सहृदय पुरुष को जब सहसा रस का आस्वादन होता है, उस समय, यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के विमर्श का क्रम रहता है, तथापि जिस तरह शतपत्र कमल के सौ-के-सौ पत्रों को सूई से वेधन किया जाता है, उस समय, यह तो जान पड़ता है कि सौ-के-सौ ही पत्र बिध

---

* इसका अभिप्राय यह है कि—अलंकार उसका नाम है, जो किसी को शोभित करे, जिसे शोभित किया जाय उसका नहीं; और जो अर्थ ध्वनित होता है, वह किसी को शोभित नहीं करता, किंतु उसे अन्य उपकरण शोभित करते हैं। तब ध्वनित होनेवाले अर्थ को अलंकार रूप मानकर उसके कारण काव्य को अलंकारध्वनि कहना ठीक नहीं। किन्तु अलंकार्य ध्वनि कहना चाहिये, तथापि उसे 'अलंकार-ध्वनि' कहा जाता है।

गए; पर उनमें से कौन पहले बिंधा और कौन पीछे—इतना सोचने का अवसर ही नहीं मिलता, इसी प्रकार यहाँ भी, शीघ्रता के कारण, वह क्रम विदित नहीं हो पाता। परन्तु यह समझना उचित नहीं कि ये विना क्रम के ही व्यंग्य हैं—इनका और व्यंजक विभावादिकों का कोई क्रम है ही नहीं, क्योंकि यदि ऐसा हो, तो रस की अभिव्यक्ति का और अभिव्यक्ति के कारणों का कार्यकारणभाव ही न बन सके—अर्थात् विभावादिकों का रस के कारण रूप होना ही निर्मूल हो जाय, जो कि प्रतीति से सरासर विरुद्ध है।

रस नौ ही क्यों हैं ?

अब यह प्रश्न होता है कि रस इतने ही क्यों हैं, यदि इनसे अधिक रस माने जायँ तो क्या बुराई है? उदाहरण के लिये देखिए—कि—जब भगवद्भक्त लोग भागवत आदि पुराणों का श्रावण करते हैं, उस समय वे जिस 'भक्ति-रस' का अनुभव करते हैं, उसे आप किसी तरह नहीं छिपा सकते है। उस रस के भगवान् आलंबन हैं, भागवतश्रवण आदि उद्दीपन हैं, रोमाच, अश्रुपात आदि अनुभाव हैं और हर्ष-आदि संचारी भाव हैं। तथा इसका स्थायी भाव है भगवान् से प्रेम-रूप 'भक्ति'। इसका शान्त-रस में भी अंतर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि अनुराग (प्रेम) वैराग्य से विरुद्ध है और शान्त-रस का स्थायी भाव है वैराग्य।

अच्छा, इसका उत्तर भी सुनिए। भक्ति भी देवता-आदि के विषय में जो रति (प्रेम) होती है, उसी का नाम है, और देवता-आदि के विषय में जो रति होती है, उसकी भावों में गणना की गई है, सो वह रस नहीं, किन्तु भाव है; क्योंकि—

रतिर्देवादिविषया व्याभिचारी तथाऽञ्जितः।
भावः प्रोक्तस्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्त्तिताः॥

अर्थात् देवता-आदि के विषय में होनेवाला प्रेम और व्यंजना-वृत्ति से ध्वनित हुआ व्यभिचारी 'भाव' कहलाता है, और यदि रस तथा भाव अनुचित रीति से प्रवृत्त हों, तो 'रसा-भास' कहलाते हैं—यह प्राचीन आचार्यों का सिद्धांत है।

आप कहेंगे—यदि ऐसा ही है तो कामिनी के विषय में जो प्रेम होता है, उसे भी 'भाव' कहिए; क्योंकि जैसा यह प्रेम वैसा ही वह भी प्रेम—इसमें उसमें भेद ही क्या है? अथवा भगवद्भक्ति को ही स्थायी भाव मान लीजिए और कामिनी-आदि के विषय में जो प्रेम होता है, उसे (सचारी) भाव; क्योंकि इसमें कोई युक्ति तो है नहीं कि इन दोनों में से अमुक को ही स्थायी मानना चाहिए। इसके उत्तर में हम कहते हैं कि साहित्य शास्त्र में रस-भाव-आदि की व्यवस्था भरत-आदि मुनियों के वचनों के अनुसार की गई है, अतः इस विषय में स्वतन्त्रता नहीं चल सकती। अन्यथा पुत्र-आदि के विषय में जो प्रेम होता है, उसे 'स्थायी-भाव' क्यों न माना जाय और 'जुगुप्सा' और 'शोक' आदि को भाव ही क्यों न मान लिया जाय। यदि ऐसा करने लगें तो सारे शास्त्र में ही बखेड़ा पड़ जाय तथा भरत-मुनि के वचन के अनुसार नियत की हुई जो रसों की नौ संख्या है वह टूट जाय और वे कभी कम मान लिए जाया करें। इस कारण शास्त्र के अनुसार मानना ही उत्तम है।

रसों का परस्पर अविरोध और विरोध

इन रसों का आपस में किसी के साथ अविरोध है और किसी के साथ विरोध। उनमें से वीर और शृंगार का, शृङ्गार और हास्य का; वीर और अद्भुत का, वीर और रौद्र का एवं शृङ्गार और अद्भुत का परस्पर विरोध नहीं है। शृङ्गार और बीभत्स का, शृङ्गार और करुण का, वीर और भयानक का, शांत और रौद्र का एवं शांत

और शृङ्गार का विरोध है। यदि कवि प्रस्तुत रस को अच्छी तरह पुष्ट करना चाहे—यदि इसकी इच्छा हो कि मेरे काव्य में रस का अच्छा परिपाक हो तो उसे उचित है कि उस रस के अभिव्यक्त करनेवाले काव्य में उसके विरुद्ध रस के अंगों का वर्णन न करे; क्योंकि यदि विरुद्ध रस के अंगों का वर्णन किया जायगा तो अभिव्यक्ति होने पर वह (विरोधी रस) प्रस्तुत रस को बाधित करेगा अथवा 'सुंदोपसुंद-न्याय'*से दोनों नष्ट हो जायँगे—न इसका ही मजा रहेगा, न उसका ही।

विरुद्ध-रसों का समावेश

पर, यदि कवि को विरुद्ध रसों का एक स्थान पर समावेश करना ही हो तो विरोध का परिहार करके करना चाहिए। विरोध का परिहार कैसे करना चाहिए सो भी सुनिए। विरोध दो प्रकार का है—एक स्थितिविरोध और दूसरा ज्ञानविरोध। स्थितिविरोध का अर्थ है—एक ही आधार (पात्र) में दोनों का न रह सकना, और ज्ञानविरोध का अर्थ है—एक के ज्ञान से दूसरे के ज्ञान का बाधित हो जाना अर्थात् जिन दो रसों का ज्ञान एक दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी हो, उनमें ज्ञानविरोध होता है। उनमें से पहला विरोध विरोधी रस को दूसरे आधार में स्थापित कर देने से निवृत्ति हो जाता है। जैसे कि यदि नायक में

---

* सुंद और उपसुंद की कथा यों है। सुंद और उपसुंद नाम के दो दैत्य थे। उन्होंने बड़ी भारी तपस्या करके भगवान् ब्रह्मा को प्रसन्न किया। ब्रह्मा जी के वरदान से वे सब के अवध्य रहे, केवल परस्पर की लड़ाई से वे मर सकते थे। विश्वविजयी दोनों भाइयों की तिलोत्तमा नाम की अप्सरा की प्राप्ति के लिये लड़ाई हुई और वे मर मिटे। दे० महाभा० आ० अ० २२८—३२। इस तरह दोनों के समबल होने के कारण नष्ट हो जाने के ढंग को 'सुंदोपसुंदन्याय' कहते हैं।

वीर-रस का वर्णन करना हो, तो प्रतिनायक (उसके शत्रु) में भयानक का वर्णन करना चाहिए।

इस प्रकरण में रस-पद से रसों के उपाधिरूप स्थायी भावों का ग्रहण किया गया है; क्योंकि रस तो दर्शक-समाज के व्यक्तियों में रहता है, नायक आदि में नहीं। एवं रस अद्वितीय आनंद-मय है—अर्थात् जब उसकी प्रतीति होती है तब अन्य किसी की प्रतीति होती ही नहीं, इस दशा में उसके विरोध की बात ही चलाना अनुचित है।

विरुद्ध-रसों का स्थितिविरोध कैसे मिटाया जा सकता है, इसका उदाहरण लीजिए—

कुण्डलीकृतकोदण्डदोर्दण्डस्य पुरस्तव।
मृगारातेरिव मृगाः परे नैवाऽवर्तास्थरे॥

× × × ×

कुंडल-सम धनु कर लिए तुव आगे रन-माहिं।
केहरि-समुहे मृग-सरिस ठहरि सके अरि नाहिं॥

कवि कहता है—हे राजन्! जब आपने खींचकर कुंडल के समान गोल किए हुए धनुष को हाथ में लिया, तो आपके सामने, सिंह के सामने मृगों के समान, शत्रु नहीं ठहर सके। (यहाँ नायक में 'वीर' और प्रतिनायक में 'भयानक' का वर्णन स्पष्ट ही है।)

यह तो हुई पहले प्रकार के विरोध को निवृत्त करने करने की बात। अब दूसरे प्रकार के विरोध को निवृत्त करने की विधि भी सुनिए। वह (ज्ञान-) विरोध भी, जो रस दोनों रसों का विरोधी न हो, उसे संधि (सुलह) करनेवाले की तरह, विरुद्ध-रसों के बीच में स्थापित कर देने से निवृत्त हो जाता है। जैसे कि मेरी (पंडितराज की) बनाई हुई आख्यायिका में—कण्वाश्रम में स्थित महर्षि श्वेतकेतु

के शांत-रस-प्रधान वर्णन के प्रस्तुत होने पर "यह कैसा रूप है जिसका कभी अनुभव नहीं किया गया ; यह वचनमाला की कैसी मधुरता है, जिसका वर्णन नहीं हो सकता" इस तरह अद्भुत-रस को मध्य में स्थापित करके वरवर्णिनी-नामक नायिका के प्रति प्रेम का वर्णन किया गया है। वहाँ शान्त और शृंगार के मध्य में अद्भुत आ जाने से विरोध हट गया। अथवा जैसे—

सुराङ्गनाभिराश्लिष्टा व्योम्नि वीरा विमानगाः।
विलोकन्ते निजान् देहान् फेरुनारीभिरावृतान्॥

× × ×

सुर-नारिन सँग गगन में बीर बिराजि बिमान।
निरखत स्यारिन सों घिरे अपुने देह महान॥

देवांगनाओं से आलिंगन किए हुए, आकाश में विमानों में बैठे हुए वीर, मादा-सियारों से घिरे हुए, अपने देहों को देख रहे हैं।

यहाँ देवांगनाओं को आलंबन मानकर शृंगार-रस और वीरों के मृतक शरीरों को आलंबन मानकर बीभत्स-रस की प्रतीति होती है। ये दोनों परस्पर-विरुद्ध हैं, अतः इन दोनों के मध्य में वीरों की स्वर्ग-प्राप्ति का वर्णन करके उसके द्वारा आक्षिप्त वीर-रस निविष्ट कर दिया गया है। बीच में निवेश करने का अर्थ यह है कि परस्पर विरोधी रसों के आस्वादन का जो समय है उसके मध्य के समय में उसका आस्वादन होना। सो देखिए, यहाँ स्पष्ट ही है कि पूर्वोक्त पद्य के पूर्वार्ध में शृंगार-रस का आस्वादन होने के अनंतर वीर-रस का आस्वादन होता है और उसके अनंतर दूसरे अर्द्ध में बीभत्स का।

काव्य प्रकाश के उदाहरण से भेद

भूरेणुदिग्धान् नवपारिजात-
मालारजोवासितबाहुमध्याः ।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान्
सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः
पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः
सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः
कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानाँल्ललनाङ्गुलीभि-
र्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥

रणांगण का वर्णन है। कवि कहता है—उस समय पृथिवी की रज से भरे हुए, शृगालियों से पूर्णतया आलिंगन किए जा रहे, मांसाहारी पक्षियों के चमचमाते हुए रुधिर-लिप्त पंखों से झले जा रहे, रणांगण में गिरे हुए और ललनाओं (अप्सराओं)की अँगुलियोंसे दिखाये जाते हुए अपने देहों को, जिनके वक्षःस्थल नवीन पारिजात - पुष्पों की मालाओं से सुगन्धित हो रहे हैं और देवांगनाओं से आलिंगित हैं, एवं जिनको, कल्प-वल्लियों से प्राप्त अतएव चंदन के जल से छिड़के जाने के कारण सुगंधित दुकूलों (के बने हुए पंखों) से झला जा रहा है ऐसे विमानों के पलँगों पर बैठे हुए (युद्ध में लड़कर स्वर्ग गए हुए) वीरों ने कौतुकयुक्त होकर देखा।

इत्यादि काव्य-प्रकाश के पद्य-समूह में तो पहले बीभत्सरस की सामग्री का श्रवण होने के कारण उसका आस्वादन होता है और उसके अनंतर, बीभत्स-रस की सामग्री से 'निर्भय होकर प्राण त्याग देने आदि' वीर-रस की सामग्री का आक्षेप होता है, सो उसके द्वारा जब वीर-रस का आस्वादन हो चुकता है, तब शृंगार-रस का आस्वादन होता है—यह भेद है। अर्थात् हमारे पद्य में क्रमशः शृंगार, वीर और बीभत्स का आस्वादन होता है और काव्य-प्रकाश के पद्यों में बीभत्स, वीर और शृंगार का।

अस्तु। इस तरह इस सब कथन का तात्पर्य यह होता है कि मध्य में उदासीन रस का आस्वादन होने से रुकावट डालनेवाले ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, और इस कारण जिसको रोक दिया जा सकता था, उस रस का आस्वादन निर्विघ्नता से हो जाता है—अर्थात् आस्वादन में किसी प्रकार की रुकावट नहीं रहती।

अन्य प्रकार से विरोध दूर करने की युक्ति

एक रस दूसरे रस-भाव आदि का अंग हो गया हो, अथवा दोनों रस किसी अन्य रस-भाव आदि के अंग हो गए हों, तो उनमें विरोध नहीं रहता; क्योंकि यदि वे विरुद्ध रहें तो अंग ही नहीं बन सकते। जैसे कि—

प्रत्युद्गता सविनयं सहसा सखीभिः
स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसावलोकैः।
मामद्य मञ्जुरचनैर्वचनैश्च बाले!
हा! लेशतोऽपि न कथं वद सत्करोषि॥

× × × ×

स्मर के सचिव समान सरस चितवन सुखकारी
अरु अति-मंजुलरचन वचन-गन सों हा प्यारी !
विनय सहित झट सखिन संग लै समुहै आई
करति क्यों न मम आज कछु हु आदर हरषाई ।

हाय ! बाले ! तुम सखियों सहित विनयपूर्वक झट से सामने आकर, कामदेव को कामदार—उसकी सिफारिश करने वाली विकसित और सरस चितवनों से तथा सुंदर रचनावाले वचनों से, आज, मेरा कुछ भी सत्कार क्यों नहीं कर रही हो। यह आगे पड़ी हुई मृतक नायिका के प्रति नायक की उक्ति है ।

यहाँ, नायिका-रूपी आलंबन, अश्रुपातादिक अनुभाव और आवेग, विषाद आदि संचारी भावों से अभिव्यक्त हुआ नायक का (नायिका-विषयक) प्रेम, इन्हीं आलंबनादिकों से अभिव्यक्त हुए, परंतु प्रस्तुत होने के कारण प्रधान, नायक के 'शोक' का, उसे बढ़ानेवाला होने के कारण, अंग है ।

यदि यह आग्रह किया जाय कि—यहाँ नायक के प्रेम की प्रतीति नहीं होती, किंतु पूर्वोक्त सामग्री के द्वारा उसका शोक ही प्रतीत होता है, क्योंकि वही प्रस्तुत है—उस बेचारे में प्रेम कहाँ से आवेगा, उसे तो रोना पड़ रहा है तो जिसका नायक आलंबन है, 'सामने आना' आदि अनुभाव हैं, हर्षादिक संचारी भाव हैं—उस नायिका के प्रेम को ही शोक का अंग समझिए; क्योंकि नायिका का प्रेम नायक के शोक का बढ़ाने वाला होता है—यह बात सब लोगों की मानी हुई है। आप कहेंगे कि जब नायिका नष्ट हो गई, तब उसका प्रेम विद्यमान तो है नहीं फिर वह शोक का अंग कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि अंग होने में विद्यमान होना आवश्यक नहीं है, अतः स्मरण किया जा रहा प्रेम भी अंग हो सकता है ।

अन्य का अंग होने पर विरुद्ध रसों का अविरोध; जैसे—

उत्क्षिप्ताः कबरीभरं, विवलिताः पार्श्वद्वयं, न्यक्कृताः
पादाम्भोजयुगं, रुषा परिहृता दूरेण चेलाञ्चलम् ।
गृह्णन्ति त्वरया भवत्प्रतिभटक्ष्मापालवामभ्रुवां ।
यान्तीनां गहनेषु कण्टकचिताः के के न भूमीरुहाः !

× × × ×

ऊँचे कबरिन, किए बंक दोऊ बगलनि कों ।
बल सों नीचे किए झूमि सु-चरन-कमलनि कों ॥
किए रोस सों दूर तुरत पट-आँचल पकरत ।
सब जतननि कों हाय ! सहज ही में हैं निदरत ॥
इहि भाँति विपिन में विचरतीं तुव रिपु-नृप-नारिन विकल ।
हे भूमिनाथ ! कहु कौन नहिं करत कँटीले तरुन दल ॥

हे राजन्, कौन ऐसे कँटीले पेड़ हैं, जो, जंगल में जाती हुई, आपके शत्रु-राजाओं की स्त्रियों के, ऊँचे करने पर केशपाश को, टेढ़े करने पर दोनों बगलों को, नीचे करने पर दोनों चरण-कमलों को और रोष से दूर हटा देने पर झट से कपड़े का प्रांत न पकड़ लेते हों ।

इस पद्य में समासोक्ति अलंकार है और उसके अंग हैं दो प्रकार के व्यवहार—एक प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत । उनमें से यहाँ प्रस्तुत व्यवहार है—पेड़ों के द्वारा स्त्रियों की चोटी-आदि का पकड़ना, और अप्रस्तुत है—किसी कामी पुरुष के द्वारा उनका पकड़ना । इन दोनों व्यवहारों में से पहले के द्वारा करुण रस की और दूसरे के द्वारा शृंगार-रस की अभिव्यक्ति होती है, और वे दोनों रस (परस्पर विरोधी होने पर भी) राजा के विषय में जो कवि का प्रेम है, उसके अंग हो गए हैं, अतः उनमें कुछ भी विरोध नहीं रहा ।

विरोधी रस के वर्णन की आवश्यकता

सच पूछिए तो प्रकरण-प्राप्त रस को अच्छी तरह पुष्ट करने के लिये विरोधी रस का बाधित करना उचित है, अतः उसका वर्णन अवश्य करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से, जिस रस का वर्णन किया जा रहा है, उसकी शोभा, वैरी का विजय कर लेने के कारण, अनिर्वच-नीय हो जाती है।

नरसों और भावोंकी काव्यता का अर्थ

(प्रकृत) रस के बाधित किए जाने का अर्थ यह है कि विरोधी रस के अंगों के प्रबल होने के कारण, अपने अंगों के विद्यमान होने पर भी रस की अभिव्यक्ति का रुक जाना। अर्थात् किसी रस के अभिव्यक्त होने की सामग्री के होने पर भी, दूसरे रस की सामग्री के प्रबल होने के कारण, उसके अभिव्यक्त न होने का नाम है रस का बाध्य होना। पर व्यभिचारी भावों का बाध्य होना तो इसी का नाम है कि उनके द्वारा जिस रस की अभिव्यक्ति होनी चाहिए थी उसका न होना, न कि व्यभिचारी भावों की ही अभिव्यक्ति का न होना; क्योंकि व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न करनेवाला कोई नहीं है। आप कहेंगे कि क्यों नहीं, विरोधी रस के अंग-रूप भावों की अभिव्यक्ति होने से रुकावट हो जायगी और इस कारण प्रस्तुत भावों की अभिव्यक्ति न हो सकेगी; पर यह ठीक नहीं; क्योंकि जिस समय प्रस्तुत भावों को अभिव्यक्त करनेवाले शब्दों और अर्थों का ज्ञान होगा, उस समय विरोधी रस के अंगरूप भावों को अभिव्यक्त करनेवाले शब्दों और अर्थों का ज्ञान नहीं रह सकता; इस कारण एक दूसरे को प्रतिबध्य (रुकनेवाला) और प्रतिबंधक (रोकनेवाला) मानने में कोई प्रमाण नहीं। दूसरे, यदि ऐसा मान लिया जाय तो, विरोधी भावों का एक पद्य में एकत्र होना, जिसे भाव-शबलता कहते हैं, सर्वथा उच्छिन्न हो जाय, जो कि सर्व-संमत है। रस की अभिव्यक्ति का रुक जाना तो अनु-

भव सिद्ध है, इस कारण विरोधी रस के प्रबल अंगों के अभिव्यक्त होने से रस की अभिव्यक्ति का ही प्रतिबंधक मानना उचित है, व्यभिचारी भावों का नहीं।

जहाँ एकसे विशेषणों के प्रभाव से दो विरुद्ध रस अभिव्यक्त हो जाते हैं, वहाँ भी उनका विरोध निवृत्त हो जाया करता है; जैसे—

नितान्तं यौवनोन्मत्ता गाढरक्ताः सदाऽऽहवे।
वसुंधरां समालिङ्ग्य शेरते वीर! तेऽरयः॥

हे वीर! यौवन से अत्यंत उन्मत्त और रण में सर्वदा गाढ रक्त (खूब चोट खाए हुए + अत्यंत अनुरक्त) तेरे शत्रुलोग पृथ्वी से चिपटकर सो रहे हैं।

यहाँ समान विशेषणों के द्वारा वीर के साथ-साथ उसके विरोधी शृंगार की भी प्रतीति होती है।

रस-वर्णन में दोष

इस तरह विरोध मिटा देने पर भी जिस रस का वर्णन किया जाय, उसको **'रस' शब्द अथवा 'शृंगार-आदि' शब्दों से बोल देना** अनुचित है; क्योंकि ऐसा करने से आस्वादन करने योग्य नहीं रहता—प्रकट हो जाने के कारण उसका मज़ा जाता रहता है; इसीलिये पहले कह चुके हैं कि रस का आस्वादन केवल व्यंजना वृत्ति से सिद्ध होता है। आप पूछ सकते हैं कि जहाँ विभावादिकों से अभिव्यक्त रस को उसका नाम लेकर वर्णन कर दिया जाय, वहाँ कौन दोष होता है? तो उत्तर यह है कि व्यंग्य को वाच्य बना देने से सभी व्यंग्यों में 'वमन' नामक दोष होता है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

यह तो हुई सामान्य दोष की बात। पर रसों का जिस रूप में आस्वादन किया जाता है वह प्रतीति, वाच्य-वृत्ति (अभिधा) के द्वारा, अर्थात् उन रसों का नाम लेने से उत्पन्न नहीं हो सकती; अतः जहाँ रसों का वर्णन हो उस स्थल पर ऐसा करना बंदर की सी चेष्टा

है—अर्थात् जिस तरह बंदर अपने घाव को, ठीक करने के लिये, खोदकर और बिगाड़ डालता है उसी प्रकार इस चेष्टा से भी रसवर्णन उत्तम होने के स्थान पर और भी बिगड़ जाता है। सो रसों के विषय में तो यह विशेष दोष भी है।

इसी तरह **स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों** का भी **अभिधा द्वारा वर्णन करना**—उनके नाम ले लेकर लिखना—दोष है।

इसी प्रकार **विभावों का अच्छी तरह प्रतीत न होना अथवा विलंबसे प्रतीतहोना** दोष है; क्योंकि ऐसा होने से रस का आस्वादन नहीं हो पाता।

विरोधी रसों के (प्रस्तुत रसों के अङ्गों की अपेक्षा) **समबल अथवा प्रबल अंगों का वर्णन** करना भी दोष है; क्योंकि ऐसा वर्णन जिस रस का वर्णन किया जा रहा है, उसके प्रतिकूल है। किसी भी निबंध में जिस रस का वर्णन चल रहा हो, वह यदि किसी दूसरे प्रसंग के कारण विच्छिन्न हो जाय, तो उसको फिर से दीपन करने से—गए किस्से को दुबारा उठाने से—'**विछिन्न-दीपन**' नामक दोष होता है। कारण कि मध्य में उच्छिन्न हो जाने से सहृदयों को पूर्णरूप से रसास्वाद नहीं होता।

इसी तरह जहाँ जिस रस के **प्रस्तुत करने का अवसर न हो वहाँ उसका प्रस्तुत करना** और जहाँ उसे **विच्छिन्न न करना चाहिए वहाँ विच्छिन्न कर देना**देना दोष है। जैसे—संध्यावंदन, देव-यजन आदि धर्म का वर्णन प्रस्तुत हो, उस समय किसी कामिनी के साथ किसी कामी का प्रेम वर्णन करने में। अथवा जैसे महायुद्ध में मदमत्त शत्रु-वीर उपस्थित हों और मर्मभेदी वचन बोल रहे हों ऐसे समय नायक के संध्या-वंदन आदि का वर्णन करने में। ये दोनों ही बातें अनुचित हैं।

इसी प्रकार जिसका प्रधानतया वर्णन न हो, उस **प्रतिनायक आदि** के नाना प्रकार **के चरित्र** और अनेक प्रकार की **संपदाओं की** नायक के चरित और संपदाओं से, **अधिकता का वर्णन** करना

उचित नहीं; क्योंकि ऐसा करने से नायक के उत्कर्ष का वर्णन, जिसका करना अभीष्ट है, सिद्ध न होगा और उसके कारण होनेवाली रस की पुष्टि भी न होगी।

आप कहेंगे—प्रतिनायक के उत्कर्ष का वर्णन तो—उसको परास्त करनेवाले नायक के उत्कर्ष का अंग है—उस वर्णन से तो नायक का और भी अधिक उत्कर्ष सिद्ध होता है; फिर आप उसका वर्णन क्यों अनुचित मानते हैं? हम कहेंगे कि—जैसा प्रतिनायक का उत्कर्ष, उसे परास्त करनेवाले नायक के उत्कर्ष का अंग हो सके, वैसे उत्कर्ष का वर्णन हमें स्वीकृत है हम तो उसी उत्कर्ष-वर्णन का निषेध कर रहे हैं, जो नायक के उत्कर्ष के विरुद्ध हो। पर यदि आप कहें कि प्रकृत नायक की अपेक्षा प्रतिपक्षी का उत्कर्ष वर्णन किया जायगा, तथापि, नायक तो जिसका उत्कर्ष वर्णन किया गया है उसका मार देनेवाला न है, बस, इतना होने से ही यह वर्णन नायक के उत्कर्ष को बढ़ा देगा; अतः ऐसे वर्णन में कोई दोष नहीं। तो हम कहेंगे कि—यदि यों मानने लगोगे तो जिस तरह किसी बड़े राजा को किसी कंगाल भील ने केवल जहरीला बाण फेंक देने-आदि के कारण मार डाला हो ऐसी दशा में उस महाराज की अपेक्षा उस भील का कुछ भी उत्कर्ष नहीं होता; उसी तरह जिसका वर्णन किया जा रहा है उस नायक का भी कुछ उत्कर्ष नहीं होगा।

इसी तरह यदि रस के **आलंबन और आश्रय का बीच-बीच में अनुसंधान न हो तो दोष है**; क्योंकि रस के अनुभव की धारा आलम्बन और आश्रय के अनुसंधान के ही अधीन है; अतः यदि उनका अनुसंधान न हो तो वह निवृत्त हो जाती है।

इसी प्रकार **जिस वस्तु का वर्णन करने से वर्णन किए जाने-वाले रस को कोई लाभ न हो उसका वर्णन** प्रस्तुत रस को समाप्त कर डालता है, अतः ऐसा वर्णन भी दोष ही है।

अनौचित्य

जो बातें अनुचित हैं, उनका वर्णन रस के भंग का कारण है, अतः उसे तो सर्वथा नहीं आने देना चाहिए। भंग किसे कहते हैं सो भी समझ लीजिए। जिस तरह शरबत आदि किसी तरल वस्तु में करकर (कंकड़) गिर जाने के कारण वह खटकने लगता है, इसी प्रकार रस के अनुभव में खटकने को रस का भंग कहते हैं। और अनुचित होने का अर्थ यह है कि जिन-जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो-जो लोक और शास्त्र से सिद्ध एवं उचित द्रव्य, गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना।

अच्छा, अब जाति-आदि के अनुचित जो बातें हैं, उनके कुछ उदाहरण भी सुनिए। **जाति के विरुद्ध**; जैसे—बैल और गाय आदि के तेज और बल के कार्य पराक्रम आदि और सिंह आदि का सीधापन आदि। **देश के विरुद्ध**; जैसे—स्वर्ग में बुढ़ापा, रोग आदि और पृथ्वी में अमृत-पान आदि। **काल के विरुद्ध**; जैसे ठंड के दिनों में जलविहार आदि और गरमी के दिनों में अग्नि-सेवन आदि। **वर्ण के विरुद्ध**; जैसे—ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना और शूद्र का वेद पढ़ना। **आश्रम के विरुद्ध**; जैसे—ब्रह्मचारी और संन्यासी का तांबूल चबाना और स्त्री को स्वीकार करना। **अवस्था के विरुद्ध**; जैसे बालक और बूढ़े का स्त्री-सेवन और युवा पुरुष का वैराग्य। **स्थिति के विरुद्ध**; जैसे—दरिद्रियों का भाग्यवानों जैसा आचरण और भाग्यवानों का दरिद्रियों जैसा आचरण।

अब **प्रकृतियों** के अनुसार दोषों की बात सुनिए। साहित्य-शास्त्र के अनुसार (नायक की) तीन प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं—कुछ दिव्य (देवतारूप इंद्र आदि), कुछ अदिव्य (मनुष्यरूप दुष्यन्त

आदि) और कुछ दिव्यादिव्य (जो स्वर्गीय होने पर भी अव-ताररूप होने से मनुष्य हैं राम, कृष्ण आदि) होते हैं। इसी तरह उन प्रकृतियों (नायकों) के दूसरे भेद—**धीरोदात्त** जिनमें उत्साह प्रधान होता है, **धीरोद्धत**—जिनमें क्रोध प्रधान होता है. **धीर-ललित**—जिनमें स्त्री-विषयक प्रेम प्रधान होता है और **धीर-शांत**—जिनमें वैराग्य प्रधान होता है, होते हैं। इस तरह पूर्व भेदों से बारह प्रकार के नायक प्रत्येक उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से छत्तीस प्रकार के होते हैं।

इन नायकों में यद्यपि भय के अतिरिक्त अन्य सब रति-आदि स्थायी भाव सर्वत्र समान ही होते हैं, तथापि संभोगरूप रति का, जिस तरह मनुष्यों में वर्णन किया जाता है उसी तरह सब अनुभावों (आलिंगन-चुम्बन आदि) को स्पष्ट करके, उत्तम देवताओं के विषय में वर्णन करना अनुचित है; और संसार को भस्म कर देने में समर्थ एवं रात्रि और दिन को बदल देने - आदि अनेक आश्चर्यों के उत्पन्न कर देनेवाले क्रोध का जिस तरह दिव्य नायकों में वर्णन किया जाता है उसी तरह अदिव्य नायकों में वर्णन करना अनुचित है क्योंकि दिव्य आलंबनों में हम लोगों की पूज्यता की बुद्धि रहने के कारण और आदिव्य आलंबनों में पूर्वोक्त अनुभावों के झूठेपन की प्रतीति होने के कारण रस विकसित नहीं हो सकेगा। आप कहेंगे कि रस-प्रतीति के पहले नायक-नायिका आदि के साधारण हो जाने के कारण उनमें हमारी पूज्यताबुद्धि उत्पन्न ही नहीं होगी; पर यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस स्थान पर सहृदय पुरुषों को रस का उद्बोध प्रमाण-सिद्ध है, उन्हीं नायक-नायिका आदि में साधारण कर लेने की कल्पना की जाती है, अन्यथा अपनी माता के विषय में अपने पिता का प्रेम वर्णन करने पर भी रस की प्रतीति होने लगेगी। पर जयदेव आदि - कवियों ने गीतगोविंद - आदि ग्रन्थों में, सब सहृदयों के माने हुए इस नियम

को, मदोन्मत्त हाथियों की तरह, तोड़ डाला है, सो उनका दृष्टांत देकर आधुनिक कवियों को इस तरह के वर्णन न करने चाहिए।

इसी तरह जो लोग विद्या, अवस्था, वर्ण, आश्रम और तप आदि के कारण उत्कृष्ट हों उन्हें अपने से छोटे लोगों के साथ अत्यन्त सम्मानयुक्त वचनों से व्यवहार नहीं करना चाहिए, और छोटों को बड़ों के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए। उनमें भी 'तत्र भवन्' 'भगवन्' इत्यादि संबोधनों से मुनि, गुरु और देवता आदि का ही संबोधन किया जाना चाहिए, राजादिकों का नहीं। सो भी जो लोग जाति से उत्तम—अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य—हों, वे ही ऐसे संबोधनों का प्रयोग करें, शूद्रादिक नहीं। इसी तरह 'परमेश्वर' आदि संबोधनों से चक्रवर्तियों का ही संबोधन किया जाना चाहिए, मुनि-आदि का नहीं। यही सब सोचकर कहा गया है कि—

अनौचित्यादृते नाऽन्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

अर्थात् रस के भंग का अनौचित्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण नहीं है, और प्रसिद्ध औचित्य का वर्णन करना ही रस की सबसे बड़ी उपनिषत् है। तात्पर्य यह कि जिस तरह उपनिषत् से ही ब्रह्म का प्रतिपादन होता है, उस तरह प्रसिद्ध औचित्य के वर्णन से ही रस का प्रतिपादन होता है, अन्यथा नहीं। बस, इतने में सब समझ लीजिए।

अनौचित्य से रस की पुष्टि

हाँ, जितने अनौचित्य से रस की पुष्टि होती हो उतने अनौचित्य का वर्णन निषिद्ध नहीं है, क्योंकि जो अनुचितता रस के प्रतिकूल हो वही निषेध करने के योग्य है। इसी कारण—

ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयताम्
स्वल्पं जल्प बृहस्पते ! जडमते ! नैषा सभा वज्रिणः।
वीणां संहर नारद ! स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो !
सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः ॥

ब्रह्मन् ! यह वेदपाठ का समय नहीं, चुप-चाप बाहर बैठो; बृहस्पते ! जो कुछ कहना है थोड़े में कहो; हे मूढ ! यह इंद्र की सभा नहीं है कि घन्टों बक-बक करते रहो; नारद ! अपनी वीणा समेट लो; हे तुम्बुरो ! इस समय स्तुतिकथाएँ—खुशामद की बातें—न करो, क्योंकि सीता की माँग (केशों के बीच सिन्दूर भरने की रेखा) रूपी भाले से लंकेश्वर—महाराज रावण—का हृदय घायल हो गया है, वे स्वस्थ नहीं हैं।

इस किसी नाटक के पद्य में, ब्रह्मादिकों के तिरस्कार के लिए बोले गए द्वार-पाल के वचन की अनुचितता दोष नहीं है; क्योंकि उससे रावण के परम ऐश्वर्य की पुष्टि होती है और उसके द्वारा वीररस का आक्षेप होता है, जो कि विप्रलंभ-शृंगार (रसाभास) का अंग हो गया है।

इसी तरह "**अलेले ! सद्दसमुप्पाडिअहरिअकुसग्गंथि-मयाच्छमालापइविचित्तिविस्सम्भिअबालविहवन्दःकअणा बह्मणा**—अरे ओ ! तत्काल उखाड़े हुए हरित कुशों की गाँठों से बनी हुई अक्ष-मालाओं (जपमालाओं) के फिराने से बालविधवाओं के अन्तःकरणों को विश्वस्त करनेवाले ब्राह्मणों !........" इत्यादि विदूषक के वचन में भी अनौचित्य दोष नहीं है; क्योंकि वह हास्य-रस के अनुकूल है।

सो इस तरह यह अनौचित्य समझने की रीति दिखा दी गई है, सुबुद्धि पुरुषों को इसी प्रकार और भी सोच लेना चाहिए।

गुण

इन पूर्वोक्त रसों में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुण वर्णन किए जाते हैं। उनके विषय में—कुछ विद्वानों का कहना है कि—संयोग-शृंगार में जितना माधुर्य होता है, उससे अधिक करुण-रस में होता है और उन दोनों से अधिक होता है विप्रलंभ-शृंगार में; एवम् इन सबसे अधिक शांतरस में होता है, क्योंकि पूर्व-पूर्व रस की अपेक्षा उत्तर-उत्तर रस में चित्त का द्रव विशेष होता है। दूसरे विद्वानों का कथन है कि—संयोग-शृङ्गार से करुण और शांत-रसों में अधिक माधुर्य होता है और इन दोनों से अधिक होता है विप्रलंभ-शृङ्गार में। अन्य विद्वानों का यह कथन है कि—संयोग-शृङ्गार से करुण, विप्रलंभ शृङ्गार और शांत इन तीनों रसों में अधिक होता है, फिर इन तीनों में कुछ भी तारतम्य (कमी-बेशी) नहीं होता--ये सब समान ही मधुर हैं। इनमें से पहले और तीसरे मत में "**करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चाऽतिशयान्वितम्**" यह प्राचीन आचार्यों का सूत्र अनुकूल है; क्योंकि उसके आगे के सूत्र में जो 'क्रमेण' पद है, उसको पहले सूत्र में खींचने और न खींचने से उसकी दो व्याख्याएं हो सकती हैं। रहा बीच का मत, सो उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि करुण और शांतरसों की अपेक्षा विप्रलंभ शृंगार के माधुर्य की अधिकता का यदि सहृदय पुरुषों को अनुभव होता हो तो उसे भी प्रमाण मान लेना चाहिए। वीर, बीभत्स और रौद्र-रसों में पहले की अपेक्षा पिछले में अधिक ओज रहता है; क्योंकि इनमें से प्रत्येक पिछला रस चित्त को अधिक दीप्त करनेवाला है। अद्‌भुत, हास्य और भयानक रसों के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि इनमें माधुर्य और ओज दोनों गुण रहते हैं और दूसरे कहते हैं कि इनमें केवल प्रसाद गुण ही रहता है। हाँ, यह बात सिद्ध है कि प्रसाद-गुण सब रसों और सब रचनाओं में रहता है--वह किसी विशेष रस से ही संबंध रखनेवाला नहीं है।

इन गुणों के द्वारा, क्रम से, द्रुति (पिघलना), दीप्ति (जोश) और विकास (खिल जाना) ये चित्त की वृत्तियाँ उभारी जाती हैं, अर्थात् उन-उन गुणों से युक्त रसों के आस्वादन से ये वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। तात्पर्य यह है कि माधुर्य-गुण से युक्त रस का आस्वादन करने से चित्त पिघल जाता है, ओज-गुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त में जोश आता है और प्रसाद-गुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त विकसित हो जाता है--खिल उठता है।

इस तरह इन गुणों के केवल रस-धर्म (रसों में ही रहनेवाले) सिद्ध होने पर, लोगों का जो '(पद्य की) रचना मधुर है' 'बंध ओजस्वी है' इत्यादि कथन है, वह कल्पित है; जैसे कि किसी मनुष्य के विषय में कहा जाय कि—'इसका आकार शूर है'। तात्पर्य यह कि शूर-वीर होना मनुष्य के आत्मा (अन्तःकरण) का धर्म है, उसके आकार का नहीं; क्योंकि आकार तो जड़ है; सो जिस प्रकार यह कथन कल्पित है, उसी प्रकार पूर्वोक्त व्यवहारों को भी समझिए। यह है मम्मट-भट्ट आदि प्राचीन विद्वानों का मत।

पर पण्डित-राज के विचार भिन्न हैं। वे कहते हैं कि—इन माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को जो केवल 'रस के धर्म' ही बताया जाता है—यह माना जाता है कि ये केवल रस ही में रहते हैं—इसमें क्या प्रमाण है? आप कहेंगे कि—प्रत्यक्ष ही है; क्योंकि पूर्वोक्त रीति के अनुसार हमें उन-उन रसों के आस्वादन से पूर्वोक्त चित्तवृत्तियों की उत्पत्ति का अनुभव होता है; तो हम कहेंगे कि--नहीं। जैसे अग्नि का कार्य दग्ध करना है और उष्ण स्पर्श उसका गुण है, इन दोनो का हमें पृथक्-पृथक् अनुभव होता है--हम जलते नहीं, पर हमें उष्ण स्पर्श का अनुभव हो सकता है; इस तरह रसों के कार्य जो द्रुति-आदि चित्त-वृत्तियाँ हैं, उनके अतिरिक्त रसों में रहनेवाले गुणों का हमें अनुभव नहीं होता। आप कहेंगे--अच्छा, जाने दीजिए; प्रत्यक्ष नहीं होता तो न

सही; पर माधुर्य-आदि गुणों से युक्त ही रस द्रुति-आदि के कारण होते हैं—अर्थात् उन गुणों के साथ रहने पर ही रसों से द्रुति-आदि चित्त-वृत्तियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं, अतः कारणता के अवच्छेदक—अर्थात् कारण में रहनेवाले विशेष धर्म—के रूप में उनका अनुमान किया जा सकता है। सो भी ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्येक रस जब कि बिना गुणों के ही उन वृत्तियों का कारण हो सकता है, तो गुणों की कल्पना करने में गौरव है—अर्थात् केवल रसों को ही उन वृत्तियों का कारण न मानकर उनके साथ गुणों का झमेला लगाने की क्या आवश्यकता है?

आप कहेंगे कि शृङ्गार, करुण और शान्त रसों में से प्रत्येक को द्रुति का कारण मानने की अपेक्षा 'तीनों माधुर्य-गुण-युक्त हैं, इस कारण तीनों से द्रुति उत्पन्न होती है'—यह मानने में लाघव है—अर्थात् द्रुति के तीन कारण मानने की अपेक्षा द्रुति के प्रति 'माधुर्यगुणवान्' एक ही को कारण मान लेना सीधी बात है। तब हम कहेंगे कि मम्मट-आदि कितने ही विद्वानों ने मधुररस से द्रुति, अत्यन्त मधुररस से अत्यंत द्रुति-इत्यादिक जो कार्यों में कमी-वेशी मानी है, उसके कारण माधुर्य-गुण-युक्त होने से रस द्रुति का कारण होता है—यह मानना घेघे (घेघा-एक प्रकार की गाँठ, जो गले-आदि में हो जाया करती है) की तरह व्यर्थ है; क्योंकि पूर्वोक्त हिसाब से अन्ततोगत्वा एक-एक कार्य का एक-एक रस को पृथक्-पृथक् कारण मानना ही पड़ेगा। सो इस तरह प्रत्येक रस को माधुर्य-आदि का पृथक्-पृथक् कारण मानने में ही लाघव है।

दूसरे, एक यह भी बात है कि आत्मा निर्गुण है और रस है आत्मरूप; अतः माधुर्यादिक को रस का गुण मानना बन भी नहीं सकता। पर यदि कहो कि रस के न सही, इनको रसों के उपाधिरूप रति-आदि स्थायी भावों के ही गुण मान लीजिए; सो उनके गुण मानना भी नहीं बन सकता; क्योंकि प्रथम तो इसमें कुछ प्रमाण नहीं,

और दूसरे काव्यप्रकाश-कार आदि की रीति से रति-आदि सुखरूप हैं, अतः वे स्वयं ही गुण हैं, सो उनमें अन्य गुणों का मानना अनुचित भी है।

अब यह शङ्का हो सकती है कि 'शृङ्गार-रस मधुर होता है'—इत्यादि व्यवहार, जो सब विद्वानों में प्रचलित है, कैसे बन सकता है? क्योंकि आपके हिसाब से तो माधुर्य-आदि गुण हैं ही नहीं। उसका समाधान यह है कि—द्रुति-आदि चित्तवृत्तियों की प्रयोजकता (उन्हें पैदा करनेवाला होना), जो रसों में रहती है, उसे ही माधुर्य-आदि समझिए; और उसी के रहने से रसों को मधुर-आदि कहा जाता है। अथवा, यों कहिए कि—द्रुति-आदि चित्तवृत्तियाँ ही जब (किसी रस-आदि के साथ) उभारने का (प्रयोजकता) संबंध रखती हैं, तो उन्हें माधुर्य-आदि कहा जाता है।

इसपर आप कह सकते हैं कि—यदि प्रयोजकता संबंध से रहनेवाली द्रुति-आदि चित्तवृत्तियों का नाम ही माधुर्य-आदि है, तो 'शृङ्गाररस मधुर (माधुर्य गुण से युक्त) होता है' यह व्यवहार न बन सकेगा; क्योंकि द्रुति-आदि चित्तवृत्तियाँ रसों में रहती तो हैं नहीं, उनसे उभार दी जाती हैं, फिर रसों को माधुर्य से युक्त कैसे कहा जा सकता है? हम कहते हैं कि जिस तरह असगंध (एक औषध) उष्णता को उत्पन्न करती है—उसके खाने से शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है, इस कारण लोग कहते हैं कि 'असगंध गरम होती है'; इसी प्रकार शृंगार-आदि माधुर्य-आदि के प्रयोजक (उत्पादक) होते हैं, अतः उनको मधुर कहा जाता है।

पर, संसार के जितने काम हैं, उन सबकी प्रयोजकता अदृष्ट (धर्म, अधर्म) आदि में भी रहा करती है, बिना अदृष्ट आदि के प्रयोजक हुए कोई काम होता ही नहीं, अतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह प्रयोजकता उससे भिन्न है, जो कि शब्द, अर्थ, रस और रचना

में रहती है। बस, यहाँ उसी का ग्रहण करना चाहिए जिससे कि पूर्वोक्त व्यवहार की अदृष्ट आदि में अतिव्याप्ति नहीं हो सके। तात्पर्य यह है कि अदृष्ट आदि में जो प्रयोजकता है, वह दूसरे ढंग की है और शब्द-अर्थ-आदि में जो प्रयोजकता है, वह दूसरे ढंग की; अतः अदृष्ट-आदि में द्रुति-आदि की प्रयोजकता रहने पर भी अदृष्ट आदि को मधुर नहीं कहा जाता।

तब यह सिद्ध हुआ कि इस ढंग का माधुर्य शब्द और अर्थ में भी रहता है, केवल रस में ही नहीं, अतः शब्द और अर्थ के माधुर्य-आदि को कल्पित नहीं कहना चाहिए (जैसा कि प्राचीन विद्वान् कहते हैं)। ये हैं हमारे (पण्डितराज)-जैसे लोगों के विचार।

अत्यन्त प्राचीन आचार्यों का मत

अत्यन्त प्राचीन आचार्यों का तो मत है कि—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः॥

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति और समाधि ये दश शब्दों के गुण और दश ही अर्थों के गुण हैं। नाम दोनों के वे ही हैं, पर लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। अच्छा, क्रमशः सुनिए—

शब्द-गुण

श्लेष

इसलिये कि भिन्न-भिन्न शब्द भी एक ही शब्द-से प्रतीत हों, अत्यंत समीप-समीप में एक जाति के वर्णों की विशेष प्रकार की रचना, जिसे गाढत्व भी कहते हैं, 'श्लेषगुण' कहलाता है।

यही लिखा भी है—'श्लिष्टमस्पष्टशैथिल्यम्' अर्थात् उस रचना को

श्लेषगुण से युक्त कहा जाता है, जिसमें शिथिलता दिखाई न दे। जैसे—

* अनवरतविद्वद्द्रुमद्रोहिदारिद्र्यमाद्यद्द्विपोद्दामदर्पौघविद्रावणप्रौढपञ्चाननः (अथवा, जैसे हिंदी की अमृतध्वनियाँ)।

प्रसाद

रचना में गाढता और शिथिलता का विपरीत मिश्रण—पहले शिथिल और फिर गाढ (चुस्त) रचना का होना—'प्रसाद गुण' कहलाता है; जैसे कि—

†किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी, यस्मिन्, धराखण्डल !
क्रीडाकुण्डलितभ्रु, शोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति।
माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूषासहस्रोत्करै-
र्विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिताः॥

---

* किसी राजा का वर्णन है। कवि कहता है कि—(वह राजा) 'विद्वान्रूपी वृक्षों से सर्वदा द्रोह करनेवाले दारिद्र्यरूपी मस्त हाथी के मर्यादारहित (असीम) गर्व-समूह के नष्ट करने के लिये बड़ा भारी सिंह है'—अर्थात् जिसके समीप जाते ही विद्वानों का वैरी दारिद्र्य खड़ा ही नहीं रह सकता।

† वर्णन पूर्ववत् ही है। हे राजन् ! आपकी वीरता को ये (बेचारे) हम क्या कहें। जिन आपके खेल में भौंहों को गोल और नेत्रों को लाल करके भुजा-मंडल के देखने पर, तत्काल ही, माणिक्यावलि की कांतियों से अत्यंत नतोन्नत सहस्रों आभूषणों के समूहों से विंध्याचल के वनों के गुफारूपी घरों में जो वृक्ष हैं वे चमकने लग गए। अर्थात् खेल में की हुई आपकी पूर्वोक्त चेष्टा को जानकर बेचारे शत्रुलोग ठहर ही न सके, उन्हें भगकर विंध्य-वन के शरण में पहुँच जाना पड़ा।

इस पद्य में 'यस्मिन्' शब्द तक शिथिलता है, फिर 'भ्रु' शब्द तक गाढ़ता है और फिर 'नयने' शब्द तक शिथिलता है—इत्यादि समझ लेना चाहिए।

समता

आरंभ से अंत तक एक ही प्रकार की रीति* (रचना) होने को 'समता' कहते हैं। जैसे कि आगे—'माधुर्य' के उदाहरण में—है। वहाँ उपनागरिका वृत्ति से ही प्रारंभ और उसी से समाप्ति की गई है।

माधुर्य

जिनके आगे संयुक्त अक्षर हों ऐसे ह्रस्वों के अतिरिक्त अन्य अक्षरों से रचना की गई हो और अलग-अलग पद हों—अर्थात् समास तथा संधियाँ अधिक न हों, तो 'माधुर्य' गुण कहलाता है। जैसे

† नितरां परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि।
यदि कोमलता तवाङ्गकानामथ का नाम कथापि पल्लवानाम्॥

---

* रीतियाँ तीन हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला। इन्हीं को वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली भी कहते हैं। पहली रीति माधुर्य को प्रकट करनेवाले वर्णों से युक्त, दूसरी ओज को प्रकट करनेवाले वर्णों से युक्त और तीसरी माधुर्य और ओज दोनों गुणों को प्रकट करनेवाले वर्णों के अतिरिक्त प्रसाद गुणवाले अक्षरों से ही युक्त होती है।

† नायक नायिका से कहता है कि—यदि तेरे अंग कोमल हैं, तो (कहना पड़ेगा कि) कमलों की माला अत्यंत कठोर है और मृणाल तो इस विचार में आने की शक्ति भी नहीं रखते कि—वे तेरे अंगों के समान हैं अथवा नहीं; रहे पल्लव, सो उन बेचारों की तो बात ही क्या करना है—उनका तो तेरे अंगों की तुलना के लिये नाम लेना भी दोष है।

सुकुमारता

कठोर वर्णों के अतिरिक्त वर्णों से रचित होने का नाम 'सुकुमारता' है। जैसे—

*स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-
दोलायितश्रवणकुण्डलवन्दनीया।
आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन काऽपि
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः॥

इसके पूर्वार्ध में सुकुमारता है। उत्तरार्ध में तो माधुर्य और सुकुमारता दोनों हैं।

अर्थव्यक्ति

जहाँ अर्थ और अन्वय तत्काल विदित हो जायँ, वहाँ 'अर्थव्यक्ति' गुण होता है। जैसे

'नितरां परुषा सरोजमाला......' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य-आदि में।

उदारता

कठिन अक्षरों की रचना, जिसे विकटता माना जाता है, 'उदारता' कहलाती है। जैसे—

* नायक अपने मित्र से कहता है कि—पसीने के जल की सघन बूँदों से शोभित कपोल-स्थल पर झूलते हुए कानों के कुण्डलों के कारण प्रशंसनीय और अनिर्वचनीय, मदमाते नेत्रवाली नायिका की, रमणीय अवस्था, स्मरण आते ही, हृदय में आनंद को अंकुरित कर देती है।

*प्रमोदभरतुन्दिलप्रमथदत्ततालावली-
विनोदिनि विनायके डमरुडिण्डिमध्वानिनि ।
ललाटतटविस्फुटन्नवकृपीटयोनिच्छटो
हठोद्धतजटोद्भटो गतपटो नटो नृत्यति ॥

काव्य प्रकाश के टीकाकारों की आलोचना

अच्छा, यहाँ एक विचार और भी सुनिए। 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार व्याख्या करते हैं कि 'पदों के नाचते-से प्रतीत होने का नाम विकटता है' और उदाहरण देते हैं '**स्वचरणविनिष्टैर्नूपुरैर्नर्त्त-कीनाम्**' इत्यादि। इस विषय में हमें यह कहना है कि—उनकी इस तरह की विकटतारूपी उदारता का ओज-गुण में समावेश करनेवाले काव्य-प्रकाशकार उनके अनुकूल कैसे हुए—इनकी और उनकी कैसे एक राय हो गई—इसे वे ही जानें; क्योंकि यहाँ ओज-गुण अधिकता से प्रतीत नहीं होता। हाँ, 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त' इस भाग में ओज का अंश है भी, पर चमत्कारी नहीं; और न सहृदयों को उसमें नाचते-से पदों का ही अनुभव होता है। रहा अन्य अंश, सो उसमें तो माधुर्य ही है।

ओज

जिनके आगे संयोग हो ऐसे ह्रस्वों की अधिकता के रूप में जो गाढता होती है, उसे 'ओज' कहते हैं। जैसे निम्नलिखित पद्य में—

---

* अत्यंत आनंद में फूले हुए प्रमथ लोगों की दी हुई तालियों से विनोदयुक्त विनायक-देव का डमरु डम्-डमा-डम् बज रहा है, और जिनके ललाटस्थल से अग्नि की नवीन छटा फूटकर निकल रही है ऐसे बलात् उछाली हुई जटा के कारण विकट नंगे नट—शिव-नाच रहे हैं।

*साहङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दिर-
क्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गुवीचिवलयश्रीगर्वसर्वङ्कषाः ।
तृष्णाताम्यदमन्दतापसकुलैः सानन्दमालोकिता
भूमीभूषण ! भूषयन्ति भुवनाभोगं भवत्कीर्त्तयः ॥

अथवा, जैसे "अयं पततु निर्दयम्......" इत्यादि पहले (रौद्र-रस में) उदाहरण दिए हुए पद्य में ।

कांति

जिनको चतुर नहीं माना जाता, उन वैदिक आदि लोगों के प्रयोग के योग्य पदों के अतिरिक्त प्रयोग किए जानेवाले पदों में जो अलौकिक शोभारूपी उज्ज्वलता रहती है, उसे 'कांति' कहते हैं। जैसे—"नितरां परुषा सरोजमाला···" इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में ।

समाधि

रचना की गाढता और शिथिलता को क्रम से रखना—अर्थात् पहले गाढ रचना का और पीछे शिथिल रचना का होना—'समाधिगुण' कहलाता है । इन्हीं—गाढता और शिथिलता—को प्रचीन आचार्य आरोह और अवरोह कहते हैं ।

* कवि कहता है कि—हे पृथिवी के अलंकार ! अहंकार-सहित देवों और असुरों की पंक्तियों के हाथों से खींचे हुए, अतएव फिरते हुए, मंदराचल से क्षुब्ध क्षीर-समुद्र की मनोहर तरंगों के मारे घबराए हुए तपस्वियों के समूहों से (तृषा-शांति का साधन समझकर) आनंद-सहित अवलोकन की हुई आपकी कीर्त्तियाँ समग्र-संसार को शोभित कर रही हैं ।

प्रसाद-गुण में और इस गुण में गाढ और शिथिल रचना के क्रम का ही भेद है; क्योंकि प्रसाद-गुण में वे व्युत्क्रम—विपरीत ढंग—से रहती हैं और इसमें क्रम से। तात्पर्य यह कि प्रसाद-गुण में पहले शिथिलता और पीछे गाढता रहती है और समाधिगुण में पहले गाढता और फिर शिथिलता। समाधि का उदाहरण—

***स्वर्गनिर्गतनिरर्गलगङ्गातुङ्गभङ्गुरतरङ्गसखानाम् ।**
केवलामृतमुचां वचनानां यस्य लास्यगृहमास्यसरोजम् ॥

यहाँ पूर्वार्ध में आरोह है और तीसरे चरण में अवरोह। यद्यपि गंगा आदि शब्दों में माधुर्य को अभिव्यक्त करनेवाले वर्ण भी हैं, तथापि वे लंबे समास के बीच में आ गए हैं, अतः माधुर्य उठ नहीं सकता, वह समास के चक्कर में आकर दब गया है। यहाँ, उत्तरार्ध में तो वह भी है।

ये हैं दस शब्दों के गुण।

अर्थगुण

श्लेष

इसी तरह—

चतुरता से काम करना, उसको प्रकट न होने देना, उसको सिद्ध कर देनेवाली युक्ति, इनका एक के बाद दूसरी क्रिया द्वारा एक ही स्थल में इस प्रकार वर्णन करना कि परस्पर का संबंध

---

* कवि कहता है कि—जिस (राजा) का मुख-कमल, स्वर्ग से निकली हुई अतएव बेरोक-टोक चलनेवाली गंगा की ऊँची और लचकती हुई लहरों के मित्र (अर्थात् उनके समान) एवं निरा अमृत बरसानेवाले वचनों की नाट्यशाला है—अर्थात् जहाँ ऐसे वचन सर्वदा नाचते ही रहते हैं।

बना रहे श्लेष कहलाता है। जैसा कि अमरुक कवि का निम्न-लिखित पद्य है—

> दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
> देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
> ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलका प्रेमोल्लसन्मानसा-
> मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति॥

> दोऊ प्यारिन देखि ढिँग-बैठी, इकके, आइ।
> पीछे सोँ, मिस खेल के, मींचे नैन दुराइ॥
> मींचे नैन दुराइ नैंक करि ग्रीवा नीची।
> पुलकित ह्वै, चितमाँहि प्रेम-रस सों अति सींची॥
> हँसत कपोलन माँहि, आन कहँ, धूत सिसक बिन।
> चूमत, इहिं विध करत मुदित सो दोऊ प्यारिन॥

धूर्त्त नायक ने देखा कि दोनों प्रियतमाएँ (जिसे चूमना चाहता है वह और दूसरी) एक ही आसन पर बैठी हुई हैं। दबे पाँव उसने, पीछे से, उनके समीप में आकर, एक (नायिका) के नेत्रों को, खेल करने के मिस से, बन्द कर दिया; अपनी गरदन को थोड़ी-सी टेढ़ी करके, प्रेम के कारण चित्त में प्रसन्न होती हुई और (दूसरी नायिका न जान जाय, इस कारण) भीतर ही भीतर हँसने से जिसके कपोल शोभित हो रहे हैं—ऐसी दूसरी नायिका को, रोमाञ्चित होकर, चूम रहा है।

यहाँ 'एक नायिका को छोड़कर दूसरी नायिका का चूमना' चतुरता से काम करना है; वह प्रकट भी न हुआ (क्योंकि दूसरी नायिका उसे न जान सकी; और उसको सिद्ध कर देने की युक्ति है आँख-मिचोनी का खेल। (इन सब बातों का, पीछे से आना, आँख मींचना और खेल

करना—आदि क्रियाओं के साथ-साथ होते रहना वर्णन किया गया है।)

प्रसाद

जितना प्रयोजन हो, उतने ही पदों का होना यह जो अर्थ की निर्मलता है, इसका नाम है 'प्रसाद-गुण'। जैसे—

कमलानुकारि वदनं किल तस्याः

× × × ×

कमल अनुहरत तासु मुख

उसका मुख कमल की नकल करनेवाला है। यहां (कमल और मुख के समानधर्म का वाचक) 'कान्ति' शब्द स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, अतः उसे छोड़ दिया गया है। और यदि इसी को यों कहा जाय कि—

कमलकान्त्यनुकारि वक्त्रम्

× × × ×

कमल-कान्ति अनुहरत मुख

(उसका) मुख कमल की कान्ति की नकल करनेवाला है तो यह इसका प्रत्युदाहरण हो जायगा क्योंकि यहाँ 'कान्ति' पद भी ले लिया गया है।

समता

जो प्रारम्भ किया गया है, वह टूटने न पावे—ज्यों का त्यों निभ जाये—यह जो विषमता का न होना है, इसी को 'समता-गुण' कहते हैं। जैसे—

हरिः पिता हरिर्माता हरिर्भ्राता हरिः सुहृत्।
हरिं सर्वत्र पश्यामि हरेरन्यन्न भाति मे॥

× × × ×

हरि माता हरि ही पिता हरि भ्राता हरि मित्र।
हरि ते आन न लखहुँ मैं हरि देखों सर्वत्र ॥

एक अनन्य भक्त कह रहा है—(मेरे) हरि ही पिता हैं, हरि ही माता हैं, हरि ही भाई हैं और हरि ही मित्र हैं। मैं सब जगह हरि को ही देखता हूँ, सिवाय हरि के मुझे अन्य किसी का भान नहीं है।

यहाँ यदि (संस्कृत में) 'विष्णुर्भ्राता' और (हिंदी में) 'प्रभु भ्राता' बना दिया जाय, तो जो (हरि शब्द के द्वारा संबंध दिखाना) प्रारंभ किया गया है, वह टूट जायगा और विषमता आ जायगी।

माधुर्य

एक ही बात को भिन्न-भिन्न प्रकार से बार बार कहना—यह जो उक्ति की विचित्रता है, इसे 'माधुर्य-गुण' कहते हैं। जैसे—

विधत्तां निश्शङ्कं निरवधिसमाधिं विधिरहो !
सुखं शेषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः।
कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः
सवित्री कामनां यदि जगति जागर्त्ति भवती ॥

× × × ×

रहैं सदैव समाधि-मग्न विधि चिन्ता तजिके।
हरि हू सोवैं सुखित, शेष-सेजहिं सुठि सजिके ॥
शिव हू सँग लै भूत-प्रेत नित निरतत रहहू।
अथवा नाना कथा शैलतनया ते कहहू ॥
प्रायश्चित्त हु पूर्ण भे, वृथा दान, तप, यजन सब।
सकल-मनोरथ-दैनि, तू जग में जागति जननि ! जब ॥

भक्त गङ्गाजी से कहता है—ब्रह्मा निश्चिंत होकर अनंत काल तक समाधि लगाते रहें, भगवान् विष्णु शेष-शय्या पर सुख से सोते रहें और शिवजी भी सतत नृत्य करते रहें; हमें किसी की कुछ परवा नहीं। हमारे (सब पापों के) प्रायश्चित्त हो चुके और हमें तप, दान तथा यजन किसी की कुछ आवश्यकता नहीं, जब कि हे जगदंबे ! सब मनोरथों को पूर्ण करनेवाली तू जगत् में जग रही है। बता, फिर कोई हमारा क्या कर सकता है।

यहाँ 'ब्रह्मा-आदि से हमें कुछ भी प्रयोजन नहीं है' इस बात को समाधि लगाते रहें' इत्यादि प्रेरणाओं के रूप में, उक्ति की विचित्रता से (अनेक प्रकार से) वर्णन किया गया है, अन्यथा 'अनवीकृतता'-नामक दोष आ जाता।

सुकुमारता

विना अवसर के शोकदायीपन का न होना—यह जो कठोरता का अभाव है, इसे 'सुकुमारता' कहते हैं। जैसे—

त्वरया याति पान्थोऽयं प्रियाविरहकातरः।

× × ×

प्रिया-विरह ते डरत यह पथिक तुरत घर जात।

एक स्त्री दूसरी स्त्री से कह रही है—यह पथिक प्रियतमा के विरह से डरता हुआ जल्दी से जा रहा है।

यहीं यदि 'प्रियामरणकातरः' अथवा 'प्रिया मरन ते डरत यह' कर दिया जाय, तो 'मरण' शब्द के शोक-दायक होने से कठोरता आ जायगी। यह कठोरता (नवीन विद्वानों के मत से) 'अश्लीलता'-नामक दोष के अंतर्गत है।

अर्थव्यक्ति

जिस वस्तु का वर्णन करना हो, उसके असाधारण कार्य और रूप का वर्णन करना 'अर्थ-व्यक्ति' गुण कहलाता है। जैसे—

गुरुमध्ये कमलाक्षी कमलाक्षेण प्रहर्तुकामं माम् ।
रदयन्त्रितरसनाग्रं तरलितनयनं निवारयाञ्चक्रे ॥

× × ×

कमल-बीज-सन हनत म्वहिँ कमल-नैनि गुरु-माँहि ।
दाँतन जीभ दबाइ, करि तरल नैन, किय नाँहि ॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—सास-ननद आदि गुरुजनों के बीच में बैठी कमलनयनी (नायिका) ने जब देखा कि मैं कमल के मनके (बीज) से उसके ऊपर प्रहार करना चाहता हूँ, तो उसने दाँतों से जीभ के अग्र-भाग को दबाकर एवं नेत्रों को चंचल बनाकर मना कर दिया—कह दिया कि ऐसा न करिएगा, अन्यथा अनर्थ हो जायगा ।

इसी को आधुनिक विद्वान् 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहते हैं ।

उदारता

"चुम्बनं देहि मे भार्ये ! कामचण्डालतृप्तये ।"

× × ×

चूमन दै म्वहिं मेहरिया ! करु तिरपत स्मर-डोम ।

"अरी मेहरिया ! तू कामरूपी चंडाल को तृप्त करने के लिये मुझे चूम लेने दे" इत्यादि ग्रामीण बातों का हटा देना 'उदारता' कहलाता है ।

ओज

'ओज-गुण' पाँच प्रकार का है—

१—एक पद के अर्थ का अनेक पदों में वर्णन करना,
२—अनेक पदों का अर्थ का एक ही पद में वर्णन कर देना,
३—एक वाक्य के अर्थ का अनेक वाक्यों में वर्णन करना,

४—अनेक वाक्यों के अर्थ का एक वाक्य में वर्णन; और

५--विशेषणों का किसी प्रयोजन से युक्त होना—निरर्थक न होना।

जैसा कि लिखा है—

पदार्थे वाक्यरचना वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥

अर्थात् एक पद के अर्थ में वाक्य की रचना, वाक्य के अर्थ में एक पद का वर्णन करना एवं किसी भी बात का विस्तार और संक्षेप करना, यह चार प्रकार की प्रौढ़ि—अर्थात् वर्णन करने की विचित्रता और विशेषणों का किसी अभिप्राय से युक्त होना—इस तरह ओज-गुण पाँच प्रकार का होता है। जैसे—

सरसिजवनबन्धुश्रीसमारम्भकाले
रजनिरमणराज्ये नाशमाशु प्रयाति।
परमपुरुषवक्त्रादुद्गतानां नराणां
मधु-मधुरगिरां च प्रादुरासीद्विनोदः॥

× × × ×

जलज-विपिन के सुजन केरि छवि-जनम-समय में।
रजनि-रमन के रम्य राज्य के होत विलय में॥
जनमे हैं जे परम-पुरुष के वदन-कमल-सन।
करत वहै सुविनोद मनुज अरु मधुर-वचन-गन॥

जिस समय कमल-वन के बांधव भगवान् भुवन-भास्कर की शोभा का आरंभ हो रहा था और निशा-नाथ चंद्रदेव का राज्य शीघ्रता से नष्ट हो रहा था, उस समय परम पुरुष (जगदीश्वर) के मुख से उत्पन्न मनुष्यों (अर्थात् ब्राह्मणों) का और मधु के सदृश मधुर वचनों

(अर्थात् श्रुतियों) का विनोद प्रकट हुआ। इसका सारांश केवल इतना है कि 'प्रातःकाल में ब्राह्मणों ने वेद-पाठ करना प्रारंभ किया'।

(यहाँ 'प्रातःकाल में' इस एक पद का अर्थ वर्णन करने के लिये पूर्वार्ध के दो चरण बनाए गए हैं और 'ब्राह्मणों' तथा 'वेदों' इन एक-एक पदों के लिये आगे का डेढ़ चरण। अतः यह एक पद के अर्थ में अनेक पदों के वर्णन का उदाहरण हुआ।)

अब अनेक पदों के अर्थ का वर्णन करने के लिये एक पद के वर्णन का उदाहरण सुनिए—

खण्डितानेत्रकञ्जालिमञ्जुरञ्जनपण्डिताः ।
मण्डिताखिलदिक्प्रान्ताश्चण्डांशोर्भान्ति भानवः ॥

× × × ×

खण्डित - वनिता - नैन-नलिन रँगिवे में पंडित।
चंड-किरन के किरन करत दिग-भागन मंडित।

खंडिता स्त्रियों के नेत्र-कमलों की पंक्तियों को सुंदरतया रँगने में चतुर सूर्यदेव की किरणें संपूर्ण दिग्भागों को भूषित करती हुई शोभित हो रही हैं।

यहाँ **'यस्याः पराङ्गनागेहात् पतिः प्रातर्गृहेऽञ्चति**। अर्थात् जिसका पति दूसरी स्त्री के घर से प्रातःकाल अपने घर आवे' इस वाक्यार्थ के स्थान में केवल 'खंडिता' पद वर्णन किया गया है।

अच्छा, अब एक वाक्य के अर्थ के लिये अनेक वाक्यों का वर्णन भी सुनिए—

अयाचितः सुखं दत्ते याचितश्च न यच्छति ।
सर्वस्वं चाऽपि हरते विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम् ॥

× × × ×

बिन माँगे सुख देत अरु माँगे कछु हू न देत।
उच्छृंखल विधि नरन को सरबस हू हरि लेत॥

कोई बेचारा भाग्य का मारा विधाता को कोसता है। कहता है—उच्छृंखल विधाता बिना माँगे सुख देता है और माँगने पर नहीं देता, प्रत्युत उनका सर्वस्व भी लूट लेता है।

यहाँ 'सब कुछ भाग्य के अधीन है' इस एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्यों की रचना की गई है, अतः यह विस्तार है, जिसे कि प्राचीन आचार्य 'व्यास' नाम से पुकारते हैं।

तपस्यतो मुनेर्वक्त्राद्वेदार्थमधिगत्य सः।
वासुदेवनिविष्टात्मा विवेश परमं पदम्॥

× × × ×

तप करते मुनि-बदन ते बेद-अरथ वह पाइ।
वासुदेव में मेलि मन गयो परम पद जाइ॥

कोई मनुष्य किसी भक्त के विषय में कहता है कि—वह तपस्या करते हुए मुनि के मुख से वेद का अर्थ प्राप्त करके वासुदेव में चित्त लगाकर मोक्ष को प्राप्त हो गया।

यहाँ (१) मुनि तप कर रहे हैं, (२) उनके मुँह से उसने वेद का अर्थ प्राप्त किया, (३) उसके बाद परब्रह्म वासुदेव में चित्त प्रविष्ट किया और (४) तदनंतर मोक्ष को प्राप्त हो गया, इतने वाक्यों के अर्थों का समूह शतृ-प्रत्यय (तपस्यतः), क्त्वा प्रत्यय (अधिगत्य) और बहुव्रीहि समास (वासुदेवनिविष्टात्मा) के द्वारा अनुवाद्यरूप से और तिङन्त (क्रिया—विवेश) के द्वारा विधेय रूप से लिखकर एक वाक्यार्थ के रूप में कर दिया गया है।

'साभिप्रायता' का अर्थ यह है कि जो वर्णन चल रहा है, उसको पुष्ट करना अर्थात् सहायता पहुँचाना। जैसे—

गणिकाजामिलमुख्यानवता भवता बताऽहमपि ।
सीदन् भवमरुगर्त्ते करुणामूर्त्ते ! न सर्वथोपेक्ष्यः ॥

× × × ×

गनिका-अजामेल-आदिक की रक्षा कीन्हीं तुमने नाथ ।
भव-मरु-खाड़े में सीदत मम करुना-मूरति ! तजो न हाथ ॥

हे करुणामूर्त्ते ! गणिका (पिङ्गला) और अजामिल आदि जिनमें मुख्य हैं, उन (बड़े-बड़े पापियों) की रक्षा करनेवाले आप संसाररूपी मरु-स्थल के (निर्जल) गड्ढे में दुःख पाता हुआ जो मैं हूँ उसकी सर्वथा उपेक्षा न करिएगा—मुझे बिलकुल ही न भूल जाइएगा ।

यहाँ 'उपेक्षा न करिएगा' इस बात को पुष्ट करने के लिये भगवान् को 'करुणामूर्त्ति' विशेषण दिया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि—आप परम दयालु हैं, आप मेरी उपेक्षा करें यह हो ही नहीं सकता । पर, 'यदि पापी समझकर करुणा न करें तो यह भी आपके स्वभाव के विरुद्ध है' इस बात को सिद्ध करने के लिये गणिका-आदि का दृष्टांत दिया गया है और अपना विशेषण 'दुःख पाता हुआ' लिखा है । सो यहाँ एक भी पद निरर्थक नहीं है—सब में कुछ न कुछ अभिप्राय है ।

कांति

रस के स्पष्टतया प्रतीत होने को 'कांति' कहते हैं । इसके उदाहरण रस-प्रकरण में वर्णन कर चुके हैं और आगे भी वर्णन किये जायँगे ।

समाधि

'जिस बात का मैं वर्णन कर रहा हूँ, वह पहले (किसी के द्वारा) वर्णन नहीं की गई है, अथवा पूर्वोक्त की छाया ही है' यह जो कवि का सोचना है, इसे 'समाधि' कहते हैं ।

आप कहेंगे कि 'सोचना' एक प्रकार का ज्ञान है, और ज्ञान आत्मा का गुण है, अर्थ का गुण तो है नहीं; फिर इसे आपने अर्थ-गुणों में कैसे गिन लिया ? इसका समाधान यह है कि ज्ञान भी तो किसी न किसी अर्थ के विषय में ही होता है, अतः जिस तरह वह समवाय-संबंध से आत्मा में रहता है, वैसे ही विषयता-संबंध से अर्थ में भी रहता है, सो उसे अर्थ-गुण मानने में कोई बाधा नहीं। उनमें से पहला—अर्थात् पहले वर्णन न की गई (अभिनव) बात का वर्णन करना, जैसे—

* **तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी** इत्यादि में।

और दूसरा—पहले वर्णन की गई बातों की छाया तो प्रायः सर्वत्र ही है।

यह है अत्यंत प्राचीन आचार्यों का सिद्धांत।

अन्य आचार्यों का मत

गुण २० न मानकर ३ ही मानने चाहिएँ

अन्य विद्वान् तो उपर्युक्त गुणों में से कुछ को पूर्वोक्त—माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक—तीन गुणों से एवं आगे वर्णन किए जाने वाले दोषों के अभावों और अलंकारों से निरर्थक सिद्ध करते हैं, तथा कुछ को विचित्रतामात्र और कहीं कहीं दोषरूप मानते हैं, अतः उतने स्वीकार नहीं करते। अर्थात् वे २० न मानकर ३ ही गुण मानते हैं। अच्छा, उनके विचार भी सुनिए। वे कहते हैं—

शब्द-गुणों में से श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि इन गुणों का ओज को ध्वनित करनेवाली रचना में अंतर्भाव हो जाता है। यदि आप कहें कि—श्लेष और उदारता का जो कि सब अंशों में गाढरचनारूप होते हैं, अंतर्भाव ओज को ध्वनित करनेवाली रचना में कर लीजिए;

---

* इसका अर्थ पृ० ४४ पर देखो।

पर प्रसाद और समाधि तो गाढ और शिथिल दोनों प्रकार की रच-नाओं के मिश्रणरूप होते हैं, अतः एक (गाढ) अंश को ओज का व्यंजक मान लेने पर भी दूसरे (शिथिल) अंश का अंतर्भाव किसमें होगा ? तो हम अनायास कह सकते हैं कि—माधुर्य अथवा प्रसाद की अभिव्यंजक रचना में।

अच्छा, चार की गति तो हुई; अब आपके माधुर्य को लीजिए, वह तो हमारे माधुर्य की अभिव्यंजक रचना ह-ई-है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीनों के मत में व्यंजकों (रचना-आदि) में व्यंग्यों (माधुर्य-आदि) का प्रयोग लाक्षणिक है। अतएव ओज गुण का भी ओजोव्यंजक रचना में अंतर्भाव समझ लेना चाहिए।

अब 'समता' की चर्चा करिए। सो उसका सर्वत्र होना तो अनुचित ही है; क्योंकि सभी विद्वान्, जिस विषय का प्रतिपादन किया जा रहा है उसकी उद्भटता और अनुद्भटता के अनुसार, एक ही पद्य में, भिन्न-भिन्न रीतियों के प्रयोग को स्वीकार करते हैं; जैसे—

निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव-
न्मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम्।
काव्यं तर्हि सखे! सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां
नो चेद् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद् बहिर्मा कृथाः॥

× × × ×

अति पकिबे ते द्रवत दाख अरु मधु को, पूरो।
परम-माधुरी-गरब करत जे बढ़ि - बढ़ि दूरो॥
तिन बानिन निरमान माँहि जो निपुन अहै तू।
तो कविता कहु, परम मुदित है, मो-समुहै तू॥

मतरु कर्ण-कटु काव्य की कथा व्यर्थ, मदमत्त बनि ।
निज दुष्ट कर्म लौं हृदय ते बाहिर हू करु मूढ ! जनि ॥

यदि तू अत्यंत पकने के कारण झरती हुई दाख (अंगूर) और शहद की मधुरता के मद को हटा देने में तत्पर वचनों की रचना का पूर्ण मर्मज्ञ है तो हे सखे ! तू अपनी कविता को मेरे-जैसे लोगों के सामने आनंद से कह । पर यदि ऐसा न कर सकता हो तो जिस तरह अपने किए हुए पाप को किसी के सामने प्रकट नहीं किया जाता, इसी तरह उसे अपने हृदय के बाहर न कर—मन की मन ही में रख ले—जबान पर मत आने दे ।

यहाँ अलौकिक काव्य के निर्माण का वर्णन करने के लिये बनाए हुए तीन चरणों में जिस मार्ग का अवलंबन किया गया है, उसका हीन-काव्य के प्रतिपादन करने के लिये बनाए हुए चौथे चरण में नहीं किया गया । सो यहाँ विषमता ही गुण है, और यदि समता—अर्थात् एक ही रीति—कर दी जाय, तो उलटा दोष हो जायगा ।

अच्छा, अब रही कांति और सुकुमारता; सो वे ग्राम्यत्व और कष्टत्व नामक जो दोष हैं उनका त्याग देना मात्र हैं; अतः वे भी गतार्थ हैं । फिर केवल 'अर्थ-व्यक्ति' रह जाती है, सो प्रसाद-गुण के मान लेने पर उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती ।

यह तो हुई शब्द-गुणों की बात; अब अर्थ-गुणों को लीजिए । उनमें से श्लेष और ओज-गुण के पहले चार भेद तो केवल विचित्रता मात्र हैं, उन्हें गुणों में गिनना उचित नहीं; अन्यथा प्रत्येक श्लोक में जो अर्थों की विलक्षण-विलक्षण विचित्रताएँ रहती हैं वे सब भी गुणों के अंतर्गत होने लगेंगी-और आप उन्हें गिनते-गिनते पागल हो जायँगे ।

अच्छा, अब आगे चलिए; अधिक पद न होने का नाम 'प्रसाद' है, उक्ति की विचित्रता का नाम 'माधुर्य', कठोरता न होने का नाम

'सुकुमारता', ग्राम्यता न होने का नाम 'उदारता' और विषमता न होने का नाम 'समता' है, एवं पदों का साभिप्राय, होना जो ओज-गुण का पाँचवाँ भेद है, ये सब क्रमशः अधिकपदत्व, अनवीकृतत्व, अमंगलरूप अश्लीलता, ग्राम्यता, भग्न-प्रक्रमता और अपुष्टार्थतारूपी दोषों के हटा देने से गतार्थ हो जाते हैं। अर्थात् ये दोषों के अभावमात्र हैं, गुण नहीं।

अब जो स्वभाव के स्पष्ट वर्णन करने का नाम अर्थव्यक्ति कहा गया है उसकी स्वभावोक्ति अलंकार के स्वीकार कर लेनेसे और जो रस के स्पष्टतया प्रतीत होने का नाम कांति है उसकी रसध्वनि तथा रसवान् अलंकारों के स्वीकार कर लेने से कोई आवश्यता नहीं रहती।

अब केवल समाधिगुण बच रहता है, वह कवि के अंतःकरण में रहनेवाली ज्ञानरूप वस्तु है, सो वह कविता का कारण है, गुण नहीं। और यदि ऐसा न मानो तो हम आप से कहेंगे कि प्रतिभा को भी काव्य का गुण क्यों नहीं मानते; क्योंकि आलोचना और प्रतिभा दोनों ही एक प्रकार के ज्ञान हैं, फिर जब प्रतिभा को काव्य का कारण माना जाता है तो आलोचना को गुण मानने में क्या प्रमाण है? अतः अंततोगत्वा तीन ही गुण सिद्ध होते हैं, बीस नहीं। यह है 'मम्मट-भट्ट'-आदि का कथन।

माधुर्य-व्यञ्जक रचना

उनमें से माधुर्य गुण को ध्वनित करनेवाली रचना निम्नलिखित प्रकार की होती है। वह टवर्ग के अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्रथम और तृतीय अक्षरों, तथा श-ष-स एवं य-र-ल-व से बनी हुई; समीप-समीप में प्रयोग किए हुए अनुस्वारों, परसवर्णों और केवल अनुनासिकों से शोभित; जिनका आगे वर्णन किया जायगा उन—साधारणतया और विशेषतया—निषेध किए हुए संयोगादिकों के स्पर्श से शून्य और समास के प्रयोगों से रहित अथवा समासके कोमल प्रयोगों से युक्त होनी

चाहिए। वर्गों के दूसरे और चौथे अक्षर—ख-घ आदि—यदि दूर-दूर आए हों, तो वे इस गुण के न अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल। हाँ, यदि उनका समीप-समीप में प्रयोग हो और उनसे अनुप्रास बन जाते हों तो प्रतिकूल भी हो जाते हैं। कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि टवर्ग से भिन्न वर्गों के पाँचों अक्षर समान रूप से ही माधुर्य को ध्वनित करनेवाले होते हैं*।

अच्छा, अब माधुर्य का उदाहरण सुनिए—

तान्तमाल-तरु-कान्तिलङ्घिनीं किङ्करीकृतनवाम्बुदत्विषम्।
स्वान्त! मे कलय शान्तये चिरं नैचिकी-नयन-चुम्बितां श्रियम्॥

× × × ×

जो किङ्कर किय नव-अम्बुद-दुति, उलँघिय जो तमाल-तरु-कान्ति।
धेनु-नैन-चुम्बित तेहि शोभहि, मम मन, सुमिरु चहसि जो शान्ति॥

एक भक्त अपने हृदय से कहता है—हे मेरे हृदय, तू, शान्ति प्राप्त करने के लिये, जिसने तमाल-वृक्ष की कांति का उल्लंघन किया है—उस बेचारी को पैरों के नीचे से निकाल दिया है, और जिसने नवीन मेघों की कांति को अपना आज्ञाकारी चाकर बना लिया है, उस, उत्तमोत्तम गायों के नेत्रों से चुंबन की हुई—उनके द्वारा इकटक देखी गई (भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की) शोभा को स्वीकारकर—सदा उसी का स्मरण करता रह।

अथवा; जैसे—

स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-
रन्तःस्मितालसविलोकनवन्दनीया।

---

* पर उन लोगों का ध्यान द्वितीय और चतुर्थ वर्णों के अनुप्रासों की तरफ नहीं गया ऐसा प्रतीत होता है।—अनुवादक।

आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन काऽपि
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥

× × × ×

सेद-सलिल के सघन कनन शोभित कपोल-वर
अन्तरगत मृदु हँसन, अलस चितवन ते मनहर ॥
अरुन-नयनि की वहै अकथ थिति अतिसै सुन्दर ।
सुमिरत होत अनंद केर अंकुर उर अंतर ॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—जिसका कपोलस्थल पसीने के जल की सघन बूँदों से सुशोभित है और जो भीतरी मंद हास तथा आलस्ययुक्त चितवन से प्रशंसनीय है, वह मदमाते नेत्रवाली नायिका की अनिर्वचनीय रमणीय अवस्था स्मरण करते ही हृदय में आनंद को अंकुरित कर देती है ।

यहाँ पहले पद्य में, अतिशयोक्ति से अलंकृत, जो भगवान् के ध्यान की उत्सुकता है उसका; अथवा भगवान् के विषय में जो प्रेम है उसका; अंततोगत्वा शांत-रस में ही पर्यवसान होता है; अतः यह रचना शांत-रस के माधुर्य को अभिव्यक्त करती है और दूसरे पद्य में स्मरण के सहारे उपस्थित (स्मृत) शृंगार-रस के माधुर्य को अभिव्यक्त करती है ।

ओजो-व्यंजक रचना

ओज-गुण का बंध, समीप-समीप में प्रयोग किए हुए वर्गों के दूसरे और चौथे अर्थात् ख-घ आदि-अक्षरों, टवर्ग के अक्षरों और जिनमें जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग और सकार आदि अधिक हों—ऐसे अक्षरों से बना हुआ, वर्गों के आदि के चार अक्षरों अथवा रेफ के द्वारा बने हुए संयोग जिनके आगे हों ऐसे और समीप-समीप

में प्रयोग किए हुए ह्रस्व स्वरों से युक्त और बड़े-बड़े समासवाला होता है। इस बंध के अंदर आए वर्गों के पहले और तीसरे—अर्थात् क-ग आदि अक्षर यदि संयुक्त न हों, तो न अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल; और यदि संयुक्त हों तो अनुकूल हो जाते हैं। इसी तरह अनुस्वार और परसवर्णों को भी समझिए—वे भी न अनुकूल हैं, न प्रतिकूल।

इसके उदाहरण हैं 'अयं पततु निर्दयम्...'आदि; जो कि पहले रौद्र-रस आदि के उदाहरणों में लिखे जा चुके हैं। (हिंदी में महाकवि भूषण की रचना प्रायः इसी गुण का उदाहरण है)

प्रसादव्यञ्जक रचना

जिसके सुनते ही वाक्य का अर्थ हाथ के बेर की तरह दीखने लगे—उसके समझने के लिए किंचित् भी प्रयास न करना पड़े—वह रचना प्रसाद-गुण को अभिव्यक्त करनेवाली होती है। यह गुण सब—रस, भाव आदि—में रहता है, किसी विशेष प्रकार के रस अथवा भाव में ही रहता हो, सो नहीं। प्रायः मेरे (पंडितराज के) सभी पद्य इस गुण के उदाहरण हो सकते हैं; तथापि जैसे—

चिन्तामीलितमानसो मनसिजः सख्यो विहीनप्रभाः
प्राणेशः प्रणयाकुलः पुनरसावास्तां समस्ता कथा।
एतत् त्वां विनिवेदयामि मम चेदुक्तिं हितां मन्यसे
मुग्धे! मा कुरु मानमाननमिदं राकापतिर्जेष्यति॥

× × × ×

मुकुलित किय मन मदन सतत चिन्ता उपजाके।
सखियाँ निष्प्रभ भईं, प्रानपति विनवत थाके॥

रहै यहै सब, करौं निवेदन इतनो तोसों।
राखत तू जो सखी ! हितू को नातो मोसों॥
भोरी ! मान न करु, नतरु मान-मलिन यह मुख-नलिन।
हारि जाइगो सरद के राकापति सों जोति बिन॥

मानिनी नायिका से सखी कहती है कि—कामदेव का चित्त चिन्ता से बिलकुल घिर गया है—उसमें सोचने की शक्ति ही नहीं रही है, सखियाँ (सोच के मारे) कांति-हीन हो गई हैं और प्राणनाथ प्रेम के कारण अधीर हो उठे हैं—अब तो हठ छोड़ दे। अच्छा, यह भी रहने दे; पर यदि तू मेरे कथन को भला समझती है—जैसा कि सदा से समझती आई है—तो तुझसे इतना निवेदन कर देती हूँ कि मुग्धे ! तू मान न कर; अन्यथा इस सुंदर मुखड़े को पूर्ण चंद्रमा जीत जायगा—रोष से मुख में मलिनता आ जाने के कारण उस कलङ्की की इससे तुलना हो जायगी जो पहले कभी न थी। हाय रे ! भोलापन !! क्या अब भी प्रसन्न होना नहीं चाहती !

यह पूरा पद्य प्रसाद-गुण को अभिव्यक्त करता है, और किसी-किसी अंश में माधुर्य तथा ओज को भी; क्योंकि **'चिन्तामीलितमानसो मनसिजः'** और **'मा कुरु मानमाननमिदम्'** इन भागों से माधुर्य की, और **'सख्यो विहीनप्रभाः……'** आदि भागों से ओज की भी अभिव्यक्ति होती है।

आप शंका कर सकते हैं कि यहाँ शृंगाररस में रहनेवाले माधुर्य को अभिव्यक्त करने के लिये उसके अनुकूल रचना भले ही रहे; पर ओज का यहाँ प्रसग ही क्या है कि उसके अनुकूल अक्षरों का विन्यास किया गया। इसका समाधान यह है कि—सखी ने नायिका का मान शांत करने के लिये अनेक यत्न किए और उसके भले की बात कह रही है, तथापि वह प्रसन्न न हुई; अतः उसे क्रोध आ गया। सो उसको

क्रोधयुक्तता को अभिव्यक्त करने के लिये वह विन्यास भी सफल है। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, (यह सिद्धांत है कि) जहाँ ओजस्वी रस और अमर्षादि भावों के वर्णन की इच्छा न हो वहाँ भी यदि बोलनेवाले का क्रोधीपन प्रसिद्ध हो, अथवा जिस अर्थ का वर्णन किया जाता हो वह अत्यंत क्रूर हो, यद्वा जो निबंध लिखा जा रहा हो वह आख्यायिका-आदि हो तो कठिन वर्णों की रचना होनी चाहिए।

अच्छा, छोड़िए इस सब पंचायती को, आप केवल प्रसाद गुण का ही उदाहरण सुनिए—

वाचा निर्मलया सुधामधुरया यां नाथ ! शिक्षामदा-
स्तां स्वप्नेऽपि न संस्पृशाम्यहमहंभावावृतो निस्त्रपः।
इत्यागःशतशालिनं पुनरपि स्वीयेषु मां बिभ्रत-
स्त्वत्तो नाऽस्ति दयानिधिर्यदुपते मत्तो न मत्तः परः॥

× × × ×

सुधा-मधुर निरमल बानी ते जो तुम शिक्षा दीन्हीं नाथ !
तेहिँ सपनेहू छुवत न निरलज हौं, परि अहङ्कार के हाथ ॥
इहिं विधि शत-शत दोष-युक्त म्वहिँ पुनि पुनि देत निजन में स्थान।
तुम-सम करुनानिधि ना यदुपति, मो सम मदमातो ना आन ॥

हे नाथ ! आपने अमृत के समान मधुर और निर्मल वाणी से, जो शिक्षा दी उसे, अहङ्कार से आच्छादित निर्लज्ज मैं, सपने में भी, नहीं छूता। हे यदुपते ! इस तरह सैकड़ों अपराधों से युक्त मुझे फिर भी आत्मीयों में भरती करनेवाले आपसे अधिक कोई दयानिधि नहीं है, और मुझसे अधिक मदमत्त नहीं।

यहाँ केवल प्रसाद-गुण है, उसके साथ अन्य किसी गुण का मिश्रण नहीं।

रचना के दोष

अब जिस रचना में पूर्वोक्त गुणों को ध्वनित करने की शक्ति रहती है, उसके परिचय के लिये, साधारणतया—अर्थात् जिनको सब काव्यों में छोड़ना चाहिए और विशेषतया अर्थात् जिनको किसी रस में छोड़ना चाहिए और किसी में नहीं, वर्जनीयों का कुछ वर्णन किया जाता है—

साधारण दोष

एक अक्षर का साथ ही साथ फिर से प्रयोग, यदि एक पद में और एक बार हो तो, सुनने में कुछ अनुचित प्रतीत होता है; जैसे—'ककुभसुरभिः', 'विततगात्रः' और 'पललमिवाभाति' इत्यादि में बड़े अक्षरों का। यदि वही बार-बार हो तो अधिक अनुचित प्रतीत होता है; जैसे—'विततततरस्तरुरेष भाति भूमौ'। इसी तरह भिन्न-भिन्न पदों में आने पर भी अधिक अनुचित प्रतीत होता है; जैसे—'शुककरोषि कंथ विजने रुचिम्' इत्यादि में। और यदि भिन्न - भिन्न पदों में हो और बार-बार हो तो, और भी अधिक अनुचित होता है; जैसे 'पिक ककुभो मुखरीकुरु प्रकामम्'।

इसी तरह पहले जिस वर्ग का अक्षर आया है, उसके साथ ही साथ उसी वर्ग के अन्य अक्षर का प्रयोग, यदि एक-पद में और एक बार हो तो, कानों को कुछ अनुचित लगता है; जैसे—'वितथरते मनोरथः' यहाँ त और थ का। पर यदि बार-बार हो तो अधिक अश्रव्य होता है; जैसे—'वितथतरं वचनं तव प्रतीमः' यहाँ 'त-थ-त' का प्रयोग। इसी तरह यदि भिन्न-भिन्न पदों में हो, तब भी अधिक अश्रव्य होता है; जैसे—'अथ तस्य वचः श्रुत्वा' इत्यादि में। और यदि भिन्न-भिन्न पदों में और बार-बार हो तो और भी अधिक अश्रव्य होता है; जैसे—'अथ तथा कुरु येन सुखं लभे' यहाँ 'थ-त-थ' का प्रयोग।

यह एक वर्ग के अक्षरों का सह-प्रयोग पहले के बाद दूसरे का और तीसरे के बाद चौथे का हो तभी अनुचित होता है। पहले और तीसरे एवं दूसरे और तीसरे का सह-प्रयोग तो उतना अश्रव्य नहीं होता, किंतु बहुत कम होता है, जिसे कि रचना के मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं। यह अर्थात् पहले के बाद तीसरे का और दूसरे के बाद तीसरे का प्रयोग भी यदि बार - बार हुआ तो उसे साधारण मनुष्य भी समझ सकते हैं; जैसे—'खगकलानिधिरेष विजृम्भते' और 'इति वदति दिवानिशं धन्यः' इत्यादि में। पंचम वर्णों अर्थात् ङकारादिकों का तो मधुर होने के कारण अपने वर्ग के अक्षरों के पहले अथवा पीछे आना बुरा नहीं प्रतीत होता; जैसे—'तनुते तनुतां तनौ' इत्यादि में। परंतु एक ही अक्षर का साथ ही साथ बार-बार प्रयोग तो उनका भी अश्रव्य होता है; जैसे—'मम महती मनसि व्यथाऽऽविरासीत्' यहाँ।

ये अश्रव्यताएँ गुरु अक्षर के बीच में आ जाने से हट जाती हैं; जैसे—'संजायतां कथङ्कारं काके केकाकलस्वनः' इत्यादि में। अथवा, जैसे—

*यथा यथा तामरसायतेक्षणा
मया सरागं नितरां निषेविता।
तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो
विकृष्य मामेकरसञ्चकार सा॥

* नायक अपने मित्र से कहता है कि—मैंने कमल-से विशाल नेत्रवाली (उस नायिका) को ज्यों-ज्यों प्रेमसहित अत्यन्त सेवन किया त्यों-त्यों उसने मुझे, तत्त्व-कथा (ब्रह्मविचार) की तरह, सब तरफ से खींचकर, एक-रस कर लिया—अर्थात् जैसे ब्रह्मज्ञानी को सिवाय ब्रह्म के और कुछ भी नहीं सूझता वैसे मुझे सिवाय उसके और कुछ भी नहीं सूझने लगा।

गुरु-अक्षर दो प्रकार के होते हैं—एक दीर्घ, और दूसरे वे जिनके आगे संयोग होता है। उनमें से, पूर्वोक्त उदाहरणों में दीर्घों के बीच में आने के कारण अश्रव्यता मिट गई—यह दिखाया गया है। अब जिन अक्षरों के आगे संयोग होता है, उनके बीच में आने से अश्रव्यता की निवृत्ति का उदाहरण सुनिए—

* सदा जयानुषङ्गाणामङ्गानां सङ्गरस्थलम् ।
रङ्गाङ्गणमिवाभाति तत्तत्तुरगताण्डवैः ॥

यहाँ 'तत्तत्तु' में संयुक्त तकारों के द्वारा अश्रव्यता निवृत्त हो गई।

यहाँ एक बात और समझ लेने की है। वह यह कि गुरु-स्वर जिन दो अक्षरों के बीच में आता है, उन दो में एक के बाद दूसरे के आने के कारण, जो अश्रव्यता उत्पन्न हो जाती है, उसे ही दूर करता है; इस कारण, पूर्वोक्त 'यथा यथा तामरसायतेक्षणा···' इस पद्य में 'यथा ता' इस भाग में और 'तथा तथा त' इस भाग में थकार के अनंतर जो तकार आए हैं उनका दोष दूर हो जाने पर भी तकार के बाद थकार आने के कारण जो अश्रव्यता आ गई है वह ज्यों की त्यों है; क्योंकि उनके बीच में कोई गुरु नहीं, किंतु ह्रस्व अकार है।

इसी प्रकार तीन अथवा तीनसे अधिक अक्षरों का संयोग भी प्रायः अश्रव्य होता है; जैसे—'राष्ट्रे तवोष्ट्र्घः परितश्चरन्ति' यहाँ 'ष्ट्र्'। इस तरह, अनुभव के अनुसार, ऐसे-ऐसे कर्णकटुता के अन्य भेद भी समझ लेने चाहिएँ।

---

* कवि अङ्ग देश के राजाओं का वर्णन करता है कि—जिनके पीछे सदा विजय फिरा करती है—जो अब तक कभी परास्त नहीं हुए, उन अंग देश के राजाओं का वह युद्ध-स्थल उन खेल के घोड़ों के नृत्यों से नाटकघरके आँगन सा प्रतीत होता है।

पूर्वपद के अन्त में दीर्घ स्वर हो और उसके आगे दूसरे पद में संयोग हो तो उसका एक बार भी प्रयोग अश्रव्य*होता है; और यदि बार-बार हो, तो बहुत ही अधिक। जैसे—

†हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते।
सेवितं सर्वसंपद्भिरपि तद्भवनं वनम् ॥

यहाँ पूर्व-पद 'हरिणी' शब्द के आगे पकार और रेफ का संयोग है। पर, यदि दीर्घ स्वर और उसके आगे का संयोग दोनों एक ही पद में हों तो वैसी अश्रव्यता नहीं होती; जैसे—'जाग्रता विचितः पन्थाः शात्रवाणां वृथोद्यमः' इत्यादि में।

पर-सवर्ण‡के कारण जो संयोग होता है उसका दीर्घ के अनंतर विद्यमान होना नाममात्र भी अश्रव्य नहीं होता, क्योंकि वह सर्वथा भिन्न-पद में होता नहीं, और मधुर भी होता है, जैसे—'तान्तमालतरु-कान्तिलङ्घिनीम्...' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में। यहाँ 'तान्तमाल' और 'नाङ्किङ्करी' में जो पर-सवर्ण किया गया है, वह पूर्व पद से भी संबंध रखता है, इस कारण, इस संयोग को भिन्न-पद में होनेवाला नहीं कहा जा सकता। पर जिन लोगों का यह मत है कि—"संयुक्त वर्णों में प्रत्येक की संयोग संज्ञा माननी चाहिए" उनके विचारानुसार भी "तान्तमाल" में त और न दोनों संयोग संज्ञक हैं सही, पर तमाल का

---

* यह दोष हिंदी में नहीं होता; क्योंकि वहाँ भिन्न-पद में संयोग होने पर पूर्व-पद के स्वर पर जोर देने की रीति ही नहीं है।

† जहाँ मृगनयनी गृहिणी दिखाई नहीं देती, वह घर सब संपत्तियों से युक्त होने पर भी वन है।

‡ यह सब शास्त्रार्थ भी केवल संस्कृतवालों के काम का है।

पहला वर्ण 'त' का संयोग भिन्न पद में रहने पर भी 'ता' के दीर्घ आ से अव्यवहितपर नहीं है, क्योंकि बीच में परसवर्ण 'न' का व्यवधान है। अतः 'समुदाय को संयोग संज्ञा' माननेवालों के मत से संयोग भिन्न-पद-गत नहीं हुआ इससे, और प्रत्येक की संयोग संज्ञा माननेवालों के मत से संयोग होने पर भी वह बीच में व्यवधान डालनेवाले परसवर्ण के आ जाने से, अश्रव्य नहीं हुआ।

इसी पद्य में 'नवाम्बुद' शब्द में 'नव' और 'अम्बुद' शब्द के व के अ और अम्बुद के अ के स्थान में जो आ दीर्घ हुआ है वह व्याकरण की परिभाषा के अनुसार एकादेश है, अतः वह दोनों पदों से पृथक् पृथक् संबंध रख सकता है*। सो वह जब पूर्व पद का भाग गिना जाय तब 'म्बु' में जो संयोग है वह यद्यपि भिन्न-पद-गत भी है और ऐसा दीर्घ से आगे भी कि जिसके बीच में कोई व्यवधान न हो तथापि यहाँ 'भिन्न-पद-गत' संयोग उसे ही माना गया है, जो किसी एक पद के अन्तर्गत न हो, अतः कुछ दोष नहीं। तात्पर्य यह है कि 'नव' और 'अम्बुद' पद यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि वे समास में आ जाने के कारण 'नवाम्बुद' रूपी एक पद के अंतर्गत हो गए हैं, अतः यहाँ अश्रव्यता नहीं रही।

पूर्वोक्त भिन्न-पद-गत संयोग यदि बार-बार आवे, तो अत्यंत कर्ण-कटु हो जाता है; जैसे—'एषा प्रिया मे क गता त्रपाकुला' इसमें।

उपर्युक्त अश्रव्यताओं के कारण काव्य लँगड़ा-लँगड़ा कर चलता-सा प्रतीत होता है, उसकी सरस धारा में रुकावट आ जाती है; अतः इनका परिहार आवश्यक है।

†अब संधियों के नियमों की बात सुनिए। संधि का, अपने इच्छा-नुसार, एक बार भी न करना अश्रव्य होता है; जैसे—'रम्याणि इन्दु-

---

* देखो—'अन्तादिवच्च' सूत्र की कौमुदी।

†यह सब भी केवल संस्कृत काव्यों के लिये ही उपयोगी है।

मुखि ! ते किलकिञ्चितानि' यहाँ 'णि' और 'इ' में संधि न करना।

पर प्रगृह्य संज्ञा के कारण जो संधि नहीं की जाती वह बार-बार आवे तभी अश्रव्य होती है, केवल एक बार आने से नहीं; जैसे—'अहो अभी इन्दुमुखीविलासाः' यहाँ ओ + अ और ई + इ में। इसी तरह 'य' और 'व' के लोप के कारण जो संधि नहीं की जाती वह भी यदि बार-बार आवे तो खटकती है; जैसे—'अपर इयव एते कामिनीनां दृगन्ताः' यहाँ अ + इ और अ + ए में। पर यदि आप पूछ उठें कि तब आपने—

***भुजगाहितप्रकृतयो गारुडमन्त्रा इवाऽवनीरमण !**
तारा इव तुरगा इव सुखलीना मन्त्रिणो भवतः ॥

यह कविता कैसे कर डाली—यहाँ तो इनकी भरमार है; तो हम उत्तर देते हैं कि—(कृपया) यकार का लोप न करके पढ़िए; अर्थात् 'मन्त्रायिवा' 'तारायिव' 'तुरगायिव' यों पढ़िए।

इसी तरह 'रु' के 'उ', हल् पर रहते 'य्' के लोप, यण्, गुण, वृद्धि, सवर्ण-दीर्घ और पूर्व-रूपादिकों के समीप-समीप में अधिक प्रयोग भी अश्रव्यता के कारण होते हैं।

ये उपर्युक्त सभी अश्रव्यों के भेद सभी काव्यों में वर्जनीय हैं; चाहे किसी रस का वर्णन हो इन अश्रव्यताओं का न आने देना ही उचित है।

*** कवि कहता है—हे राजन्, आपके मंत्री, गारुड़ मंत्रों की तरह, 'भुजगाहित प्रकृति' हैं—अर्थात् जैसे गारुड़ मंत्र स्वभावतः सर्पों के विरुद्ध हैं, उसी प्रकार आपके मंत्री स्वभावतः गुंडों के विरुद्ध हैं और तारों की तरह तथा घोड़ों की तरह, 'सुखलीन' (अच्छे आकाश में स्थित + अच्छी लगामवाले + आनन्दमग्न) हैं।**

विशेष दोष

अब विशेषतया वर्जनीयों (अर्थात् जिन्हे किसी रस में छोड़ना चाहिए और किसी रस में लाना चाहिए) का वर्णन किया जाता है। उनमें से, जो दोष मधुर-रसों में निषिद्ध हैं और जिनका अभी वर्णन किया जायगा, वे ओजस्वी रसों के अनुकूल होते हैं—वहाँ उनको अवश्य लाना चाहिए; और जो मधुर-रसों के अनुकूल वर्णन किए गए हैं, वे ओजस्वी रसों के प्रतिकूल होते हैं, अतः उनसे उन रसों को बचाना चाहिए। यह एक साधारण निर्णय है, इसे अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए।

मधुर रसों में निषिद्ध

अच्छा, तो अब मधुर रसो में निषिद्धों को सुनिए। मधुर-रसों में लंबे समासों, जिनके आगे वर्गों के पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे अक्षरों के संयोग हों—ऐसे ह्रस्वों, विसर्गों, विसर्गों के आदेश सकारों, जिह्वा-मूलीयों, उपध्मानीयों, टवर्ग के अक्षरों और प्रत्येक वर्ग के आद्य चार अक्षरों, रेफ अथवा हकार द्वारा बने हुए संयोगों, ल, म और न के अतिरिक्त अन्य व्यंजनों के उन्हीं के साथ संयोगों—अर्थात् उनके द्वित्वों और वर्गों के प्रथम से चतुर्थ पर्यंत के वर्णों में से किन्हीं दो संयोगों के समीप-समीप में बार-बार प्रयोगों को छोड़ना चाहिए, और जिनके स्थान एव प्रयत्न एक-से हों—ऐसे वर्गों के प्रथम से चतुर्थ तक के बने हुए संयोग और श-ष-स के अतिरिक्त किसी महाप्राण अक्षर के बने हुए संयोग का एक बार भी प्रयोग न आने देना चाहिए। अब इनमें से प्रत्येक के उदाहरण सुनिए।

लंबा समास; जैसे—

*लोलालकावलिवलन्नयनारविन्द-
लीलावशंवदितलोकविलोचनायाः ।
सायाह्नि प्रणयिनो भवनं व्रजन्त्या-
श्चेतो न कस्य हरते गतिरङ्गनायाः ॥

यहाँ पूर्वार्ध में ।

जिनके आगे वर्गों के पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे वर्णों के संयोग हों—ऐसे ह्रस्वों की अधिकता; जैसे—

†हीरस्फुरद्रदनशुभ्रिमशोभि किञ्च
सान्द्रामृतं वदनमेणविलोचनस्याः।
वेधा विधाय पुनरुक्तमिवेन्दुबिम्बं
दूरीकरोति न कथं विदुषां वरेण्यः ॥

इस पद्य में 'भ्रि' आरम्भ में अक्षर पर्यन्त जो रचना है वह श्रृंगार-रस के प्रतिकूल है, शेष सुंदर है। यद्यपि उत्तरार्ध में, 'पुनरुक्त' शब्द में ककार और तकार का संयोग है, तथापि ऐसे संयोगों की प्रचुरता न होने के

---

* चंचल अलकावलि और चलते हुए नेत्र-कमलों की लीला से जिसने सब मनुष्यों के नेत्रों को वशंवद कर लिया है—ऐसी, सायंकाल के समय अपने प्रेमी के घर जाती हुई अंगना की चाल किसका चित्त नहीं चुराती?

† हीरों के समान चमकते हुए दाँतों की धवलता से शोभित और सघन अमृत से युक्त मृग-नयनी के मुख को बनाकर, विद्वानों में श्रेष्ठ विधाता, पुनरुक्त के समान (नीरस) चंद्र-बिंब को क्यों नहीं हटा देता है—अब भी इसे आकाश में क्यों टाँग रक्खा है!

कारण दोप नहीं गिना जा सकता। और यदि इसी पद्य के आदि में 'दन्तांशुकान्तमरविन्दरमापहारि...' बना दिया जाय, तो सभी पद्य सुन्दर (निर्दोष) हो सकता है।

विसर्गों की प्रचुरता; जैसे—

*सानुरागाः सानुकम्पाश्चतुराश्शीलशीतलाः ।
हरन्ति हृदयं हन्त कान्तायाः स्वान्तवृत्तयः ॥

यहाँ दो शकारों के संयोग पर्यन्त पूर्वार्ध का भाग मधुरता के अनुकूल नहीं है।

जिह्वामूलीयों की प्रचुरता; जैसे—

†कलितकुलिशघाता ᳵ केऽपि खेलन्ति वाता ᳵ
कुशलमिह कथं वा जायतां जीविते मे।
अयमपि बत! गुञ्जन्नालि! माकन्दमौलौ
चुलुकयति मदीयां चेतनां चञ्चरीकः ॥

यहाँ दूसरे जिह्वामूलीय पर्यन्त का भाग मधुरता के अनुकूल नहीं है। पर यदि "कथय‡ कथमिवाशा जायतां जीविते मे मलयभुजगवान्ता

---

* प्रियतमा की प्रेम और दया से युक्त, चतुर और शीतल चित्त-वृत्तियां, हाय! हृदय को हरण किए लेती हैं।

† विरहिणी कहती है कि—वज्र के से आघात करनेवाले न-जाने कौन से वायु खेल रहे हैं, फिर, भला! मेरे जीवन की कुशलता कैसे हो सकती है। और हे सखी! बड़े खेद की बात तो यह है कि आम की चोटी पर गूँजता यह भौंरा भी मेरे जीवन को चुल्लू किए जा रहा है।

‡ कह, मेरे जीवन की आशा कैसे हो सकती है, जब कि मलयाचल के चंदनों से लिपटे सर्पों के उगले हुए ये कालरूप वायु चल रहे हैं।

वान्ति वाताः कृतान्ताः" यों बना दिया जाय तो यह दोष नहीं रहता।

उपध्मानीयों की प्रचुरता; जैसे—

*अलका ᳶ फणिशावतुल्यशीला
नयनान्ता ᳶ परिपुङ्खितेषुलीलाः।
चपलोपमिता खलु स्वयं या वद
लोके सुखसाधनं कथं सा॥

यहाँ दोनों उपध्मानीय शान्त-रस के अनुकूल नहीं हैं।

टवर्ग और वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्णों की प्रचुरता; जैसे—

† वचने तव यत्र माधुरी सा हृदि
पूर्णा करुणा च कोमलेऽभूत्।
अधुना हरिणाक्षि! हा! कथं वा
कटुता तत्र कठोरताऽऽविरासीत्॥

यदि इसी का उत्तरार्ध '‡अधुना सखि तत्र हा! कथं वा गतिरन्यैव

---

* एक विरही कहता है—जिसके केश सर्प के बच्चों के समान स्वभाववाले हैं, जिसके नयनप्रांत पंख लगे बाणों की सी लीला करनेवाले हैं और जो स्वयं बिजली के समान है, आश्चर्य्य है कि, वह (स्त्री) संसार में सुख का साधन कैसे मानी जाती है!

† नायक कहता है कि—हे मृगनयनी! जिस तेरे वचन में वह अनुपम मधुरता थी और जिस कोमल हृदय में पूरी दया थी, हाय! आज उन्हीं दोनों में कटुता और कठोरता कैसे उत्पन्न हो गई!

‡ हे सखि! अब उन्हीं दोनों में गुणों की गति दूसरी ही कैसे दिखाई देती है!

विलोक्यते गुणानाम्' यों बना दिया जाय तो माधुर्य के अनुकूल हो जायगा।

रेफों के द्वारा बने हुए संयोग का बार-बार प्रयोग; जैसे—

*तुलामनालोक्य निजामखर्वं गौराङ्गि !
गर्वं न कदापि कुर्याः।
लसन्ति नानाफलभारवत्यो
लताः कियत्यो गहनान्तरेषु ॥

पर, यदि '†तुलामनालोक्य महीतलेऽस्मिन्' बना दिया जाय, तो ठीक हो जाय।

ल, म और न के अतिरिक्त अन्य व्यंजनों का उन्हीं के साथ संयोग का बार बार प्रयोग: जैसे—

‡ विगणय्य मे निकाय्यं तामनुयातोऽसि नैव तन्न्याय्यम् ।

पर ल, म और न का जो अपने आपके साथ संयोग होता है, वह उतना कठोर नहीं होता; जैसे—

§इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा परिफुल्लं नयनाम्बुजद्वयं ते ।
जलदालिमयं जगद्वितन्वन् कलितःक्वापि किमालि! नीलमेघः॥

* नायक कहता है—हे गौरांगि ! अपनी समानता न देखकर तुझे अधिक अभिमान न करना चाहिए। जंगलों में विविध फलों के भार से झुकी हुई कितनी लताएँ शोभित हो रही हैं।

† इस पृथिवीतल पर समानता न देखकर...... ।

‡ नायिका नायक से कहती है—मेरे घर का निरादर करके (तू) उस (सपत्नी) के पीछे लगा हुआ है, यह न्यायोचित नहीं है।

§ सखी संभोगचिह्निता गोपी से कह रही है—हे सखी ! तेरे मुख

वर्गों के प्रथम से लेकर चतुर्थ पर्यंत वर्णों में से किन्हीं दो के संयोग का बार-बार प्रयोग; जैसे—

* आ-सायं सलिलभरे सवितारमुपास्य सादरं तपसा।
अधुनाऽब्जेन मनाक्तव मानिनि ! तुलना मुखस्याऽऽप्ता॥

यहाँ उत्तरार्ध सुंदर नहीं है। पर यदि † 'सरसिजकुलेन संप्रति भामिनि ! ते मुखतुलाऽधिगता' यों बना दिया जाय तो उत्तम हो जाय।

वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्णों में से किन्हीं दो सवर्णों के संयोग का एक बार प्रयोग; जैसे—

‡ अयि ! मन्दस्मितमधुरं वदनं तन्वङ्गि ! यदि मनाक्कुरुषे।
अधुनैव कलय शमितं राकारमणस्य हन्त ! साम्राज्यम्॥

की यह शोभा उल्लासयुक्त हो रही है और तेरे दोनों नयन-कमल पूरे खिल रहे हैं; सो, कहीं, सब जगत् को मेघमालामय बनानेवाला नील-मेघ (भगवान् श्रीकृष्ण) मिल गया है क्या ?

* दूती अथवा सखी मानिनी नायिका से कहती है कि हे मानिनि ! साँझ तक गहरे जल में रह कर भगवान् सूर्य्य की उपासना करने के अनंतर, अब—दूसरे दिन—कमल ने तेरे मुख की किञ्चिन्मात्र समानता प्राप्त की है।

† हे कोपकारिणि ! अब जाकर कमलों के समूह ने तेरे मुख की समानता प्राप्त की है।

‡ हे कृशांगि ! यदि तू अपने मुख को, थोड़ा भी, मंदहास से मधुर कर ले, तो हर्ष है कि निशानाथ चंद्र-देव का साम्राज्य शांत हुआ ही समझ—फिर उसकी तिथि कोई न पूछेगा।

यदि आप शंका करें कि यहाँ जो 'मनाक्कुरुषे' में दो ककारों का संयोग है, उसका तो व्यंजनों का जो अपने-आपके साथ संयोग निषिद्ध माना गया है उसी से निषेध हो जाता है; और क ख का संयोग हो तो वह महा-प्राणों के संयोग के निषेध गतार्थ हो जाता है। रहा तीसरा संयोग, सो वह हो ही नहीं सकता; अतः दो सवर्ण झयों (वर्गों के प्रथम से चतुर्थ तक के वर्णों) का निषेध जो आपने पृथक् लिखा है उसके लिये कोई अवकाश ही नहीं रहता; फिर उसके लिखने से क्या फल सिद्ध हुआ? इसका समाधान यह है कि दो सवर्ण झयो का संयोग यदि एक बार हो, तथापि दूषित होता है, सो यह उससे भिन्न है; अन्यथा 'मनाक्कुरुषे' यह निर्दोष हो जायगा; क्योंकि यहाँ व्यंजन का अपने आपके साथ संयोग तो है, पर बार-बार नहीं।

महाप्राणों के द्वारा बने हुए संयोग का प्रयोग; जैसे (पूर्वोक्त-श्लोक का पूर्वार्ध यों बना दीजिए)—

*** अयि मृगमदबिन्दुं चेद्भाले बाले ! समातनुषे।**

और उत्तरार्ध तो वही ह-ई—हैं।

इसी तरह, 'त्व' प्रत्यय, यङन्त, यङ्लुङन्त तथा अन्य इसी प्रकार के प्रयोग, यद्यपि वैयाकरण लोगों को प्रिय लगते हैं, तथापि मधुर-रस में उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार कवि को उचित है कि वह व्यंग्यों के आस्वादन से पृथक्, विशेष प्रकार के जोड़-तोड़ की अपेक्षा रखनेवाले एवं ऊपरी तौर से अधिक चमत्कारी अनुप्रासों के समूहों तथा यमकादिकों का, यद्यपि वे बन सकते हों। तथापि बनाने का प्रयत्न न करे; क्योंकि यदि वे अधिकता और प्रधानता से हुए तो उनका समावेश रस की चर्वणा में न हो

*** हे बाले ! यदि ललाट पर कस्तूरी की बिन्दी लगा लेगी; तो...।**

सकेगा, और वे सहृदय पुरुष के हृदय को अपनी तरफ आवर्जित कर लेंगे; इस कारण रस से विमुख कर देंगे—अर्थात् सहृदय पुरुष उनके चमत्कार के चक्कर में पड़कर रस के आस्वादन से वंचित हो जायगा।

विशेषतः विप्रलंभ-शृंगार में तो इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए; क्योंकि वह रस सबसे अधिक मधुर होता है, और इसी कारण उसे शुद्ध मिश्री के बनाए हुए शरबत की उपमा दी जाती है; उसमें यदि बहुत थोड़ी-सी भी कोई वस्तु ऐसी हुई कि जो अपना अड़ंगा अलग जमाने लगे तो वह सहृदय पुरुषों के हृदय में खटक जाती है, इस कारण ऐसी वस्तु का उसके साथ रहना सर्वथा अनुचित है। जैसा कहा भी गया है—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥

अर्थात् जिस ध्वनि-काव्य के आत्मा लोकोत्तरचमत्कारकारी शृंगार-रस में यमक-आदि की रचना करना, यदि कवि में उनकी रचना करने की शक्ति हो—वे स्वभावतः आ जाते हों, तो भी कहना चाहिए कि उसकी असावधानता है—जो उसने उन्हें आ जाने दिया। और यदि विप्रलंभ-शृंगार के काव्य में आ गए, तब तो विशेष-रूप से असावधानता समझी जायगी।

परंतु जो अनुप्रासादिक क्लिष्ट तथा विस्तृत न होने के कारण पृथक् अनुसंधान की आवश्यकता नहीं रखते, किंतु रसों के आस्वादन में ही अत्यंत सुखपूर्वक आस्वादन कर लिए जा सकते हैं, उन्हें छोड़ देना भी उचित नहीं। जैसे कि—

कस्तूरिकातिलकमालि! विधाय सायं
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम्।

प्रौढिं भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा-
मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि ॥

❀ ❀ ❀ ❀

करि कस्तूरी-तिलक सखी री ! साँझ-समै तू ।
मंद-मंद मुसकात महल की छात रमै तू ॥
तो यह निहचे जानु कुमुद मुद महा लहेंगे ।
सुखमा सुखद समग्र दिशा-मुख हुलसि गहेंगे ॥

सखी नायिका से कहती है—हे सखी ! तू साँझ के समय कस्तूरी का तिलक लगाकर, तत्काल, महल की छत का परिशीलन कर; जिससे कि कुमुद आनंद की अत्यंत अधिकता को प्राप्त हो जायँ—अर्थात् पूरी तरह खिल उठें और दिशाएँ अपने मुखों को पूर्णतया उल्लासयुक्त बना लें—उनके प्रारंभिक भाग अच्छी तरह प्रकाशित हो जायँ। इत्यादि में। (अथवा जैसे बिहारी के इस दोहे में—

नभ लाली, चाली निशा, चटकाली धुनि कीन ।
रति पाली आली ! अनत आए बनमाली न ॥)

इस तरह, प्रसंग आ जाने के कारण, मधुर-रसों को अभिव्यक्त करनेवाली रचना के इन दोषों का थोड़ा सा निरूपण कर दिया गया है।

संग्रह

एभिर्विशेषविषयैः समान्यैरपि च दूषणै रहिता ।
माधुर्य-भार-भङ्गुर-सुन्दर-पद-वर्ण-विन्यासा ॥
व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती निर्मातुर्या प्रसादयुता ।
तां विबुधा वैदर्भी वदन्ति वृत्तिं गृहीतपरिपाकाम् ॥

जो इन विशेष और साधारण—दोनों प्रकार के—दोषों से रहित हो, जिसके पदों और वर्णों की रचना माधुर्य-गुण के भार से फटी पड़ती हो, जिससे बनानेवाले कवि की व्युत्पत्ति प्रकाशित होती हो, जो प्रसाद-गुण से युक्त हो और पूर्ण परिपक्व—अर्थात् रस की धार बाँध देनेवाली हो उस रचना को विद्वान् लोग 'वैदर्भी वृत्ति' कहते हैं। इस रचना के कितने ही पद्य उदाहरणों में आ ही चुके हैं; अथवा जैसे—

आयातैव निशा, निशापतिकरैः कीर्णं दिशामन्तरम्
भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरुल्लासयन्ति श्रियम्।
वामे! मानमपाकरोषि न मनागद्यापि रोषेण ते
हा!हा!! बालमृणालतोऽप्यतितमां तन्वी तनुस्ताम्यति ॥

आ ही गई रजनी, रजनी-पति केरि मरीचि भरीं दिग-अंतर।
भौनन-भौनन भामिनियाँ बहु भूषन साजि लहैं छबि सुंदर ॥
रंचहु मान भई न कमी अजहूँ तुव, वाम! गयो सब वासर।
बाल-मृनाल हु ते दुबरो तन ये रिस ते कुम्हिलात निरंतर ॥

नायक नायिका से कहता है—प्रिये, अब रात आ ही गई है—आने में थोड़ी भी देरी नहीं है; देख, निशानाथ—चंद्रदेव—की किरणों से दिशाओं के मध्यभाग व्याप्त हो चुके हैं। जो स्त्रियाँ प्रणय-कोप से युक्त भी थीं वे भी अनेक आभूषण पहिन-पहिनकर भवनों में शोभा के डंबर बाँध रही हैं। हे वामे! हे संसार-भर से उलटे रास्ते पर चलनेवाली! तू अब भी मान को किंचित् भी कम नहीं कर रही है। हाय! हाय!! देख तो सही! यह नए मृणाल से भी अत्यंत दुर्बल तेरा शरीर रोष के मारे घबरा रहा है—जाने दे, यदि हमारे ऊपर दया नहीं करती तो मत कर, पर इस सुकुमार शरीर पर तो दया कर।

इस रीति (वैदर्भी) के निर्माण करते समय कवि को अत्यंत सावधान रहना चाहिए, अन्यथा परिपाक का भंग हो जायगा—रस जितना मधुर बनना चाहिए उतना न बन सकेगा। जैसा कि अमरुक कवि के पद्य में हुआ है—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जात-पुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी, प्रियेण हसता, बाला चिरं चुम्बिता॥

बालिका ने जब देखा कि अब निवास-गृह बिल्कुल शून्य हो गया है—कहीं किसी की भनक भी नहीं सुनाई देती, तो शय्या से धीरे-धीरे कुछ उठी और झूठ-मूठ निद्रा लेते हुए पति के मुख को बहुत समय तक देखती रही। जब उसे विश्वास हो गया कि पति महाशय गहरी नींद में हैं तो उसने उसके मुख को अच्छी तरह चूमा; पर चूम चुकने के बाद जब उसने देखा कि पति के कपोलप्रदेश रोमाञ्चित हो उठे हैं, तो लज्जा के मारे मुँह नीचा हो गया—सामने न देख सकी। फिर क्या था! प्यारेजी की बन पड़ी, उन्होंने हँस-हँसकर बड़ी देर तक चूमा।

इस पद्य में 'उत्थाय' और 'किंचिच्छनैः' इन दो स्थानों पर दो-दो सवर्ण झयों का संयोग है, और वह भी समीप-समीप में; अतः अत्यंत अश्रव्य है। इसी तरह इसी स्थान पर झयों के द्वारा बने हुए संयोग जिनके आगे हैं उन ह्रस्वों का भी प्रयोग है। तथा 'शनैर्निद्रा' इस जगह और 'निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्' इस जगह रेफ के द्वारा बने हुए संयोग की, और झयों के द्वारा बने हुए संयोग जिनके आगे हैं उन ह्रस्वों की प्रचुरता है। एवम् 'विस्रब्धम्' इस जगह महाप्राणों के द्वारा बना

संयोग 'लज्जा' इस जगह दो सवर्ण झयों का अपने ही साथ संयोग और 'मुर्खी प्रियेण' इस जगह भिन्न-पदगामी दीर्घ के पहले संयोग है। इसी प्रकार 'क्त्वा' प्रत्यय का पाँच बार और 'लोकृ' धातु का दो बार प्रयोग भी कवि के पास रचना की सामग्री के दारिद्र्य को प्रकाशित करता है। पर, जाने दीजिए, दूसरों के काव्यों पर विचार करने की हमें क्या आवश्यकता है।

अच्छा, तो इस तरह रसों का संक्षेप से निरूपण हो चुका।

भाव

भाव के लक्षण पर विचार

अब 'भाव ध्वनि' का निरूपण किया जाता है। यहाँ सबसे पहले यह विचार करना है कि 'भाव' कहते किनको हैं? उनका क्या लक्षण है? आप कहेंगे कि—इसमें कौन कठिन बात है, सीधा तो है कि "विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त जो रसों के व्यंजक हों—जिनसे रस अभिव्यक्त हो उनका नाम 'भाव' है"।

पर यह ठीक नहीं; इस लक्षण की रसों के प्रतिपादन करनेवाले काव्य की पदावलि में अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि अर्थ के द्वारा शब्द भी रसों को ध्वनित करते हैं। आप कह सकते हैं कि इसी लक्षण में 'जो बिना किसी द्वार के रसों का व्यंजक हो' इस तरह व्यंजक का एक विशेषण और बढ़ा देंगे तो पदावलि में अतिव्याप्ति न होगी। पर यदि ऐसा किया जाय तो लक्षण में असंभव दोष आ जायगा; अर्थात् यह भाव का लक्षण ही न होगा; क्योंकि भाव भी भावना—बार-बार अनुसंधान—के द्वारा ही रस को ध्वनित करते हैं। दूसरे, भावना में अतिव्याप्ति भी हो जायगी; क्योंकि बिना किसी द्वार के रसों को वही ध्वनित करती है। और,

जिस तरह, लक्षण में, 'विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त' विशेषण दिया गया है; उसी तरह यदि 'शब्द के अतिरिक्त' यह व्यंजक का विशेषण और रख दें, तो भी छुटकारा नहीं; क्योंकि फिर भी भावना में तो अतिव्याप्ति रहे ही गी। एवम्, जो भाव प्रधानतया ध्वनित होता है, वह रसों का व्यंजक नहीं होता, अतः उसमें लक्षण की अव्याप्ति भी होगी—अर्थात् उस भाव का यह लक्षण नहीं बन सकेगा।

आप कहेंगे कि जहाँ भाव की ध्वनि प्रधान होती है वहाँ भी अन्ततो गत्वा तो रस की अभिव्यक्ति होती ही है; अतः उसमें भी रस व्यंजकता है ही; तो हम कहेंगे कि फिर 'भाव-ध्वनि' का लोप ही हो जायगा।

यदि फिर भी कहो कि—भाव के अधिक चमत्कारी होने के कारण उसे 'भावध्वनि' कहा जाता है, यद्यपि वहाँ भी, अन्ततो गत्वा, रस की अभिव्यक्ति होती है तथापि उसके चमत्कारी न होने के कारण उसे 'रस-ध्वनि' नहीं कहा जा सकता। सो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि चमत्कार-रहित रस की अभिव्यक्ति में कोई प्रमाण नहीं—रस चमत्कार-रहित होता ही नहीं। हम पहले ही कह चुके हैं कि—जिस प्रमाण से रस-पदार्थ का अनुभव होता है, उसी के द्वारा यह भी सिद्ध है कि 'रस आनन्द के अंश से रहित होता ही नहीं'।

अब यदि आप कहें कि—रस की अपेक्षा भाव के गौण होने के कारण, अथवा विवाह में दूलह बने हुए अमात्यादि के पीछे चलते हुए राजा की तरह (क्योंकि वहाँ राजा की अपेक्षा दूलह की प्रधानता रहती है) रस की अपेक्षा भाव की प्रधानता होने के कारण काव्यको 'भाव-ध्वनि' कहा जा सकता है। तो हम 'प्रधानतया ध्वनित होनेवाले भाव' को भी अंततो गत्वा रस का अभिव्यंजक मान लेते हैं; पर, तथापि देश, काल, अवस्था और स्थिति-आदि अनेक पदार्थों से बने हुए पद्य के वाक्यार्थ में

अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि वह विभाव और अनुभाव से भिन्न भी है और रस का व्यंजक भी है। सो यह लक्षण गड़बड़ ही है।

अब यदि आप यह लक्षण बनावें कि—'जो आस्वादन रस को अभिव्यक्त करता है उस आस्वादन में आनेवाली (आस्वादविषय) चित्तवृत्ति का नाम भाव है और साथ में यह कहें कि—इस लक्षण की भावों के आस्वादन में अतिव्याप्ति न होने के लिये 'आस्वादन में आनेवाली' यह चित्तवृत्ति का विशेषण रक्खा गया है। सो भी ठीक नहीं; क्योंकि—

कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद्विजानती नितराम्।
अपि नीलोत्पलमालां बाला व्यालावलिं किलामनुते ॥

असित-अगर विष-सरिस वह समुझति मन में बाल।
नील-कमल-मालहिं मनो मानत ब्याल कराल ॥

एक सखी दूसरी सखी से एक वियोगिनी की कथा कह रही है कि—अगर को जहर के समान समझनेवाली वह बालिका नील-कमलों की माला को भी, मानो सर्पों की पंक्ति मानती है।

इस स्थान पर, सहृदय भावक को, जो जहर की बराबरी का ज्ञान हो रहा है उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। वह ज्ञान विप्रलंभ-शृंगार का अनुभाव है—उसके द्वारा उत्पन्न हुआ है; अतः रस को ध्वनित करनेवाले आस्वादन में आनेवाला भी है, क्योंकि जैसे भावों का आस्वादन किया जाता है वैसे ही अनुभावों का भी किया जाता है, और वह ज्ञान है अतः चित्तवृत्ति रूप भी है।

अब यदि यह कहो कि—भावों में जो भावत्व धर्म रहता है, वह अखण्ड-उपाधि है, अतः उसके लक्षण-वक्षण की कुछ आवश्यकता

नहीं; सो भी नहीं हो सकता; क्योंकि 'भावत्व' को अखण्ड मानने में कोई प्रमाण* नहीं।

भाव का लक्षण

ये तो हुईं पूर्व-पक्ष की बातें; अब सिद्धान्त में भाव किसे कहते हैं, सो सुनिए—

विभावादिकों के द्वारा ध्वनित किए जानेवाले हर्ष-आदिकों (जिनकी गणना आगे की जायगी) **में से अन्यतम (कोई एक) को 'भाव' कहा जाता है।**

जैसा कि कहा भी है—"**व्यभिचार्यञ्जितो भावः**—अर्थात् ध्वनित होनेवाले व्यभिचारी भाव को 'भाव' कहा जाता है"।

भाव किस तरह ध्वनित होते हैं ?

भावों के ध्वनित होने के विषय में यह सिद्धांत है कि—जो हर्षादिक सामाजिकों—अर्थात् नाटकादि देखनेवालों और काव्य पढ़ने सुननेवालों के अंदर (वासना रूप से) रहते हैं उन्हीं की, स्थायी भावों की तरह, अभिव्यक्ति होती है।

पर कुछ विद्वानों का मत है कि—भाव भी रस की तरह ही अभिव्यक्त होते हैं।

अन्य विद्वान् यह भी कहते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति, अन्य व्यंग्यों—अर्थात् वस्तु-अलंकारादिकों (जिनका वर्णन दूसरे आनन के प्रारंभ में है) की तरह, होती है।

---

* नागेश का मत है कि—इस लक्षण में यदि 'अनुभाव के अतिरिक्त' इतना और निवेश कर दिया जाय तो यह लक्षण भी ठीक हो सकता है।

भावों के व्यंजक कौन हैं ?

भावों के अभिव्यक्त करनेवाले केवल विभाव और अनुभाव ये दो ही हैं। एक व्यभिचारी भाव के ध्वनित करने में दूसरे व्यभिचारी भाव को व्यंजक मानना आवश्यक नहीं; क्योंकि यदि ऐसा मानें तो वही (व्यंजक ही) प्रधान हो जायगा। कारण यह है कि जैसा यह व्यभिचारी भाव अभिव्यक्त होता है वैसा ही वह भी अभिव्यक्त होता है, फिर उसको भाव क्यों नहीं माना जाय। अतः भावों के दो ही व्यंजक मानना उचित है।

पर वास्तव में देखा जाय तो प्रकरणादि के अधीन होने के कारण यदि एक भाव प्रधान हो और उसको ध्वनित करनेवाली सामग्री के द्वारा, अन्य भाव से रहित केवल प्रधान भाव ध्वनित ही न होता हो, इस कारण, यदि कोई अन्य भाव भी अभिव्यक्त हो जाय, और वह भाव प्रकरण-प्राप्त भाव की अपेक्षा हीन होने के कारण, यदि उसका अंग बन जाय, तो भी कोई हानि नहीं। जैसे कि गर्व-आदि में अमर्ष और अमर्ष-आदि में गर्व।

आप कहेंगे कि यदि ऐसा हुआ, तो उस काव्य को 'भावध्वनि' नहीं कह सकते, किंतु वह 'गुणीभूत व्यंग्य' हो जायगा; क्योंकि उसमें एक भाव दूसरे भाव की अपेक्षा गौण हो गया है। सो नहीं हो सकता; क्योंकि जो भाव पृथक् विभावों और अनुभावों से अभिव्यक्त हुआ हो, और जिसका अनुभाव-विभाव के रहने से अभिव्यक्त होना आवश्यक हो तो उसको गुणीभूतव्यंग्य कहा जा सकता है; अन्यथा गर्वादिकों की ध्वनि का लोप ही हो जायगा, क्योंकि वे कभी अमर्षादि से रहित ध्वनित ही नहीं होते।

विभाव-शब्द से भी यहाँ व्यभिचारी-भाव का साधारण निमित्त कारण मात्र लिया जाता है; रस की तरह उसका सर्वथा आलंबन और उद्दीपन होना अपेक्षित नहीं। पर, यदि कहीं ऐसे विभाव हों कि जो भाव के आलम्बन और उद्दीपन हो सकें तो निषेध भी नहीं है।

भावों की गणना

हर्षादिक भाव ३४ हैं। उनमें से—हर्ष, स्मृति, व्रीडा, मोह, धृति, शंका, ग्लानि, दैन्य, चिंता, मद, श्रम, गर्व, निद्रा, मति, व्याधि, त्रास, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, उन्माद, मरण, वितर्क, विषाद, औत्सुक्य, आवेग, जड़ता, आलस्य, असूया, अपस्मार, चपलता और प्रतिपक्षी के द्वारा किए गए तिरस्कार-आदि से उत्पन्न हुआ निर्वेद ये ३३ व्यभिचारी हैं और चौतीसवाँ है गुरु, देवता, राजा और पुत्र-आदि के विषय में होनेवाला प्रेम।

'वात्सल्य' रस नहीं है

पूर्वोक्त गणना से यह सिद्ध होता है कि—कुछ विद्वानों का जो यह कथन है कि 'पुत्रादिक जिस रति के आलंबन होते हैं, वह 'वात्सल्य' नामक भी एक रस है' सो परास्त कर दिया गया; क्योंकि भरत-मुनि के वचन के आगे उनकी उच्छृंखलता—मनमानी—नहीं चल सकती। उसे भाव ही मानना उचित है।

१—हर्ष

उनमें से वाञ्छित पदार्थ की प्राप्ति आदि से जो एक प्रकार का सुख उत्पन्न होता है, उसे 'हर्ष' कहते हैं। यही कहा भी गया है—

देवभर्तृगुरुस्वामिप्रसादः, प्रियसङ्गमः।
मनोरथाप्तिरप्राप्यमनोहरधनागमः॥
तथोत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो यत्र जायते।
नेत्रवक्त्रप्रसादश्च प्रियोक्तिः पुलकोद्गमः॥
अश्रुस्वेदादयश्चानुभावा हर्षं तमादिशेत्॥

देवता, पति, गुरु और स्वामी की प्रसन्नता, प्रिय-समागम, इच्छित वस्तु की प्राप्ति, दुर्लभ और लोभनीय धन का लाभ तथा पुत्र आदि का जन्म जिसके विभाव होते हैं, और नेत्र तथा मुख की प्रसन्नता, प्रिय वचन, रोमांच, आँसू और प्रस्वेद आदि जिसके अनुभाव होते हैं, उसको 'हर्ष' कहते हैं। उदाहरण लीजिए—

अवधौ दिवसावसानकाले भवनद्वारि विलोचने दधाना।
अवलोक्य समागतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी बभूव ॥

× × × ×

अवधि-दिवस संझा-समै दिए दीठि गृह-द्वारि।
भई प्रिया विकसितमुखी आयो मोहिँ निहारि ॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—अवधि का दिन था, साँझ का समय था; प्रिया ने अपनी आँखें घर के द्वार पर लगा रखीं थीं—वह टकटकी लगाकर दरवाजा देख रही थी; उसी समय उसने देखा कि मैं आ गया हूँ, फिर क्या था, उसका मुँह खिल उठा।

यहाँ प्यारे का आगमन विभाव है और मुँह का खिल उठना अनुभाव।

२—स्मृति

पदार्थों के देखने-सुनने आदि से जो हृदय पर संस्कार हो जाता है, उस संस्कार के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'स्मृति' कहते हैं। जैसे—

तन्मञ्जु मन्दहसितं श्वसितानि तानि
सा वै कलङ्कविधुरा मधुराननश्रीः।

अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त !
सायन्तनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ॥

× × × ×

वह मंजुल मृदु हँसन, साँस वे सुभग सुगंधित ।
वह कलंक ते विधुर मधुर आनन-दुति विकसित ॥
सझा-सरसिज-सरिस तासु लोचन अनियारे ।
अजौं करत उनमत्त अमित हिय हाय ! हमारे ॥

नायक अपने मित्र से कहता है—साँझ के समय के कमलों के समान अध-मुँदे नेत्रोंवाली नायिका का वह सुंदर मंद हास, वे श्वास, वह कलंकरहित और मधुर मुख की शोभा, हाय ! आज भी मेरे हृदय को उन्मत्त बना देते हैं ।

यहाँ एक प्रकार की चिंता विभाव है; भौंहों का ऊँचा करना, शरीर का निश्चल होना—जो कि ऊपर से समझ लिए जा सकते हैं—अनुभाव हैं ।

यद्यपि यहाँ इस स्मृतिरूपी संचारी भाव, नायिकारूपी विभाव और 'हंत' अथवा 'हाय' पद के द्वारा व्यंग्य हृदय की विकलता रूपी अनुभाव—इन सब के संयोग से 'विप्रलंभ रस' की अभिव्यक्ति होती है, इस कारण यहाँ 'रस-ध्वनि' कही जा सकती है, तथापि प्रथम स्मृति की ही स्फूर्त्ति होती है—सबसे पहले वही हृदय में आती है और चमत्कारिणी भी है, इस कारण इसे 'स्मृति (भाव) ध्वनि' का उदाहरण माना गया है ।

एक शङ्का और उसका समाधान

(यहाँ एक शंका होती है । नैयायिकों की पदार्थ-विज्ञान-शैली के अनुसार 'तत् (वह)' पद के अर्थ के विषय में दो मत हैं । एक यह

कि—जिस पदार्थ का 'तत्' पद से वर्णन किया जाता है, उसका तत् पद के द्वारा, असाधारण रूप में ही बोध होता है, पर उस दशा में वह पदार्थ 'बुद्धिस्थ' विशेषण से विशिष्ट समझा जाता है। अर्थात् "तत् हसितम्" यहाँ 'तत्' पद का अर्थ है 'बुद्धिस्थ लोकोत्तर सौन्दर्य-युक्त'। यहाँ हसित का विशेषण (भेदक) 'लोकोत्तर सौन्दर्य' है और उसका उपलक्षण है 'बुद्धिस्थत्व'। ऐसे हसित को बोधन करने की 'तत्'-पद में शक्ति है, अतः 'हसित' तत्पद का शक्य (अर्थ) है। विशेषण शक्यतावच्छेदक (किसी शक्य अर्थ में वर्तमान शक्यता को इतर शक्यताओं से पृथक् करनेवाला धर्म) कहलाता है, अतएव हसित का विशेषण 'लोकोत्तर सौन्दर्य' शक्यतावच्छेदक हुआ। शक्यतावच्छेदक के बोधन करने की शक्ति भी पद में मानी जाती है। तत्पद से भिन्न-भिन्न विशेषणों से विशिष्ट जगत् के समस्त पदार्थ समझे जाते हैं। उन समस्त विशेषणों को व्यवस्थित करने के लिये उनका कोई वास्तव धर्म न होते हुए भी उनमें 'बुद्धिस्थत्व' धर्म उपलक्षणरूप से एक माना जाता है। इसी की एकता से तत्पद में समस्त पदार्थों के बोधन करने की एक शक्ति सिद्ध होती है और तत्पद नानार्थ नहीं माना जाता। यही 'बुद्धिस्थत्व' धर्म या 'बुद्धि' सकल शक्यतावच्छेदकों का अनुगमक या व्यवस्थापक कहा जाता है। यह अनुगमक किसी पद का शक्य अर्थ नहीं माना जाता। यही इस मत का रहस्य है।

दूसरा मत यह है कि—'तत्' पद द्वारा उस पदार्थ का असाधारण रूप में बोध नहीं होता, किंतु 'बुद्धिस्थपदार्थ' के रूप में ही होता है।

अब सोचिए कि बुद्धि और ज्ञान दोनों एक ही पदार्थ के नाम हैं, और स्मृति भी एक प्रकार का ज्ञान ही है; अतः दोनों ही मतों में 'तत्' शब्द से स्मृति का कुछ संबंध अवश्य हो जाता है। इस कारण—अर्थात् यहाँ वाचक रूप में 'तत्' शब्द का प्रयोग होने के कारण—यह

काव्य 'स्मृति-भाव' की ध्वनि न हो सकेगा; क्योंकि 'ध्वनि' कहलाने की योग्यता तभी हो सकती है, जब कि व्यंग्य का वाच्य से कुछ संपर्क न हो। इसका समाधान यह है कि—) पहले मत के अनुसार 'तत्' पद का वाच्य 'असाधारण रूपवाला (खास) पदार्थ' ही है, बुद्धि तो शक्यतावच्छेदक का अनुगम करानेवाली है, अतः वाच्यता बुद्धि का स्पर्श नहीं कर सकती अर्थात् बुद्धि वाच्य (शक्य) नहीं हो सकती। दूसरे मत में भी 'बुद्धिस्थ पदार्थ' तत्पद का वाच्य है; अतः बुद्धि अर्थात् साधारण ज्ञान के 'तत्' पद से प्रतिपादित हो जाने पर भी स्मृति के रूप में तो उसका बोध व्यंजना के द्वारा ही होता है। सो इस शंका को अवकाश नहीं।

यद्यपि यहाँ स्मृति पूरे वाक्य से ध्वनित होती है, तथापि 'तत्' यह एक पद ही उसका स्वरूप खड़ा करता है, इस कारण यहाँ यह भाव पद के ही द्वारा ध्वनित होता है—यह समझना चाहिए। अतः यहाँ 'पदध्वनि' है। इससे लोगों का जो यह कथन है कि—'भाव यदि 'पद' के द्वारा अभिव्यक्त हों तो उनमें कुछ विचित्रता नहीं रहती' सो उड़ जाता है।

यहाँ आँखों को जो 'साँझ के कमलों' की उपमा दी गई है, उससे यह ध्वनित होता है कि आँखें आगे-से-आगे अधिक मिचती जा रही हैं, जिससे नायिका की आनंद-मग्नता प्रकट होती है।

प्रत्युदाहरण

दरानमत्कन्धरबन्धमीषन्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम्।
अनल्पनिःश्वासभरालसाङ्गं स्मरामि सङ्गं चिरमङ्गनायाः॥

× × × ×

कछु नत ग्रीवा, अधमिंचे नेही नैन, सु-अंग।
अति साँसन ते शिथिल जहँ सो सुमिरौं तिय-संग॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—मैं, देरी तक, अंगना के उस संग का स्मरण करता रहता हूँ, जिसमें गरदन कुछ झुकती रहती है, प्रेम-पूर्ण नेत्र-कमल कुछ कुछ मिंच जाते हैं और सब अंग, अत्यंत श्वास के कारण, आलस्ययुक्त हो जाते हैं।

यहाँ जो स्मृति है, वह 'भाव' नहीं कही जा सकती; क्योंकि वह स्मृतिवाची शब्द ('स्मरामि' अथवा 'सुमिरौं') के द्वारा वर्णन की गई है, अतः व्यंग्य नहीं हो सकती। न 'स्मरणालंकार' ही है; क्योंकि यह स्मरण किसी प्रकार की समानता के कारण उत्पन्न नहीं हुआ है। और, यह सिद्धांत है कि—समानता के कारण जो स्मरण होता है, उसे 'स्मरणालंकार' और स्मरण यदि व्यंग्य हो तो 'स्मृति भाव' माना जाता है। सो यह मानना चाहिए कि इस पद्य में केवल विभाव (नायिका) का ही वर्णन है, परंतु चमत्कार-जनक होने के कारण उसका किसी तरह रस में पर्यवसान हो जाता है।

३—व्रीडा (लज्जा)

स्त्रियों में पुरुष के मुख देखने-आदि से और पुरुषों में प्रतिज्ञा-भंग तथा पराजय आदि से उत्पन्न होनेवाली और विवर्णता तथा नीचा-मुख आदि अनुभावों को उत्पन्न करनेवाली जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति है उसे 'व्रीडा' कहते हैं। जैसे—

कुच-कलशयुगान्तर्मामकीनं नखाङ्कं
सपुलकतनु मन्दं मन्दमालोकमाना।
विनिहितवदनं मां वीक्ष्य बाला गवाक्षे
चकितनतनताङ्गी सद्म सद्यो विवेश ॥

× × × ×

कुच-कलशन जुग बीच भयो जो मेरो नख-छत ।
पुलक-सहित तन, मंद-मंद तेहिं रही विलोकत ॥
ताहि समय मुहिं देखि गोख में दीन्हे आनन ।
चकित, नमाइ सरीर, सदन महँ प्रविशी तत-छन॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—कलशों के समान दोनों कुचों के मध्य में जो मेरे नख का क्षत हो गया था—नख उभड़ आया था—उसे वह (नायिका) पुलकितांगी होकर धीरे-धीरे देख रही थी; पर, ज्योंही उसने झरोखे में मुख डाले हुए मुझे देखा त्योंही चकित हो गई और शरीर बिलकुल संकुचित करके—सिमिटकर—तत्काल घर में जा घुसी ।

यहाँ नायिका को प्रियतम का दिखाई देना और उसके कुचों के भीतर प्रियतम के नख-क्षत के देखने से उत्पन्न हुए हर्ष की सूचना देनेवाले रोमांच आदि का प्रियतम को दीख जाना विभाव है तथा 'तत्काल घर में घुस जाना' अनुभाव है । अथवा जैसे—

निरुद्ध्य यान्तीं तरसा कपोतीं कूजत्कपोतस्य पुरो दधाने ।
मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं सा मन्दमन्दं नमयाम्बभूव ॥

× × × ×

धरत मोहिं, कूजत कपोत-ढिंग, रोकि कपोतिहिं ।
देखि, कछुक मुसक्याइ, मुखाम्बुज नाइ लियो तिहिं ॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—मैंने जाती हुई कबूतरी को, बलात् रोका और (कामातुरता के कारण) कूजते हुए कबूतर के सामने धर दिया; यह देखकर उस (नायिका) ने, मन्द हास से भीने, मुख-कमल को धीरे-धीरे नीचा कर लिया ।

पहले उदाहरण में जैसे कुछ त्रास की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार यहाँ भी किंचिन्मात्र हर्ष अभिव्यक्त होता है; पर वह लज्जा के अनुकूल ही है—उससे उसकी पुष्टि ही होती है। 'प्यारे का कबूतर के आगे कबूतरी धरना' विभाव है और 'मुँह नीचा करना' अनुभाव।

४—मोह

भय-वियोग आदि से जो एक ऐसी चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है कि जिसके कारण वस्तु की यथार्थता को पहचानना असंभव हो जाता है—मनुष्य-आदि के सामने खड़े रहने पर भी वह अमुक है यह नहीं पहचाना जा सकता—उसका नाम 'मोह' है, जो कि अन्तःकरणशून्यता के नाम से पुकारी जानेवाली चिन्ता है। अर्थात् जिस चिन्ता में कुछ नहीं सूझता उसे मोह कहा जाता है। अतएव नवीन विद्वानों का मत है कि यह भी चिन्ता ही है, केवल अवस्था का भेद है। अर्थात् चिन्ता ही जब इस दशा को पहुँच जाती है कि सूझना-साझना बन्द हो जाय, तो उसे मोह कहते हैं; इस कारण इसे चिन्ता से पृथक् नहीं गिनना चाहिए। उदाहरण लीजिए—

विरहेण विकलहृदया विलपन्ती 'दयित दयिते'ति।
आगतमपि तं सविधे परिचयहीनेव वीक्षते बाला॥

× × × ×

बिरह-महानल विकल हिय पिय-पिय कहि बिललात।
निकटहु आए अपरिचित-लौं तेहिं दयित दिखात॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—उस (नायिका) का हृदय विरह के मारे विकल हो गया है और 'प्यारे प्यारे' पुकारती हुई वह, पास में आए हुए भी प्रिय को, इस तरह देख रही है कि मानो उसे जानती ही न हो।

यहाँ 'पति का वियोग विभाव' है तथा 'इन्द्रियों की विकलता' और 'लज्जादिक का अभाव' अनुभाव हैं। अथवा जैसे—

शुण्डादण्डं कुण्डलीकृत्य कूले
कल्लोलिन्याः किञ्चिदाकुञ्चिताक्षः ।
नैवाऽऽकर्षत्यम्बु नैवाऽम्बुजालिं
कान्तापेतः कृत्यशून्यो गजेन्द्रः ॥

× × × ×

किए सूँड कुंडल-सरिस ऊँघत तटिनी-तीर ।
कामिनि बिन जड गज गहत ना नीरज ना नीर ॥

एक दर्शक कहता है कि—हथिनी से वियुक्त हाथी निश्चेष्ट होकर, सूँड को गोल किए हुए और आँखों को सिकोड़े हुए नदी के तट पर तो खड़ा है, पर न जल को खींचता है न कमलों की पंक्ति को।

५—धृति

जिस चित्तवृत्ति के कारण लोभ, शोक और भय आदि से उत्पन्न होनेवाले उपद्रव शान्त हो जाते हैं, उसका नाम 'धृति' है। उदाहरण लीजिए—

सन्तापयामि हृदयं धावं धावं धरातले किमहम् ।
अस्ति मम शिरसि सततं नन्दकुमारः प्रभुः परमः ॥

× × × ×

धाइ-धाइ हौं धरनि-तल हिय तपात केहिं काज ।
राजत मम सिर सरबदा प्रभुवर श्रीव्रजराज ॥

एक भक्त कहता है कि—मैं पृथिवीतल में दौड़ दौड़कर क्यों अपने हृदय को संतप्त कर रहा हूँ। मेरे सिर पर परम प्रभु, सब स्वामियों के स्वामी, नन्दनन्दन सर्वदा विराजमान हैं—मुझे क्या चिन्ता है, वे अपने-आप सँभाल लेंगे।

यहाँ 'विवेक' और 'शास्त्र-संपत्ति' आदि विभाव हैं और 'चपलता आदि की निवृत्ति' अनुभाव है।

यदि आप कहें कि यहाँ उत्तरार्ध से तो यही बात व्यक्त होती है कि 'मुझे चिन्ता नहीं है', फिर इस पद्य को धृति-भाव की ध्वनि कैसे बताते हो, तो इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त बात धृति-भाव के लिये उपयुक्त होकर ही अभिव्यक्त होती है—अर्थात् उससे धृति की प्रतीति में सहायता मिलती है, अतः इसका अलग अड़ंगा नहीं समझा जा सकता।

६—शङ्का

'मेरा क्या अनिष्ट होगा' यह जो एक प्रकार की चित्त-वृत्ति है उसका नाम 'शङ्का' है। उदाहरण लीजिए—

विधिवञ्चितया मया न यातम्,
सखि ! सङ्केतनिकेतनं प्रियस्य।
अधुना बत ! किं विधातुकामो
मयि कामो नृपतिः पुनर्न जाने ॥

× × × ×

विधि-वञ्चित हौं ना गई सखि ! संकेत-निकेत।
अब जानें मम मदन-नृप कहा करै इहि हेत ॥

नायिका सखी से कहती है कि—हे सखी ! विधाता ने मुझे धोखा दिया और मैं अपने प्यारे के संकेत-स्थान पर न जा सकी। अब भय

है कि, न जाने, महाराज कामदेव, मेरे विषय में, क्या करना चाहते हैं।

यहाँ 'राजा (कामदेव) का अपराध विभाव' है और ऊपर से समझ लिए गए 'मुँह का फीका पड़ना' आदि अनुभाव हैं।

इसमें और चिन्ता में यही भेद है कि यह भय आदि उत्पन्न करती है, अतः कंप-आदि का कारण है, परन्तु चिन्ता उन्हें उत्पन्न नहीं करती।

७—ग्लानि

मानसिक कष्ट और रोग आदि के कारण जो निर्बलता उत्पन्न हो जाती है उससे उत्पन्न होनेवाला एवं विवर्णता, अंगों की शिथिलता और नेत्रों के फिरने लगने आदि अनुभावों को उत्पन्न करनेवाला जो एक प्रकार का दुःख है उसे 'ग्लानि' कहते हैं। जैसे—

शयिता शैवलशयने सुषमाशेषा नवेन्दुलेखेव।
प्रियमागतमपि सविधे सत्कुरुते मधुरवीक्षणैरेव॥

× × ×

कान्ति-शेष शशि-रेख सम सोई सेवल-सेज।
मधुर चितौननि हीं सविध थित पिय रही सहेज॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—जिसमें केवल कान्ति ही बच रही हो ऐसी नवीन चन्द्र-कला के समान, सेवाल की सेज पर सोई हुई, वह सुन्दरी समीप में आए हुए भी पति का केवल मधुर चितवनों से ही सत्कार कर रही है।

यहाँ 'प्रेमी का विरह' विभाव है और 'मधुर चितवनों से ही' यहाँ 'ही' के द्वारा समझाई हुई 'स्वागत के लिये सामने जाने, प्रणाम करने और आलिंगन करने आदि की निवृत्ति' अनुभाव है। यहाँ श्रम-भाव की शंका करना उचित नहीं; क्योंकि यहाँ किसी भी श्रमोत्पादक कारण का वर्णन नहीं है।

कुछ विद्वान् "रोगादि से उत्पन्न होनेवाले बल के नाश को ही 'ग्लानि' " कहते हैं। पर, उनके मत में यह बात विचारने योग्य है कि—जितने भाव हैं, वे सब चित्त-वृत्तिरूप हैं, फिर उनमें नाश (अभाव) रूप ग्लानि का समावेश कैसे होगा? अतः उनका यह कथन कुछ जँचता नहीं। यद्यपि प्राचीन आचार्यों के "**बलस्याऽपचयो ग्लानिराधिव्याधिसमुद्भवः**—अर्थात् मानसिक कष्ट और रोगों से उत्पन्न होनेवाले बल के अपचय का नाम 'ग्लानि' है" इस लक्षण में 'अपचय' शब्द से नाश का ही बोध होता है, तथापि पूर्वोक्त अनुपपत्ति के कारण, बल के नाश से उत्पन्न होनेवाले दुःख को ही 'बल का अपचय' इस शब्द से कहना अभीष्ट है, यह समझना चाहिए।

८—दैन्य

दुःख, दरिद्रता तथा अपराध आदि से उत्पन्न हुई और 'अपने-आप के विषय में हीन-शब्द बोलने' आदि अनुभावों को उत्पन्न करनेवाली एक प्रकार की चित्तवृत्ति 'दैन्य' कहलाती है। उदाहरण लीजिए—

हतकेन मया वनान्तरे वनजाक्षी सहसा विवासिता।
अधुना मम कुत्र सा सती पतितस्येव परा सरस्वती॥

× × × ×

सहसा, मैं हत, दीन्ह वन कमल-नयनि निकराय।
पतितहिं श्रुति-सम वह सती मोहिं कहाँ अब हाय!

मेरी बुद्धि मारी गई, मैंने कमल-नयनी (सीता) को जंगल में निकाल दिया। अब, वह पतिव्रता, पतित पुरुष को वेद-वाणी की तरह, मुझे कहाँ प्राप्त हो सकती है! यह सीता के परित्याग के अनंतर भगवान् रामचंद्र का वचन है।

यहाँ 'सीता का परित्याग' अथवा 'परित्याग करने से उत्पन्न हुआ दुःख' विभाव है और 'पतित के समान बताना' रूपी जो अपने विषय में हीनता का भाषण है सो अनुभाव है। दैन्यभाव के विषय में लिखा है कि—

चित्तौत्सुक्यान्मनस्तापाद्दौर्गत्याच्च विभावतः ।
अनुभावात्तु शिरसोऽप्यावृत्तेर्गात्रगौरवात् ॥
देहोपस्करणत्यागाद् दैन्यं भावं विभावयेत् ॥

अर्थात् चित्त की उत्सुकता, मन का ताप और दरिद्रता इन विभावों से और सिर हिलाना, शरीर का भारीपन और देह के सजाने का त्याग इन अनुभावों से 'दैन्य-भाव' को पहचान लेना चाहिए। और यह कि—

दौर्गत्यादेरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत् ।

अर्थात् दरिद्रता आदि के कारण जो ओजस्विता का अभाव हो जाता है, उसे 'दैन्य' कहते हैं। वह मलिनता-आदि को उत्पन्न करता है।

यहाँ 'मैंने उसे निकाल दिया है, 'न कि विधाता ने'—इस बात की पुष्टि 'पतित की उपमा' से ही होती है, शूद्रादिक की उपमा से नहीं; क्योंकि शूद्रादिक के लिये तो विधाता ने स्वभावतः ही श्रुति दुर्लभ कर दी है; उनको उसके पढ़ने का अधिकार ही नहीं प्राप्त है। पर, ब्राह्मणादिक जो पतित हो जाते हैं, उनको स्वभावतः तो श्रुति सुलभ थी; किंतु उन्होंने वैसा पाप करके, अपने-आप, श्रुति को दूर कर दिया है। इस कारण, अपनी (श्रीराम की) 'पतित से समानता' और श्री सीता की 'श्रुति से समानता', यह जो उपमालंकार है, वह दैन्य-भाव को अलंकृत करता है। सो वह भी दैन्य-भाव का ही पोषक है।

यहाँ 'मैंने' और 'उसे' इन दोनों पदों में उपादानलक्षणा है, जिसके कारण 'मैंने' का 'जिसे उसने अत्यन्त क्लेश में भी न छोड़ा उस मैंने' यह, और 'उसे' का 'वन-वास की सहचरी उसे' यह अर्थ ध्वनित होता है, जिससे अपनी कृतघ्नता और उसकी कृतज्ञता एवं अपनी निर्दयता और उसकी दयालुता आदि अनेक धर्म ध्वनित होते हैं, जिनसे दैन्य-भाव और भी पुष्ट हो जाता है। इसी तरह 'उसे' शब्द के द्वारा जो स्मृति की थोड़ी-सी प्रतीति होती है उससे भी 'दैन्य' भाव की पुष्टि होती है। अतः यहाँ दैन्य भाव ही प्रधान व्यंग्य है, कृतघ्नता आदि व्यंग्य गुणीभूत हैं। इसलिये यहाँ दैन्य-ध्वनि है।

९ — चिन्ता

वांछित वस्तु के प्राप्त न होने और अनिष्ट वस्तु के प्राप्त हो जाने से उत्पन्न होनेवाली और विवर्णता, भूमि का लिखना और मुख का नीचा हो जाना आदि अनुभावों को उत्पन्न करनेवाली एक प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम 'चिन्ता' है। जैसा कि कहा है—

> **विभावा यत्र दारिद्र्यमैश्वर्यभ्रंशनं तथा।**
> **इष्टार्थापहृतिः, शश्वच्छ्वासोच्छ्वासावधोमुखम्॥**
> **सन्तापः, स्मरणं चैव कार्श्यं देहानुपस्कृतिः।**
> **अधृतिश्चाऽनुभावाः स्युः सा चिन्ता परिकीर्त्तिता॥**
> **वितर्कोऽस्याः क्षणे पूर्वे पाश्चात्ये वोपजायते॥**

अर्थात् जिसमें दरिद्रता, ऐश्वर्य (राज्यादिक) से च्युत हो जाना, और वांछित वस्तु का अपहरण विभाव हो, और निरंतर श्वास तथा उच्छ्वास, नीचा मुख, संताप, स्मरण, दुर्बलता, देह को न सजाना और और धैर्य का अभाव ये अनुभाव हों उसे 'चिन्ता' कहा जाता है।

इसके पहले अथवा पिछले क्षण में वितर्क (जिसका लक्षण आगे आवेगा) उत्पन्न हुआ करता है। और यह कि—

ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः सन्तापादिकरी मता।

अर्थात् लाभदायी वस्तु के प्राप्त न होने से जो विचार होता है उसे 'चिन्ता' कहते हैं, और वह सन्ताप आदि को उत्पन्न करती है। उदाहरण लीजिए—

अधरद्युतिरस्तपल्लवा, मुखशोभा शशिकान्तिलङ्घिनी।
अकृतप्रतिमा तनुः कृता विधिना कस्य कृते मृगीदृशः॥

× × × ×

पल्लवजयिनी अधर-द्युति मुख - छवि ससि-सिरताज।
अनुपम तन मृगनयनि को किय विधना केहिँ काज॥

नायक मन में कह रहा है कि—विधाता ने मृगनयनी के, यह पल्लवों की शोभा को पराजित करनेवाली अधरों की कान्ति, चन्द्रमा की छवि को उल्लंघन करनेवाली मुख की शोभा तथा जिसके सदृश कोई नहीं उत्पन्न किया गया वह शरीर, किसके लिये बनाए हैं।

यहाँ 'नायिका का न प्राप्त होना' विभाव है और, ऊपर से समझ लिए गए, 'पश्चात्तापादिक' अनुभाव हैं।

यहाँ 'यह पद्य उत्सुकता की ध्वनि है' यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि (पद्य के) 'किसके लिये' इस कथन से किसी अनिश्चित व्यक्ति के विषय में होनेवाली चिन्ता ही ध्वनित होती है; इस कारण, यद्यपि यहाँ उत्सुकता विद्यमान है, तथापि वह इस वाक्य के द्वारा प्रधानतया नहीं बोधित होती।

१०—मद

मद्य-आदि के उपयोग से उत्पन्न होनेवाली और शयन-रोदन-आदि अनुभावों को उत्पन्न करनेवाली उल्लास-नामक जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति है, उसे 'मद' कहते हैं। जैसा कि कहा गया है—

संमोहानन्दसंभेदो मदो मद्योपयोगजः ।

अर्थात् संमोह और आनन्द के मिश्रण का नाम मद है और वह मद्य के उपयोग से उत्पन्न होता है।

मद के उत्पन्न होने पर उत्तम पुरुष सोता है, मध्यम पुरुष हँसता और गाता है और नीच पुरुष रोता तथा गाली वगैरह देता है* ।

यह मद तीन प्रकार का है—तरुण, मध्यम और अधम । उनमें से, जिसमें अक्षरों की अस्पष्टता, वाक्यों की असंबद्धता और अत्यन्त मृदु तथा फिसलती हुई चाल का अभिनय किया जाता है, वह तरुण-मद कहलाता है। जिसमें हाथों के फटकारने, फिसल पड़ने और घूमने आदि

*** यद्यपि यह कथन 'काव्य-प्रदीप' के—**

उत्तमसत्त्वः प्रहसति, गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृतिः ।

परुषवचनाभिधायी शेते रोदित्यधमसत्त्वः ॥

अर्थात् मद के कारण उत्तम प्रकृति का पुरुष हँसता है, मध्यम प्रकृति का पुरुष गाता है और अधम प्रकृति का पुरुष गालियाँ देता है, सोता है और रोता है।—इस वचन से विरुद्ध है। तथापि अनुभव 'रसगंगाधर-कार' के ही मत को पुष्ट करता है; क्योंकि नशे में हँसना उत्तम-पुरुष का काम नहीं। उसे यदि नशे का अधिक चक्कर हुआ तो वह सो जायगा इत्यादि सहृदयों के प्रत्यक्ष से सिद्ध है।—अनुवादक।

का अभिनय किया जाता है, वह मध्यम-मद होता है और जिसमें गति रुक जाने, स्मृति नष्ट हो जाने और हिचकी तथा वमन होने आदि का अभिनय किया जाता है, वह अधम मद होता है। उदाहरण लीजिए—

मधुरतरं स्मयमानः स्वस्मिन्नेवाऽलपन् शनैः किमपि।
कोकनदयंस्त्रिलोकीमालम्बनशून्यमीक्षते क्षीबः॥

× × × ×

मधुर-मधुर कछु-कछु हँसत करत मनहि-मन बात।
निरालंब देखत अरुन-बरन जगत मद-मात॥

अत्यन्त मधुर रूप में थोड़ा-थोड़ा हँसता हुआ और अपने-आप ही कुछ भी धीरे-धीरे बोलता हुआ एवं त्रिलोकी को—आँखों की ललाई के कारण—रक्त-कमल-सी बनाता हुआ मदमत्त मनुष्य देख रहा है; पर उसे पता नहीं कि वह क्या देखना चाहता है।

यहाँ मादक वस्तु का सेवन विभाव है और स्पष्ट बोलना-आदि अनुभाव हैं। इस पद्य में जो मत्त पुरुष के स्वभाव का वर्णन किया गया है, वह उसके मद को ध्वनित करने के लिये किया गया है, इस कारण मद-भाव ही प्रधान है, 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार नहीं, किन्तु वह मद की ध्वनि को शोभित करनेवाला ही है।

(पर, यदि कहो कि 'क्षीब' शब्द का अर्थ 'मत्त' है, अतः उसमें विशेषण रूप से मद भी आ जाता है; और यह सिद्धांत है कि 'जिसमें किसी प्रकार भी वाच्य-वृत्ति का स्पर्श न हो, वही व्यंग्य चमत्कारी होता है' तो हम स्वीकार करते हैं, कि यहाँ 'स्वभावोक्ति' अलंकार को ही प्रधान मानना उचित है, मद-भाव की ध्वनि को नहीं; अतः) दूसरा उदाहरण लीजिए—

मधुरसान्मधुरं हि तवाऽधरं तरुणि ! मद्वदने विनिवेशय ।
मम गृहाण करेण कराम्बुजं प-प-पतामि हहा ! भ-भ-भूतले ॥

× × × ×

मधुर मधु हु ते तुव अधर मो-मुख दै लउँ चूमि ।
मम कर-अम्बुज कर पकरु प-प-प-परयो भ-भ भूमि ॥

नायक नायिका से कहता है—हे तरुणि ! मधु के रस से भी मधुर अपने अधर को मेरे मुँह में डाल दे और मेरे कर-कमल को अपने हाथ में पकड़ ले; देख तो, ज-ज जमीन पर प-प पड़ा जा रहा हूँ ।

यहाँ भी वही (मादक वस्तु का सेवन ही) विभाव है और 'अधिक वर्ण बोलना' आदि अनुभाव हैं । पूर्वार्ध का ग्राम्य-वचन और उत्तरार्ध में 'स्त्री के हाथ को कमल की उपमा देने के स्थान पर अपने हाथ को उसकी उपमा देना' भी 'मद-ध्वनि' का ही पोषण करते हैं ।

११—श्रम

अत्यंत शारीरिक कार्य करने से उत्पन्न होनेवाला एवं निःश्वास, अँगड़ाई तथा निद्रा आदि को उत्पन्न करनेवाला जो एक प्रकार का खेद होता है उसे 'श्रम' कहते हैं । जैसा कि कहा गया है—

अध्वव्यायामसेवाद्यैर्विभावैरनुभावकैः ।
गात्र-संवाहनैरास्य-सङ्कोचैरङ्ग-मोटनैः ॥
निःश्वासैर्जृम्भितैर्मन्दैः पादोत्क्षेपैः श्रमो मतः ।

अर्थात् मार्ग में चलना, व्यायाम करना और सेवा आदि विभावों से और शरीर दबवाना, मुँह सिकुड़ जाना, अँगड़ाइयाँ, निःश्वास, उबासियाँ और धीरे-धीरे पैर पछाड़ना—इन अनुभावों से श्रम समझा जाता है । अथवा यह कि—

श्रमः खेदोऽध्वगत्यादेर्निद्राश्वासादिकृन्मतः।

अर्थात् मार्ग में चलने-आदि से जो खेद होता है उसे 'श्रम' कहते हैं और वह निद्रा, निःश्वास आदि उत्पन्न करता है।

यह बल के विद्यमान होने पर भी उत्पन्न हो जाता है और शारीरिक कार्यों से ही होता है, किन्तु ग्लानि इस तरह नहीं होती, अतः ग्लानि का श्रम से भेद है। उदाहरण लीजिए—

विधाय सा मद्वदनानुकूलं कपोलमूलं हृदये शयाना।
चिराय चित्रे लिखितेवत न्वी न स्पन्दितुं मन्दमपि क्षमासीत्।

× × ×

हिय सोई, करि ग्रीव मम मुँह-समुहै, बल-छीन।
चित्र-लिखित-सी सुचिर लौं रंच हु विचल सकी न॥

नायक अपने किसी मित्र के सामने विपरीत-सुरत के अनन्तर की स्थिति का वर्णन कर रहा है। वह कहता है कि—वह कृशाङ्गी अपनी गरदन के अगले हिस्से को मेरे मुँह के सामने करके मेरे हृदय पर सो रही और चित्र में लिखी हुई की तरह, बहुत देर तक, थोड़ी भी न हिल सकी।

यहाँ विपरीत-सुरतरूपी शारीरिक कार्य विभाव है और बिना हिले सोए रहना-आदि अनुभाव।

यहाँ यह शंका न करनी चाहिए कि यह पद्य निद्रा-भाव को ध्वनित करके गतार्थ हो जाता है, क्योंकि यदि निद्रा होती तो उसमें मनुष्य को ज्ञान नहीं रहता इस कारण चेष्टा का अभाव होता और 'थोड़ा भी न हिल सकी' इस कथन का कोई भी विशेष प्रयोजन नहीं रहता। दूसरे, 'शयाना' अथवा 'सोई' इस कथन से निद्रा वाच्य हो जाती है,

सो वह व्यंग्य हो भी नहीं सकती। रहा श्रम, सो उसके लिये तो इनका (विभावादिकों का) अनुकूल होना उचित है।

१२--गर्व

रूप, धन और विद्या-आदि के कारण अपने उत्कर्ष का ज्ञान होने से दूसरे की अवज्ञा करने को 'गर्व' कहते हैं। उदाहरण लीजिए—

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥

× × ×

मेरुमूल ते मलय-बलय-मय जलधि तीर तक।
जेते कविता-कर्म-निपुण ते कहैं छाँड़ि सक॥—
निकरत द्राक्षामध्यभाग जो चिकनी रस-झर।
तिनको अति-माधुर्य भाग्य में जिनके निरभर॥
तिन बानिन को सकल-जग-वंदित जो आचार्य-पद।
तेहिं कहु मोते अन्य को धन्य भोगिहै लहि प्रमद॥

एक कविजी (पण्डितराज) कहते हैं कि—सुमेरु पर्वत की तरहटी से लेकर मलयाचल से घिरे हुए समुद्र के तट तक, जितने कविता करने में चतुर पुरुष हैं, वे साफ़-साफ़ कहें कि--दाखों के अन्दर से निकलने-वाली चिकनी रसधारा की मधुरता का भाग्य जिन्हें प्राप्त है--अर्थात् जो उनके समान मधुर हैं उन वाणियों के आचार्य-पद का अनुभव करने के लिये मेरे अतिरिक्त और कौन पुरुष धन्य है—यह सौभाग्य और किसे प्राप्त हो सकता है? उसका अधिकारी तो एक मैं ही हूँ।

यहाँ अपनी कविताओं को अन्य कविताओं के समान न समझना—सबसे उत्कृष्ट समझना—विभाव है, और अन्य कवियों का तिरस्कार करने के अभिप्राय से इस तरह के वाक्य का प्रयोग करना अनुभाव है। इस (गर्व) को किसी अंश में असूया भी पुष्ट करती है।

'वीर-रस' की ध्वनि में उत्साह प्रधान होता है और गर्व गुप्त रहता है; और इस ध्वनि में गर्व प्रधान रहता है। यही उससे इसमें विशेषता है। जैसे—वीर-रस के प्रसंग में जो 'यदि वक्ति गिरां पतिः स्वयम्...', यह उदाहरण दिया गया है उसमें 'बृहस्पति और सरस्वती के साथ मैं वाद करूँगा' इस कथन से जो उत्साह ध्वनित होता है उसको 'सब पण्डितों से मैं अधिक हूँ' इस रूप में ध्वनित होनेवाला गर्व पुष्ट करता है, न कि उपर्युक्त पद्य की तरह पृथिवी पर मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है' इस प्रकार स्पष्ट वर्णन किएहुए चिढ़ा देनेवाले वचनरूपी अनुभाव से प्रधानतया प्रतीत होता है।

१३—निद्रा

श्रम-आदि के कारण जो चित्त का मुँद जाना है उसे 'निद्रा' कहते हैं। नेत्रों का मिच जाना, अंगों का निश्चेष्ट हो जाना-आदि इसके अनुभाव हैं। उदाहरण लीजिए—

सा मदागमनबृंहिततोषा जागरेण गमिताखिलदोषा।
बोधिताऽपि बुबुधे मधुपैर्न प्रातराननजसौरभलुब्धैः॥

× × × ×

मम आवन ते मुदित वह जागि गमाई रात।
मुख-सौरभ-लोभी मधुप बोधेहु जगी न प्रात॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—मेरे आ जाने से उसकी प्रसन्नता में बाढ़ आ गई और उसने सब रात जागरण करके बिताई।

प्रातःकाल के समय मुख की सुगन्ध के लोभी भौंरों के जगाने पर भी वह न जग सकी।

यहाँ रात्रि में जगने का श्रम विभाव है और भौंरों के जगाने पर भी न जगना अनुभाव है।

१४—मति

शास्त्रादि के विचार से जो किसी बात का निर्णय कर लिया जाता है उसे 'मति' कहते हैं। इसमें निर्भय होकर उस काम को करना और संदेह नष्ट हो जाना-आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण लीजिए—

निखिलं जगदेव नश्वरं पुनरस्मिन्नितरां कलेवरम्।
अथ तस्य कृते कियानयं क्रियते हन्त! मया परिश्रमः॥

× × × ×

नासमान सब जगत ही तामें पुनि यह काय।
तेहिं हित कितनो करत मैं यह महान श्रम हाय!

एक विरक्त पुरुष कहता है कि—(प्रथम तो) सब जगत् ही विनाशशील है—उसकी कोई वस्तु स्थिर नहीं। और, फिर जगत् में भी यह शरीर सबसे अधिक विनाशशील है—इसका कुछ भी पता नहीं कि यह आज या कल भी रह सकेगा। मुझे खेद है कि मैं उसके लिये यह कितना परिश्रम कर रहा हूँ।

यहाँ **"शरीरमेतज्जलबुद्बुदोपमम्** (अर्थात् यह शरीर जल के बबूले के समान है)" इत्यादि शास्त्र की पर्यालोचना विभाव है, और 'हंत'-पद से प्रतीत होनेवाली अपनी निंदा, राज-सेवा-आदि का त्याग और तृष्णा की शून्यता-आदि अनुभाव हैं। यहाँ झट से मति-भाव का

ही चमत्कार प्रतीत होता है, सो इस पद्य को 'ध्वनि' कहे जाने का कारण वही है, शान्त-रस नहीं; क्योंकि वह विलंब से प्रतीत होता है।

१५—व्याधि

रोग और वियोग आदि से उत्पन्न होनेवाला जो मन का ताप है, उसे 'व्याधि' कहते हैं। इसमें अंगों की शिथिलता और श्वास-आदि अनुभाव होते हैं। जैसा कि लिखा है—

एकैकशो द्वन्द्वशो वा त्रयाणां वा प्रकोपतः।
वातपित्तकफानां स्युर्व्याधयो ये ज्वरादयः॥
इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयते।

अर्थात् वात, पित्त और कफ नामक दोषों के, एक-एक, दो-दो अथवा तीनों के, प्रकोप से जो ज्वर-आदि रोग उत्पन्न होते हैं, उनसे उत्पन्न हुई चित्तवृत्ति का नाम, साहित्यशास्त्र में, 'व्याधि' कहा जाता है। उदाहरण लीजिए—

हृदये कृतशैवलानुषङ्गा मुहुरङ्गानि यतस्ततः क्षिपन्ती।
तदुदन्तपरे मुखे सखीनामतिदीनामियमादधाति दृष्टिम्॥

× × × ×

हिय सेवालनि धारि, अँग इत-उत डारति, छीन।
पिय-बातनि रत सखिन मुख देत दीठि अति-दीन॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—सेवालों को हृदय से चिपटाए हुए, अंगों को इधर-उधर पटकती हुई, यह (नायिका) उस (प्यारे) की बातों में तत्पर सखियों के मुख पर अपनी अत्यन्त कातर दृष्टि डाल रही है—उनकी तरफ बड़ी दीनता से देख रही है।

यहाँ 'विरह' विभाव है और 'अंगों का पटकना-आदि' अनुभाव।

१६—त्रास

डरपोक मनुष्य के हृदय में व्याघ्रादि भयंकर जन्तुओं के देखने और बिजली की कड़क सुनने-आदि से जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है उसे 'त्रास' कहते हैं। इसके अनुभाव रोमाँच, कँपकपी, निश्चेष्टता और भ्रम-आदि हैं। जैसा कि कहा गया है—

औत्पातिकैर्मनःक्षेपस्त्रासः कम्पादिकारकः।

अर्थात् उत्पातकारी वस्तुओं से जो मन का विक्षेप होता है, उसे 'त्रास' कहते हैं और वह कम्प-आदि को उत्पन्न करता है। उदाहरण लीजिए—

आलीषु केलीरभसेन बाला मुहुर्ममालापमुपालपन्ती।
आरादुपाकर्ण्य गिरं मदीयां सौदामनीयां सुषमामयासीत्॥

× × × ×

बाल बात मम सखिन बिच बार-बार बतरात।
दूरहि ते मम सबद सुनि लहि बिजुरी-दुति तात॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—बालिका क्रीड़ा के जोश में आकर, सखियों में, मेरी बात-चीत को दुहरा-दुहराकर कह रही थी; पर, दूर से, ज्योंही मेरी आवाज सुनी, तत्काल बिजली का सा चमका कर गई—देखते-देखते ओझल हो गई।

यहाँ 'पति का अपनी बातें सुन लेना' विभाव है और 'भग जाना' अनुभाव।

'इस पद्य में लज्जा व्यंग्य है' यह शंका न करनी चाहिए; क्योंकि 'बाला' शब्द के प्रयोग से बालकपन के कारण लज्जा आपही निवृत्त हो

जाती है अर्थात् बाल्यावस्था में लज्जा नहीं, किन्तु त्रास ही हुआ करता है।

पर, यदि कहो कि यहाँ बाला-पद से नायिका के शिशुत्व का बोध कराना अभीष्ट नहीं है, किन्तु उससे नायिका की विशेषता (अल्पवयस्कता) सूचित होता है; तो यह उदाहरण लीजिए—

मा कुरु कशां कराब्जे करुणावति ! कम्पते मम स्वान्तम् ।
खेलन्न जातु गोपैरम्ब ! विलम्बं करिष्यामि ॥

× × ×

करु न कोररा कर, कँपत हिय, करुनावति अम्ब !
गोपन सँग खेलत कबहुँ करिहौं अब न विलंब ॥

अरी दयावती ! तू अपने कर-कमल में कोरड़ा न ले, मेरा हृदय धड़क रहा है। मैया ! गुआलों के साथ खेलते हुए अब कभी विलंब न करूँगा।

यह लीला से गोपकिशोर बने हुए भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की उक्ति है।

१७—सुप्त

निद्रारूपी विभाव से उत्पन्न हुए ज्ञान का नाम 'सुप्त' है; जिसे आप 'स्वप्न' कह सकते हैं। इसके अनुभाव हैं बड़बड़ाना-आदि।

नेत्र मींचना-आदि तो निद्रा के ही अनुभाव हैं, इसके नहीं; क्योंकि वे स्वप्न के कारण नहीं होते और जो प्राचीन आचार्यों ने "अस्याऽनुभावा निभृतगात्रनेत्रनिमीलनम् (अर्थात् इसके अनुभाव शरीर की निश्चेष्टता और नेत्र-मींचना हैं)" इत्यादि लिखा है, सो वे अनुभाव यद्यपि निद्रा के कारण अन्यथासिद्ध हैं अर्थात् वे केवल स्वप्न में ही नहीं रहते, किंतु बिना स्वप्न के केवल निद्रा में भी रहते हैं; तथापि इस भाव में भी वे व्यापकरूप से रहते हैं—यह भाव भी उनसे खाली नहीं

है; इस कारण लिख दिए गए हैं। सो यह आप भी सोच सकते हैं। उदाहरण लीजिए—

'अकरुण ! मृषाभाषासिन्धो ! विमुञ्च ममाञ्चलम्,
तव परिचितः स्नेहः सम्यङ् मम' त्यभिभाषिणीम् ॥
अविरलगलद्बाष्पां तन्वीं निरस्तविभूषणां,
क इह भवतीं भद्रे ! निद्रे ! विना विनिवेदयेत ॥

× × ×

'हे झूँठन सिरमौर ! निर्दयी ! तजु मम अंचल,
तेरो जान्यो नेह भलैं मैं' यों कहती कल ॥
अविरल आँसुन धार झरति कृशतन गतभूषन ।
प्यारिहिं तो बिन नींद ! करै को देवि ! निवेदन ॥

'हे दयाहीन ! हे मिथ्या-भाषणों के समुद्र ! मैंने तुम्हारे प्रेम को अच्छी तरह पहचान लिया। तुम मेरा पल्ला छोड़ दो।' इस तरह कहती हुई और अविरल अश्रुधारा बहाती हुई भूषणरहित कृशांगी को हे कल्याणकारिणी निद्रे ! तेरे बिना कौन मिला सकता है ! देवि ! इस तरह मिला देने का सौभाग्य केवल तुझे ही प्राप्त है। यह स्वप्न में भी इस तरह कहती हुई प्रियतमा को देखनेवाले किसी विदेशगत नायक की उक्ति है।

यद्यपि यहाँ "हे निद्रे ! तैंने प्यारी की इस तरह की अवस्था का निवेदन करके मेरा महान् उपकार किया है" यह बात और विप्रलंभ शृंगार दोनों प्रतीति में आ जाते हैं, तथापि प्रथम स्वप्न की ही स्फूर्त्ति होती है, अतः इस पद्य में स्वप्न के ध्वनित होने का उदाहरण दिया गया है; परंतु यदि इसी पद्य से अंत में वे दोनों भी ध्वनित होते हैं तो स्वप्न की अभिव्यक्ति उन्हें रोक नहीं सकती।

१८—विबोध

निद्रा के नष्ट होने के अनंतर जो बोध उत्पन्न होता है, उसे 'विबोध' कहते हैं।

निद्रा का नाश निद्रा के पूरे हो जाने, स्वप्न का अंत हो जाने और बलवान् शब्द तथा स्पर्श से होता है, इस कारण वे ही इसके विभाव हैं और 'आँखें मलना', 'अँगड़ाई लेना' आदि अनुभाव हैं। संक्षेप से उदाहरण लीजिए—

नितरां हितयाऽद्य निद्रया मे बत ! यामे चरमे निवेदितायाः।
सुदृशो वचनं शृणोमि यावन्मयि तावत्प्रचुकोप वारिवाहः॥

× × ×

पहर पाछले सुनयनिहिं नींद मिलाई आज।
वचन-स्रवन पूरब कुपित भयो जलद बिन काज॥

नायक अपने मित्र से कहता है—आनंद का विषय है कि मेरा हित चाहनेवाली निद्रा ने, पिछले पहर में अर्थात् सबेरा होते-होते, मुझसे मेरी प्रिया को मिलाया; पर ज्योंही मैं उसका वचन सुनता हूँ, त्योंही मेरे ऊपर जलधर कुपित हो गया—उसने गरजकर सब मज़ा किरकिरा कर दिया।

यहाँ 'गर्जना सुनना' विभाव है और 'प्रिया के वचन सुनने के लिये जो उल्लास हुआ था उसका नाश अनुभाव है; पर उसे तर्कना द्वारा समझ लेना चाहिए, उसका यहाँ स्पष्ट शब्दों में वर्णन नहीं है।

कुछ लोग 'विबोध' को अविद्या के नाश से उत्पन्न होनेवाला भी मानते हैं। उनके हिसाब से—

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत !
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥"

अर्जुन कहता है कि—हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे स्मृति प्राप्त हो गई अर्थात् जिन बातों को मैं भूल रहा था, वे मुझे फिर से उपस्थित हो गईं। अब मैं संदेहरहित होकर स्थित हूँ, आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

इस भगवद्गीता के पद्य का उदाहरण देना चाहिए।

यहाँ "नितरां हितयाऽद्य निद्रया मे"···इस पद्य का वाक्यार्थ मेघ के विषय में होनेवाली असूया है यह शंका करना ठीक नहीं। क्योंकि जब पहले विबोध का ज्ञान हो जायगा, तब विबोध की अनुचितता का—बेमौके होने का—पता लगेगा; और उसके अनंतर होगी 'अनुचित विबोध के उत्पन्न करनेवाले मेघ में असूया'। सो वह विबोध का मुँह देखनेवाली है अतएव विलंब से प्रतीत होती है, इस कारण उसकी प्रधानता नहीं हो सकती। हाँ, उसकी प्रधानता हो सकती है, पर तब, जब कि मेघ के विषय में निर्दयता आदि का बोध करानेवाला कुछ भी हो।

इसी तरह यहाँ स्वप्न-भाव भी वाक्यार्थ नहीं हो सकता; क्योंकि मेघ की गर्जना से स्वप्न नाश का ही बोध होता है, स्वप्न का नहीं।

पर, यदि कहो कि—यहाँ मूल पद्य में मेघ के लिये 'वारिवाह' शब्द है, और वारिवाह शब्द का अर्थ पनभरा (जल भरनेवाला) भी होता है; सो इस तरह के निकृष्ट शब्द के प्रयोग से असूया ध्वनित हो सकती है और स्वप्नभाव की शान्ति की ध्वनि को तो आप भी स्वीकार कर चुके हैं। तो हम कहते हैं कि—लाओ, असूया और स्वप्नभाव की शांति के साथ इस भाव का संकर (मिश्रण) स्वीकार कर लेते हैं।

किन्तु निम्नलिखित पद्य को इस भाव के उदाहरण में नहीं देना चाहिए—

गाढमालिङ्ग्य सकलां यामिनीं सह तस्थुषीम् ।
निद्रां विहाय स प्रातरालिलिङ्गाऽथ चेतनाम् ॥

× × × ×

करि आलिङ्गन सब रजनि रही नींद जो साथ ।
तेहिं तजिकैं अब वह परयो प्रात चेतना-हाथ ॥

एक दर्शक कहता है कि—जो नींद रातभर गहरा आलिगन करती रही—जिसने उसे पूर्णतया अपने वश में कर रखा था, उसने, उसे छोड़कर, अब प्रातःकाल चेतना को आलिंगन किया है ।

क्योंकि यहाँ जो चेतना शब्द है उसका अर्थ विबोध है, अतः वह वाच्य हो गया है । सो 'जिस तरह एक सत्यप्रतिज्ञ नायक, उपभोग के लिये, दो नायिकाओं को दो—पृथक् पृथक्—समय देकर, यथोचित समय पर एक नायिका को भोगने के अनंतर, दूसरे समय पर उसे छोड़कर दूसरी नायिका को भोगता है; वैसे ही इसने भी रात्रि में निद्रा को और प्रातःकाल में चेतना को आलिंगन किया है' यह समासोक्ति (अलङ्कार) ही यहाँ प्रकाशित होती है ।

१९—अमर्ष

दूसरे के किए अपमान-आदि अनेक अपराधों से उत्पन्न होनेवाली और मौन तथा वचनों की कठोरता आदि को उत्पन्न करनेवाली जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति है उसे 'अमर्ष' कहते हैं । पहले ही की तरह यहाँ भी कारणों को विभाव और कार्यों को अनुभाव समझ लेना चाहिए । उदाहरण लीजिए—

वक्षोजाग्रं पाणिनाऽऽमृश्य दूरे
यातस्य द्रागाननाब्जं प्रियस्य ।

शोणाग्राभ्यां भामिनी लोचनाभ्यां
जोषं जोषं जोषमेवाऽवतस्थे ॥

× × × ×

पिय चूचुकनि दबाइ कर गयो दूर ततकाल ।
तेहि मुख जोइ-जोइ-जोइ रहि भामिनि करि चख लाल ॥

प्रियतम कुचों के अग्रभाग को हाथ से दबाकर तत्काल दूर चला गया और क्रोधयुक्त नायिका, जिनके अग्रभाग लाल हो रहे हैं ऐसे, नेत्रों से देखती-देखती चुप रह गई।

यहाँ अकस्मात् स्तनों के अग्रभागों का स्पर्श करना विभाव है और नयनों की ललाई तथा टकटकी लगाकर देखना अनुभाव हैं।

क्रोध और अमर्ष का भेद

यहाँ आप पूछ सकते हैं कि स्थायी-भाव क्रोध और संचारी-भाव अमर्ष में क्या भेद है? इसका उत्तर यह है कि—दोनों के विषय भिन्न भिन्न हैं—यही भेद है और विषयों के भिन्न होने का बोध उनके कार्यों की विलक्षणता से होता है। देखिए, क्रोध के कारण झट से प्रतिपक्षी के नाश आदि में प्रवृत्ति होती है और अमर्ष के कारण केवल चुप रहना-आदि ही होते हैं। (तात्पर्य यह कि वही भाव जब कोमलावस्था में रहता है तो अमर्ष कहलाता है और उत्कट अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो क्रोध।)

२०—अवहित्थ

हर्ष आदि अनुभावों को लज्जा आदि के कारण छिपाने के लिये जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है उसे 'अवहित्थ' कहते हैं। जैसा कि लिखा है—

अनुभावपिधानार्थोऽवहित्थं भाव उच्यते।
तद्विभाव्यं भयव्रीडाधाष्टर्य्यकौटिल्यगौरवैः ॥

अर्थात् अनुभावों को छिपाने के लिये जो भाव उत्पन्न होता है उसे 'अवहित्थ' कहते हैं। उसके विभाव भय, लज्जा, धृष्टता, कुटिलता और गौरव होते हैं। जैसे—

प्रसंगे गोपानां गुरुषु महिमानं यदुपते-
रुपाकर्ण्य स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः।
विषज्वालाजालं झगिति वमतः पन्नगपतेः
फणायां साश्चर्य्यं कथयतितरां ताण्डवविधिम् ॥

× × × ×

गोपनि बातनि करी, गुरुन बिच, परम बड़ाई
जदुपति की, कुलनारि सुनी सो अति मन भाई ॥
भए कपोलनि सेद-सलिल अरु पुलकनि पाँती।
होन लग्यो अति हरख प्रकट ताको इहिँ भाँती ॥
सो विष-झारनि माल अति वमत कालि-फनिपति-फननि।
निरतन की कहिबे लगी बात सखिन अचरज-करनि ॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—गोपों ने, प्रसंग आ जाने पर, गुरुजनों के बीच में, भगवान् कृष्णचंद्र की बड़ाई कर दी। पास में बैठी हुई एक कुलनारी ने भी यह प्रसंग सुन लिया। फिर क्या था, प्रेम के कारण कपोलों पर पसीना और रोमांच उत्पन्न हो गए। कुलवधू ने देखा कि अब सब चौपट हुआ जाता है, अतः उसने विषज्वाला के समूह को सपाटे से उगलते हुए अहिराज कालिय के फणों पर (भगवान् कृष्ण के) नृत्य का आश्चर्य-सहित वर्णन करना प्रारंभ कर

दिया (जिससे लोग समझ लें कि यह स्वेद और रोमांच कृष्ण से प्रेम के कारण नहीं, किन्तु उनके पराक्रम-वर्णन के कारण हुआ है ।)

यहाँ लज्जा विभाव है और वैसे (भयंकर) कालिय सर्प के फणों पर तांडव करने की कथा का प्रसंग अनुभाव है। इसी तरह भयादिक के द्वारा उत्पन्न होनेवाले अवहित्थ-भाव का भी उदाहरण समझ लेना चाहिए।

२१—उग्रता

तिरस्कार तथा अपमान आदि से उत्पन्न होनेवाली 'इसका क्या कर डालूँ' इस रूप में जा चित्तवृत्ति होती है उसे 'उग्रता' कहते हैं। जैसा कि लिखा है—

नृपापराधोऽसद्दोषकीर्त्तनं चौरधारणम् ।
विभावाः स्युरथो बन्धो वधस्ताडनभर्त्सने ॥
एते यत्राऽनुभावास्तदौग्र्यं निर्दयतात्मकम् ॥

अर्थात् राजा का अपराध, झूठे दोषों का वर्णन और अपने चोर को रख लेना ये जिसमें विभाव हों और बाँधना, मारना, पीटना और धमकाना ये अनुभाव हों, वह 'उग्रता' होती है, जो कि निर्दयतारूप है। जैसे—

अवाप्य भङ्गं खलु सङ्गराङ्गणे नितान्तमङ्गाधिपतेरमङ्गलम्।
परप्रभावं मम गाण्डिवं धनुर्विनिन्दतस्ते हृदयं न कम्पते ॥

× × ×

रन-आँगन लहि करन ते अशुभ पराजय आज ।
निंदत मम गांडिव धनुष तुव हिय कंप न आज ॥

रणांगण में अंगराज कर्ण से अत्यंत अमंगल हार खाकर तू आज मेरे परम प्रभावशाली गांडीव धनुष की निंदा कर रहा है! तेरा हृदय कंपित नहीं होता!! यह कर्ण से पराजित और गांडीव की निंदा करते हुए युधिष्ठिर के प्रति अर्जुन की उक्ति है।

यहाँ युधिष्ठिर की की हुई गांडीव धनुष की निंदा विभाव है और मारने की इच्छा अनुभाव है।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि—'अमर्ष और उग्रता में कुछ भेद नहीं है' यह कह देना उचित नहीं; क्योंकि पहले जो अमर्ष की ध्वनि का उदाहरण दिया गया है उसमें उग्रता नहीं है; सो आप दोनों उदाहरणों को मिलाकर स्पष्ट समझ सकते हैं। (तात्पर्य यह कि अमर्ष निर्दयतारूप नहीं और यह निर्दयतारूप है।) न इसे क्रोध ही कह सकते हैं; क्योंकि वह स्थायी-भाव है और यह संचारी भाव। अर्थात् यही भाव जब स्थायीरूप से आवे तो क्रोध समझना चाहिए और संचारीरूप से आवे तो उग्रता। क्रोध और उग्रता में यही भेद है।

२२—उन्माद

वियोग, परम आनंद और महा-आपत्ति से उत्पन्न होनेवाली जो किसी मनुष्य अथवा वस्तु में किसी दूसरे मनुष्य अथवा वस्तु की प्रतीति होती है उसे 'उन्माद' कहते हैं।

यहाँ 'उत्पन्न होनेवाली' तक का जो कथन है, वह 'सीप में चाँदी के भान आदि रूपी' भ्रम में इस लक्षण की अतिव्याप्ति न होने के लिये है (क्योंकि वहाँ नेत्रदोष और अन्धकार आदि कारण हैं, न कि वियोग आदि।) उदाहरण लीजिए—

"अकरुणहृदय प्रियतम! मुञ्चामि त्वामितः परं नाऽहम्"।
इत्यालपति कराम्बुजमादायाऽऽलीजनस्य विकला सा॥

'अकरुन-हिय पिय ! तोहिं हौं ना छोरौं अब पाइ ।'
यों बोलत गहि कर-कमल आलिन ते अकुलाइ ॥

वह सखी के हाथ को पकड़कर 'हे निर्दयहृदय प्रियतम ! मैं (जो छोड़ चुकी सो छोड़ चुकी) अब इसके बाद तुम्हें नहीं छोड़ती ।' इस तरह विकल होकर बातें करती रहती है ।

यह प्रवास में गए हुए और अपनी प्रियतमा के समाचार पूछते हुए नायक के प्रति किसी संदेशवाहिनी—दूती—की उक्ति है ।

यहाँ प्यारे का विरह विभाव है और असंबद्ध—बेमेल—बातें करना अनुभाव है । उन्माद का यद्यपि व्याधि-भाव में अंतर्भाव हो सकता है तथापि इसे जो पृथक् लिखा गया है, सो यह समझने के लिये कि इस व्याधि में अन्य व्याधियों की अपेक्षा एक प्रकार की विचित्रता है—अर्थात् अन्य रोगों से इस रोग का ढंग कुछ निराला है ।

२३—मरण

रोग-आदि से उत्पन्न होनेवाली जो मरण के पहिले की मूर्च्छारूप अवस्था है उसे 'मरण' कहते हैं ।

यहाँ 'प्राणों का छूट जाना' रूपी जो मुख्य मरण है उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता; क्योंकि ये जितने भाव हैं वे सब चित्तवृत्तिरूप हैं, उनमें उस प्रकार के मरण का कोई प्रसंग ही नहीं । दूसरे, शरीर-प्राण-संयोग हर्ष-आदि सभी व्यभिचारी भावों का हेतु है और वह ऐसा कारण नहीं कि केवल कार्य की उत्पत्ति के पूर्व ही वर्तमान रहे, किन्तु ऐसा हेतु है जो कार्य की उत्पत्ति के समय भी रहता है । (इस अवस्था में मरणभाव मुख्य मरण (शरीर-प्राण-वियोग) रूप में नहीं लिया जा सकता; क्योंकि वह समय शरीर-प्राण-संयोग के सर्वथा विरुद्ध है । अतः मरण के पूर्वकाल की चित्तवृत्ति ही यहाँ मरणनामक व्यभि-

चारी भाव है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति के समय शरीर-प्राण-संयोग रहता है।) उदाहरण लीजिए—

दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती
शयने सम्प्रति या विलोकिताऽऽसीत्।
अधुना खलु हन्त! सा कृशाङ्गी
गिरमङ्गीकुरुते न भाषिताऽपि॥

× × × ×

जेहिं पिय-गुन सुमिरत अबहिं सेज विलोकी हाय!
अब वह बोलति ना सुतनु थके बुलाय-बुलाय॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—जिसको, अभी, प्रियतम के गुणों का स्मरण करते हुए, शय्या पर, देखा था; हाय! वह कृशांगी इस समय, बुलाने पर भी नहीं बोलती—उसकी जबान बंद हो गई है।

यहाँ 'प्यारे का विरह' विभाव है और 'जबान बंद हो जाना' अनुभाव।

इस पद्य में 'हंत' अथवा 'हाय' पद अत्यंत उपकारक है, अतः यद्यपि यह भाव वाक्यभर का व्यंग्य है, तथापि यहाँ पद का व्यंग्य हो गया है। इससे 'भाव यदि पद से व्यंग्य हो तो उसमें अधिक विचित्रता नहीं रहती' यह कथन परास्त हो जाता है। 'प्रियतम के गुणों का स्मरण करते हुए' इस कथन से यह बात सूचित होती है कि—'यहाँ ध्वनित होनेवाली जो अंतिम अवस्था है उसमें भी उसे प्यारे के गुणों का विस्मरण नहीं हुआ था' और इस तरह वह अंत में अभिव्यक्त होनेवाले विप्रलंभ-शृंगार को अथवा करुण-रस के स्थायी-भाव शोक को पुष्ट करती है।

यहाँ यह समझ लेने को है कि यह भाव, संदर्भ में, इस वाक्य के अनंतर आनेवाले दूसरे वाक्य से यदि नायिकादिक के पुनर्जीवन का वर्णन किया जाय, तब तो विप्रलंभ को, अन्यथा करुण-रस को, पुष्ट करता है।

कवि लोग इस भाव का प्रधानतया वर्णन नहीं करते; क्योंकि यह भाव प्रायः अमंगल है।

२४—वितर्क

संदेह-आदि के अनन्तर उत्पन्न होनेवाली तर्कना को 'वितर्क' कहते हैं। वह निश्चय के अनुकूल (निश्चय का उत्पादक) होता है। जैसे—

यदि सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी नितरामेव न विद्यते भुवि।
अथ मे कथमस्ति जीवितं न विनाऽऽलम्बनमाश्रितास्थितिः

× × × ×

'जनक-सुता महि पर नहीं' यह बच जो आदेय।
तौ किमि मम थिति ! रहत ना बिन अधार आधेय॥

यदि जनकनंदिनी पृथिवी पर सर्वथा है ही नहीं; तब फिर मेरा जीवन किस प्रकार विद्यमान है; क्योंकि बिना आधार के आधेय (आधार में रहनेवाली वस्तु) की स्थिति नहीं रहती। (तात्पर्य यह कि जनकनंदिनी ही इस जीवन का आधार है, उसके चले जाने पर यह रह ही कैसे सकता है !) यह भगवान् रामचंद्र का अपने मन में कथन है।

यहाँ 'सीता पृथिवी पर है अथवा नहीं' यह संदेह विभाव है और पद्य में वर्णित न होने पर भी आक्षिप्त 'भौंह तथा अंगुलियों का नचाना' अनुभाव है।

वितर्क और चिन्ता का भेद

'इस पद्य का व्यंग्य चिंता है' यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि चिंता किसी निश्चय को ही उत्पन्न करे, यह नियत नहीं है। दूसरे, इन दोनों भावों के विषय भी भिन्न-भिन्न मिलते हैं। चिंता का आकार है 'क्या होगा' 'कैसा होगा' इत्यादि; और वितर्क का आकार है 'प्रायः इसका ऐसा होना उचित है' यह।

एवं उक्त पद्य में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के रूप में "बिना आधार के......" इत्यादि कथन भी वितर्क के ही अनुकूल है, चिंता के नहीं।

२५—विषाद

वाञ्छित के सिद्ध न होने तथा राजा और गुरु आदि के अपराध आदि से उत्पन्न होनेवाले पश्चात्ताप का नाम 'विषाद' है।

उदाहरण लीजिए—

भास्करसूनावस्तं याते जाते च पाण्डवोत्कर्षे।
दुर्योधनस्य जीवित! कथमिव नाऽद्यापि निर्यासि॥

× × × ×

अथए करन महारथी लही पांडवनि जीत।
कुरुपति के जीवन न तू अजहू भयो व्यतीत॥

दुर्योधन अपने-आप कहते हैं कि—सूर्यसुत कर्ण के अस्त हो जाने और पांडवों का विजय हो जाने पर भी, हे (कर्ण के दर्शन पर्यंत ही जीनेवाले, अथवा ग्यारह अक्षौहिणियों के पतियों से प्रणाम किए जानेवाले, यद्वा प्रताप से पांडवों के तेज को न गिननेवाले, किंवा पांडवों को वनवासादि दुःख देनेवाले) दुर्योधन के जीवन! तू आज भी किस तरह नहीं निकल रहा है? क्या अब भी और कोई दुःख देखना शेष रह गया है?

यहाँ अपने अपकर्ष और शत्रुओं के उत्कर्ष का देखना विभाव है और जीव के निकलने की चाहना और उसके द्वारा आक्षिप्त मुँह नीचा करना आदि अनुभाव हैं।

इसी विषाद की ध्वनि को, "दुर्योधन के" यह अर्थांतर-संक्रमित वाच्य-ध्वनि—जिससे अत्यंत दुःखीपन आदि व्यक्त होता है—अनुगृहीत (परिपुष्ट) करती है।

'यह पद्य त्रास-भाव की ध्वनि है' यह शंका करना उचित नहीं; क्योंकि परमवीर दुर्योधन को त्रास का लेश भी स्पर्श नहीं कर सकता। न चिंता की ही ध्वनि कही जा सकती है; क्योंकि उसका यह निश्चय है कि 'मैं युद्ध करके मरूँगा'। दैन्य की ध्वनि मानें सो भी नहीं; क्योंकि सब सेना का क्षय होने पर भी उसने विपत्ति को गिना ही नहीं। वीर-रस की ध्वनि भी नहीं बन सकती; क्योंकि वह अपने वचन में मरण को अपना रक्षक कह रहा है; और 'उत्साह' का प्राण है दूसरे को नीचा दिखाना, सो वह यहाँ है नहीं (और बिना उसके 'वीर-रस' की बात उठाना ही अनभिज्ञता है।)

निम्नलिखित पद्य को विषादध्वनि का उदाहरण कहना उचित नहीं—

अयि ! पवनरयाणां निर्दयानां हयानां
श्लथय गतिमहं नो सङ्गरं द्रष्टुमीहे।
श्रुतिविवरममी मे दारयन्ति प्रकुप्य-
द्भुजगनिभभुजानां बाहुजानां निनादाः।

× × ×

करु हरुए रे ! नेक निर्दयो हय-गन की गति।
हौं ना चाहत समर देखिबो, कंपत मो मति॥

क्रुद्धसर्प-सम उग्र भुजनवारे क्षत्रिन के।
सुनि सुनि नाद विदीर्ण होत मम छिद्र श्रुतिन के॥

भीरु पुरुष (विराट-पुत्र उत्तर) अपने सारथि बृहन्नलावेषधारी अर्जुन से कह रहा है—ए भैया! तू इन निर्दयी घोड़ों की गति को मंदी कर दे, मैं युद्ध देखना नहीं चाहता। देख तो, क्रोधी सर्प के समान जिनकी भुजाएँ हैं ऐसे क्षत्रियों के नाद मेरे कानों के छिद्रों को विदीर्ण किए देते हैं—उन्हें सुन-सुनकर मेरे कानों के परदे फटे जा रहे हैं।

यहाँ त्रास ही प्रतीत हो रहा है, इस कारण विषाद की प्रतीति नहीं हो सकती। पर यदि किसी अंश में प्रतीति मान भी लें, तथापि उसका भी त्रास में ही अनुकूल होना उचित है; सो वह इस योग्य नहीं कि इस काव्य को विषाद की ध्वनि कहा जाय।

२६—औत्सुक्य

'यह वस्तु मुझे इसी समय प्राप्त हो जाय' इस इच्छा को 'औत्सुक्य' कहते हैं।

'वांछित का न प्राप्त होना इसका विभाव होता है और शीघ्रता, चिंता आदि अनुभाव होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

संजातमिष्टविरहादुद्दीप्तं प्रियसंस्मृतेः।
निद्रया तन्द्रया गात्रगौरवेण च चिन्तया॥
अनुभावितमाख्यातमौत्सुक्यं भावकोविदैः॥

अर्थात् वांछित के विरह से उत्पन्न होनेवाला और प्रिय की स्मृति से उद्दीप्त किया जानेवाला तथा जिसके निद्रा, आलस्य, शरीर का भारीपन और चिंता अनुभाव हैं उस भाव को, भावों के समझनेवालों ने, 'औत्सुक्य' कहा है। उदाहरण लीजिए—

निपतद्बाष्पसंरोधमुक्तचाञ्चल्यतारकम् ।
कदा नयननीलाब्जमालोकेय मृगीदृशः ॥

× × × ×

परत आँसुवन रोध हित भइ थिर तारा जासु ।
नैन नील-नीरज वहै कबैं निरखिहौं तासु ॥

नायक के जी में आ रहा है कि—(जिस समय मैं चलने लगा, उस समय, इस भय से कि कहीं अपशकुन न हो जाय) गिरते हुए आँसुओं के रोकने से जिसके तारा ने चंचलता छोड़ दी थी—स्थिर हो रहा था ऐसी (क्योंकि यदि वह थोड़ा भी हिलता तो संभव था कि आँसू गिर पड़ते) मृगनयनी के उस नयनरूपी नीलकमल को कब देखूँ ।

२७—आवेग

अनर्थ की अधिकता के कारण उत्पन्न होनेवाली चित्त की संभ्रम नामक वृत्ति को 'आवेग' कहते हैं। उदाहरण लीजिए—

लीलया विहितसिन्धुबन्धनः सोऽयमेति रघुवंशनन्दनः ।
दर्पदुर्विलसितो दशाननः कुत्र यामि निकटे कुलक्षयः ॥

× × × ×

लीला ते बाँध्यो जलधि सो यह रघुपति आत ।
दरपभरयो दसवदन, कहँ जाउँ, निकट कुलघात ॥

जिन्होंने लीला से समुद्र का सेतु तैयार कर दिया, वे रघुवंश-नंदन—रामचंद्र—ये आ रहे हैं; और रावण है पूरा घमंडी—वह कभी झुकनेवाला नहीं। अब, मैं कहाँ जाऊँ, कुल का नाश बिलकुल नजदीक आ गया है—कोई बचाव की सूरत नहीं दिखाई देती। यह मंदोदरी का मन-ही-मन कथन है ।

यहाँ 'रघुनंदन का आना' विभाव है और 'कहाँ जाऊँ' इस कथन से अभिव्यक्त होनेवाला स्थिरता का अभाव अनुभाव है।

यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि इस पद्य में चिता प्रधानतया अभिव्यक्त होती है; क्योंकि 'कहाँ जाऊँ' इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होनेवाले स्थिरता के अभाव से जिस तरह उद्वेग की प्रतीति होती है, उस तरह चिंता की नहीं होती। परंतु आवेग के आस्वादन में उसके परिपोषक रूप से, गौणतया, चिंता भी अनुभाव में आ जाती है।

२८--जडता

चिंता, उत्कंठा, भय, विरह और प्रिय के अनिष्ट के देखने सुनने आदि से उत्पन्न होनेवाली और अवश्य करने योग्य कार्यों के अनुसंधान से रहित जो चित्तवृत्ति होती है उसे 'जडता' कहते हैं। यह मोह के पहले और पीछे उत्पन्न हुआ करती है। जैसा कि कहा गया है—

कार्याविवेको जडता पश्यतः शृण्वतोऽपि वा।
तद्विभावाः प्रियानिष्टदर्शनश्रवणे रुजा॥
अनुभावास्त्वमी तूष्णीम्भावविस्मरणादयः।
सा पूर्वं परतो वा स्यान्मोहादिति विदां मतम्॥

अर्थात् देखते अथवा सुनते हुए भी कर्त्तव्य का विवेक न होने को जडता कहते हैं। उसके विभाव हैं 'प्यारे अथवा प्यारी के अनिष्ट का देखना-सुनना' तथा रोग; और चुप हो जाना, भूल जाना—आदि अनुभाव हैं। वह मोह के पहले अथवा पीछे उत्पन्न हुआ करती है। यह विद्वानों का मत है। उदाहरण—

यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां
सहचरि ! दैववशेन दूरतोऽभूत् ।
तदवधि शिथिलीकृतो मदीयै-
रथ करणैः प्रणयो निजक्रियासु ॥

× × × ×

जब ते सखि ! दयितहिं दई कीन्ह लोचननि दूर ।
तब ते मम इंद्रिन क्रिया करी शिथिल भरपूर ॥

नायिका अपनी सखी से कहती है—हे सहेली ! दैवाधीन होने के कारण जब से प्रियतम आँखों से दूर हुए हैं तब से मेरी इंद्रियों ने अपने-अपने कामों से प्रेम शिथिल कर दिया है—अब वे काम करना चाहती ही नहीं ।

यहाँ 'प्यारे का विरह' विभाव है और 'आँख-कान आदि इंद्रियों का अपने-अपने ज्ञानों में प्रेम शिथिल कर देना—अर्थात् आँख आदि से रूप आदि का जैसा चाहिए वैसा ज्ञान न होना अनुभाव है ।

मोह और जडता का भेद

मोह में नेत्रादिकों से देखना आदि कार्य होते ही नहीं; परन्तु इस भाव में यह बात नहीं । इस भाव में वस्तुओं के दर्शन-आदि तो होते हैं; पर, प्रायः, उनका विशेष रूप से परिचय नहीं होता—अर्थात् न जानना मोह का काम है और जैसा चाहिए वैसा न जानना जडता का । यही उससे इसमें विशेषता है ।

इसी कारण उदाहरण-पद्य में 'शिथिल कर दिया है' लिखा है, 'छोड़ दिया है' नहीं ।

२६—आलस्य

अत्यन्त तृप्त हो जाने तथा गर्भ, रोग और परिश्रम आदि के कारण जो चित्त का कार्य से विमुख होना है उसे 'आलस्य' कहते हैं।

ग्लानि और जडता से आलस्य का भेद

इसमें न अशक्ति होती है और न कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक का अभाव; अतः कार्य न करने रूपी अनुभाव के समान होने पर भी ग्लानि और जडता से इसका भेद है। उदाहरण लीजिए—

निखिलां रजनीं प्रियेण दूरा-
दुपयातेन विबोधिता कथाभिः।
अधिकं न हि पारयामि वक्तुम्,
सखि! मा जल्प, तवाऽऽयसी रसज्ञा।

× × × ×

पिय आए अति दूर ते करी बात सब रात।
तुव रसना सखि! लोह की हौं ना बोलि सकात॥

पतिदेव दूर से आए थे, उन्होंने सब रात भर अनेक कथाएँ समझाईं। सो हे सखी! मैं अधिक नहीं बोल सकती; तू बात न कर; (मालूम होता है) तेरी जीभ तो लोह की है—तू क्या थकती थोड़े ही है।

यह, पति के आने के दूसरे दिन, बार-बार रात का वृत्तांत पूछती हुई सखी के प्रति रात में जगने से आलस्ययुक्त किसी नायिका की उक्ति है।

यहाँ 'रात में जगना विभाव' है और 'अधिक बोलने का अभाव' अनुभाव। जड़ता का नियम है कि वह मोह से प्रथम अथवा पीछे

हुआ करती है; पर इसमें यह बात नहीं सो आलस्य में यह एक और भी विशेषता है।

यहाँ एक बात और समझ लेने की है। वह यों है—यदि यह माना जाय कि यहाँ जो 'कथा' शब्द आया है, वह असली बात छिपाने के लिये लाया गया है; अतएव अविवक्षितवाच्य है। (अर्थात् 'कथा' शब्द का असली अर्थ है सुरत; और उससे नायिका का अत्यंत श्रम व्यक्त होता है।) तो श्रमभाव भले ही आलस्य का परिपोषक रहे; क्योंकि जो आलस्य श्रम से उत्पन्न हुआ है, उसमें श्रम का पोषक होना अनिवार्य है। पर, इसका अर्थ यह नहीं है कि जहाँ-जहाँ आलस्य होता है वहाँ उसका विभाव श्रम ही होता है। अतएव जहाँ अत्यंत तृप्त होने आदि से आलस्य उत्पन्न होता है वहाँ आलस्य का विषय इससे भिन्न हैं।

३०—असूया

दूसरे का उत्कर्ष देखने आदि से उत्पन्न होनेवाली और दूसरे की निंदा आदि का कारण जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति होती है उसे 'असूया' कहते हैं। इसी को 'असहन' अथवा 'असहिष्णुता' आदि शब्दों से भी व्यवहार किया जाता है। जैसे—

कुत्र शैवं धनुरिदं क्व चाऽयं प्राकृतः शिशुः।
भङ्गस्तु सर्वसंहर्त्रा कालेनैव विनिर्मितः॥

× × × ×

कहाँ सम्भु को धनुष यह कहँ यह प्राकृत बाल।
याको भंजन तो कियो सरब-सँहारी काल॥

कहाँ यह शिव-धनुष और कहाँ यह साधारण बालक; इसका भंग तो सब वस्तुओं के संहार करनेवाले काल ने ही कर दिया।

इसका भावार्थ यह है कि इस धनुष का, इतने समय तक पड़े रहने के कारण, अपने आप ही चूरा हो गया है, अन्यथा यह काम इस साधारण क्षत्रिय बालक—रामचंद्र—के वश का नहीं है।

यह, शिव-धनुष को तोड़नेवाले भगवान् रामचंद्र के पराक्रम को न सहनेवाले, उस सभा में बैठे हुए, राजाओं का कथन है।

यहाँ 'श्रीमान् दशरथनंदन के बल का सबसे उत्कृष्ट दिखाई देना' विभाव है और 'साधारण बालक' इस पद से प्रतीत होनेवाली निंदा अनुभाव है।

तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरव्रजे
मौनं मुञ्चति किञ्च कैरवकुले, कामे धनुर्धुन्वति।
माने मानवतीजनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना,
धातः! किंनु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः॥

× × × ×

चंचल नैन चकोर तृषित ह्वै प्राचिहिं जोवत,
कुमुद हु छाँड़त मौन रहे जे अब लौं सोवत।
धुनत धनुष मदनेश मान हू तजत मानिनिनि।
कहा उचित या समय विधे! विधु पै कादम्बिनि॥

कवि विधाता से कहता है*—चकोरों का समूह आशा से चंचल

---

* यह पद्य किसी ऐसे अवसर पर लिखा गया प्रतीत होता है जब कि किसी राजकुमार की उपस्थिति की अत्यन्त आवश्यकता थी; परंतु वह किसी दैवी कारण से उपस्थित न हो सका। क्योंकि "प्रस्तुतराजकुमारादिवृत्तांतस्य" इत्यादि आगे का ग्रंथ तभी संगत हो सकता है।

—अनुवादक

नेत्र किए हुए पूर्व दिशा को स्वीकार कर रहा है—टकटकी लगाकर उसी तरफ देख रहा है, कुमुदों के वृंद भी मौन छोड़कर चटक रहे हैं, कामदेव अपने धनुष को कंपित करके टंकार शब्द कर रहे हैं और मानिनियों का मान प्रस्थान करना चाहता है—कमर बाँधे खड़ा है; हे विधाता ! ऐसे समय में क्या आपको यह उचित है कि चंद्रमा पर मेघाडंबर करें राम ! राम !! आपने बहुत बुरा किया ।

यहाँ यद्यपि 'विधाता की उच्छृंखलता-आदि के दिखाई देने से उत्पन्न होनेवाली और उसकी—अनुचितकारितारूपी—निंदा के प्रकाशित होने से अनुभव में आनेवाली, विधाता के विषय में, कवि की असूया अभिव्यक्त होती है' यह कहा जा सकता है; तथापि यहाँ जो असूया के कार्य और कारण वर्णन किये गये हैं वे ही अमर्ष के कार्य और कारण हो सकते हैं; अतः कार्य-कारणों की समानता के कारण वह अमर्ष से मिश्रित ही प्रतीत होती है, उससे रहित नहीं ।

यदि आप कहें कि इसी तरह आपके पूर्वोक्त उदाहरण (कुत्र शैवम्······) में भी अमर्ष और असूया का मिश्रण क्यों नहीं कहा जा सकता ? तो इसका उत्तर यह है कि—जिस तरह दूसरे पद्य में विधाता का अपराध स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने राजकुमार को ऐसे आवश्यक समय पर उपस्थित न रहने दिया; इस तरह भगवान् राम का कोई अपराध नहीं है, जिससे कि कवि की तरह वीरों का भी अमर्ष अभिव्यक्त हो । आप कहेंगे कि धनुष-भंग करके राजाओं का मानमर्दन कर देना रामचंद्र का भी तो अपराध है । सो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि अत्यंत उन्नत कार्य करना वीर-पुरुषों का स्वभाव है—वे उसे किसी का दिल दुखाने के लिये नहीं करते ।

अब यदि आप कहें कि—यहाँ चंद्रमा का वृत्तांत तो प्रसंगप्राप्त है नहीं; अतः यह मानना पड़ेगा कि उसके द्वारा प्रसंगप्राप्त राजकुमार आदि

का वृत्तांत ध्वनित होता है; सा इस पद्य को असूया-भाव की ध्वनि मानना ठीक नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि—एक ध्वनि का दूसरी ध्वनि से विरोध नहीं है—अर्थात् एक ही पद्य साथ-ही-साथ दो अर्थों की भी ध्वनि हो सकता है, क्योंकि यदि ऐसा न मानो तो महावाक्य की ध्वनियों का अवांतरवाक्यों की ध्वनियों के साथ होना और अवांतरवाक्यों की ध्वनियों का पदों की ध्वनियों के साथ होना कहीं भी न बन सकेगा।

३१—अपस्मार

वियोग, शोक, भय और घृणा आदि की अधिकता तथा भूत-प्रेत के लग जाने आदि से जो एक प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाता है उसे 'अपस्मार' कहते हैं।

इसकी भी गणना यद्यपि 'व्याधिभाव' में ही हो जाती है, तथापि इसे जो विशेष रूप से लिखा गया है सो इस बात को समझाने के लिये कि 'बीभत्स' और 'भयानक' रसों का यही व्याधि अंग होती है, अन्य नहीं, परन्तु विप्रलंभ-शृंगार के अंग तो अन्यान्य व्याधियाँ भी हो सकती हैं। उदाहरण लीजिए—

हरिमागतमाकर्ण्य मथुरामन्तकान्तकम्।
कम्पमानः श्वसन् कंसो निपपात महीतले॥

× × ×

अंतक के अंतक हरिहिं मथुरा आए जानि।
साँस लेत अरु कँपत महि परयो कंस भय मानि॥

कवि कहता है—काल के भी कालरूप भगवान् श्रीकृष्णचंद्र को जब मथुरा में आए सुना तो कंस कंपित हो गया, उसे साँस चढ़ने लगा और पृथिवी पर गिर पड़ा।

यहाँ भय विभाव है; और काँपना, अधिक साँस लेना तथा गिर पड़ना आदि अनुभाव हैं।

३२—चपलता

अमर्ष आदि से उत्पन्न होनेवाली और कठोर वचन आदि को उत्पन्न करनेवाली चित्तवृत्ति को 'चपलता' कहते हैं। जैसा कि कहा है—

अमर्षप्रातिकूल्येर्ष्यारागद्वेषाश्च मत्सरः।
इति यत्र विभावाः स्युरनुभावास्तु भर्त्सनम्॥
वाक्पारुष्यं प्रहारश्च ताडनं वधबन्धने।
तच्चापलमनालोच्य कार्यकारित्वमिष्यते॥ इति॥

अर्थात् जिसमें अमर्ष, प्रतिकूलता, ईर्ष्या, प्रेम, द्वेष और असहिष्णुता ये विभाव हों और धमकाना, वचन की कठोरता, चोट पहुँचाना, पीटना, मारना और कैद करना ये अनुभाव हों, उसे 'चपलता' कहते हैं; जिसे कि 'बिना सोचे-विचारे काम करना' समझिए। उदाहरण लीजिये—

अहितव्रत! पापात्मन्! मैवं मे दर्शयाऽऽननम्।
आत्मानं हन्तुमिच्छामि येन त्वमसि भावितः॥

× × × ×

अहित-नियम-पर, पापमय, स्वहिं मुख न यों दिखाय।
हौं आपुहिं मारन चहत जेहिं तोहिं दिय उपजाय॥

हे अनिष्टकारी नियमों के पालन करनेवाले दुरात्मन्! तू इस तरह मुझे मुख मत दिखा। मैं अपने को मार देना चाहता हूँ, जिससे कि तू उत्पन्न किया गया है।

यह हिरण्यकशिपु का, प्रह्लाद के प्रति, उस समय का, कथन है, जब कि उसे उसकी भगवद्भक्ति के हटने का कोई उपाय न सूझ पड़ा।

यहाँ भगवान् के द्वेष के द्वारा उत्थापित पुत्र का द्वेष विभाव है और आत्महत्या की इच्छा अनुभाव।

अमर्ष और चपलता का भेद

यहाँ यह न कहना चाहिए कि—इस पद्य में 'अमर्ष' ही व्यंग्य है; क्योंकि सदा से ही भगवान् से प्रेम करनेवाले प्रह्लाद के साथ हिरण्यकशिपु का जो अमर्ष था वह बहुत समय से संचित था; अतः यदि अमर्ष के कारण ही उसकी आत्महत्या की इच्छा हुई—यह माना जाय, तो इस इच्छा का इस समय ही पहले बार होना नहीं बन सकता; यदि यह इच्छा उसी कारण से हुई होती तो इतने वर्षों तक ही क्यों न हो गई होती। अब, जब कि वह इच्छा पहले-पहल उत्पन्न हुई है तो उसका कारण भी पहले पहल उत्पन्न हुआ है—यह मानना चाहिए। तब पुरानी चित्तवृत्ति जो अमर्ष है उससे भिन्न चपलता नामक चित्तवृत्ति ही उसका कारण सिद्ध होती है। पर, यदि कहो कि आत्महत्या आदि का कारण अमर्ष की अधिकता ही है, अतः यहाँ उसी की अभिव्यक्ति माननी चाहिए तो हम कहते हैं कि अधिकता भी वस्तु के स्वाभाविक रूप से तो विलक्षण होती है—अर्थात् स्वाभाविक रूप में और अधिकता में भेद होता है, यह तो अवश्य ही मानना पड़ेगा। बस, तो उसी पदार्थ का नाम चपलता है; अर्थात् प्रकृष्ट अमर्ष ही चपलता कहलाता है।

३५—निर्वेद

जो नीच पुरुषों में गालियाँ मिलने, तिरस्कार होने, रोगी हो

जाने, पिट जाने, दरिद्र होने, वांछित के न मिलने और दूसरे की संपत्ति देखने आदि से और उत्तम पुरुषों में अवज्ञा आदि से उत्पन्न होती है और जिसका नाम विषयों से द्वेष है, तथा जिसके कारण रोना, लंबे साँस और चेहरे पर दीनता आदि उत्पन्न हो जाते हैं उस चित्तवृत्ति का नाम 'निर्वेद' है। उदाहरण लीजिए—

यदि लक्ष्मण ! सा मृगेक्षणा न मदीक्षासरणिं समेष्यति।
अमुना जडजीवितेन मे जगता वा विफलेन किं फलम् ॥

× × ×

लछमन, जो वह मृगनयनि मो नैननि ना आय।
या जड जीवन अरु विफल जग ते का फल हाय ॥

श्रीरामचंद्र सीता के वियोग में लक्ष्मण से कह रहे हैं—हे लक्ष्मण ! यदि वह मृगनयनी मेरे नेत्रपथ में न आवेगी—मुझे न दिखाई देगी, तो इस जड—अर्थात् निरीह—जीवन से अथवा निष्फल जगत् से क्या फल है ! मेरे लिये न यह जीवन काम का है, न जगत्।

यहाँ यदि आप शंका करें कि 'निर्वेद' शांत-रस का स्थायी भाव है, सो इस पद्य को शांत-रस की ही ध्वनि क्यों न मान लिया जाय, भाव की ध्वनि क्यों माना जाय; तो इसका समाधान यह है कि जो निर्वेद शांत-रस का स्थायी भाव है, वह नित्य और अनित्य वस्तुओं के विवेक से उत्पन्न हुआ करता है; पर यह वैसा नहीं है; सो इस निर्वेद के कारण यह पद्य रस की ध्वनि नहीं कहा जा सकता।

३४—देवता आदि के विषय में रति

जैसे—

भवद्द्वारि क्रुध्यज्जयविजयदण्डाहतिदल-
त्किरीटास्ते कीटा इव विधिमहेन्द्रप्रभृतयः ।
वितिष्ठन्ते युष्मन्नयनपरिपातोत्कलिकया
बराकाः के तत्र क्षपितमुर ! नाकाधिपतयः ॥

× × ×

क्रोधयुक्त जय-विजय-दंड की गहरी चोटन ।
दलित किरीट, सुकीट-सरिस, विधि औ बलसूदन ॥
नैनपात की चाह रहैं ठाढ़े तुव द्वारे ।
कौन मुरारे ! तहाँ नाकपति हैं बंचारे ॥

भक्त की भगवान् के प्रति उक्ति है कि—हे मुरारे ! आपके द्वार पर, क्रोधयुक्त जय-विजय नामक पार्षदों के डंडों की चोटों से जिनके किरीट टूटे जा रहे हैं ऐसे ब्रह्मा और महेंद्र आदिक देवता, आपके नेत्रपरिपात की—एक बार अच्छी तरह देख लेने की—उत्कंठा से खड़े रहते हैं, फिर बेचारे स्वर्ग के स्वामी यम, कुबेर आदिक कौन चीज हैं—उन्हें तो गिनता ही कौन है ।

यद्यपि आप कह सकते हैं कि यहाँ, 'अपमान सहन करके भी भगवान के द्वार की सेवा करने और उनके कटाक्षपात की इच्छा आदि' से भगवान् के विषय में ब्रह्मादिकों का प्रेम अभिव्यक्त नहीं होता, किंतु 'भगवान् का ऐश्वर्य वचन और मन के द्वारा अवर्णनीय तथा अज्ञेय है' यही अभिव्यक्त होता है; तथापि यहाँ कवि का भगवद्विषयक प्रेम अभिव्यक्त होता है और उसका अनुभाव है उस प्रकार के भगवदैश्वर्य का वर्णन—यह स्पष्ट है । सो इसे देवताविषयक रति की ध्वनि का उदाहरण मानने में कोई बाधा नहीं ।

(पर यदि आप कहें कि यहाँ प्रधानतया ऐश्वर्य का ही वर्णन है, कवि की रति तो गौण है तो छोड़िए झगड़ा) यह उदाहरण लीजिए—

न धनं न च राज्यसम्पदं न हि विद्यामिदमेकमर्थये ।
मयि धेहि मनागपि प्रभो ! करुणाभङ्गितरङ्गितां दृशम् ॥

× × × ×

ना धन, ना नृप-संपदा, ना विद्या की चाह ।
यही चहौं मो पै करहु करुनाभरी निगाह ॥

भक्त भगवान् से कहता है—मैं न धन चाहता हूँ, न राज्य की संपत्ति चाहता हूँ और न विद्या ही चाहता हूँ। मैं तो एक यही चाहता हूँ कि हे प्रभो—हे मेरे स्वामिन्—तू मेरे ऊपर, दया की रचना से लहराती हुई दृष्टि को, यदि अधिक न हो सके तो थोड़ी-सी ही, डाल दे ।

यहाँ धनादिक की अपेक्षा से रहित भक्त की भगवान् के कटाक्षपात की अभिलाषा उनके विषय में उसके प्रेम को अभिव्यक्त करती है ।

इस तरह संक्षेप से भावों का निरूपण कर दिया गया है ।

भाव ३४ ही क्यों हैं ?

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भावों की संख्या का नियम कैसे हो सकता है, वे ३४ ही क्यों हैं ? क्योंकि काव्यादिकों में अनेक स्थलों पर मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैब्य (कायरपन), क्षमा, कौतूहल, उत्कंठा, विनय (नम्रता), संशय और धृष्टता आदि भाव भी दिखाई देते रहते हैं, सो यह संख्या ठीक नहीं । इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त भावों में ही उनका भी समावेश हो

जाता है, अतः उन्हें पृथक् गिनने की कोई आवश्यकता नहीं। यद्यपि वास्तव में असूया से मात्सर्य का, त्रास से उद्वेग का, अवहित्थ से दंभ का, अमर्ष से ईर्ष्या का, मति से विवेक और निर्णय का, दैन्य से क्लैव्य का, धृति से क्षमा का, औत्सुक्य से कौतूहल और उत्कंठा का, लज्जा से विनय का, तर्क से संशय का और चपलता से धृष्टता का सूक्ष्म भेद है; तथापि ये भाव एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते—अर्थात् जहाँ असूया होगी वहाँ मात्सर्य अवश्य ही होगा—इत्यादि; अतः इन्हें उनसे पृथक् नहीं माना गया; क्योंकि जहाँ तक मुनि (भरत) के वचन का पालन हो सके, उच्छृंखलता करना अनुचित है।

इन संचारी भावों में से कुछ भाव ऐसे भी हैं, जो दूसरे भावों के विभाव और अनुभाव हो जाते हैं; जैसे ईर्ष्या निर्वेद का विभाव है और असूया का अनुभाव; चिंता*निद्रा का विभाव है और औत्सुक्य का अनुभाव इत्यादि स्वयं सोच लेना चाहिए।

रसाभास

लक्षण-विचार

अच्छा, अब रसाभास की बात सुनिए। उसके लक्षण के विषय में कुछ विद्वानों का मत है—"अनुचित विभाव को आलंबन मानकर यदि रति आदि का अनुभव किया जाय तो 'रसाभास' हो जाता है। रहा यह कि किस विभाव को अनुचित मानना चाहिए और किसको उचित; सो यह लोकव्यवहार से समझ लेना चाहिए। अर्थात् जिसके विषय में लोगों की यह बुद्धि है कि 'यह अयोग्य है', वही अनुचित है।"

---

* चिंता को निद्रा का विभाव बताना कहाँ तक ठीक है, इसे सहृदय पुरुष सोच देखें।

—अनुवादक

पर दूसरे विद्वान् इस लक्षण को सुनकर चुप नहीं रहना चाहते। वे कहते हैं—इस लक्षण के द्वारा यद्यपि मुनिपत्नी आदि के विषय में जो रति आदि होते हैं उनका संग्रह हो जाता है; क्योंकि इतर मनुष्य मुनि-पत्नी आदि को अपना प्रेमपात्र माने यह अनुचित है; तथापि अनेक नायकों के विषय में होनेवाली और प्रियतम-प्रियतमा दोनों में से केवल एक ही में होनेवाली रति का इसमें संग्रह नहीं होता; क्योंकि वहाँ विभाव तो अनुचित है नहीं, किंतु प्रेम अनुचित रूप से प्रवृत्त हुआ है; अतः 'अनुचित' विशेषण रति आदि के साथ लगाना उचित है। अर्थात् यह लक्षण बनाना चाहिए कि "**जहाँ रति आदि अनुचित रूप से प्रवृत्त हुए हों वहाँ रसाभास होता है**"। इस तरह, जिसमें अनुचित विभाव आलंबन हो, जो अनेक नायकों के विषय में हो और जो प्रियतम-प्रियतमा दोनों में न रहती हो—केवल एकमें रहती हो उस रति का भी संग्रह हो जाता है। अनुचितता का ज्ञान तो इस मत में भी पूर्ववत् (लोक-व्यवहार से) ही कर लेना चाहिए।

रसाभास रस ही है अथवा उससे भिन्न ?

रसाभासों के विषय में एक और विचार है। कुछ विद्वानों का कथन है—"जहाँ रसादि के आभास होते हैं, वहाँ रस-आदि नहीं होते और जहाँ रस-आदि होते हैं वहाँ रसाभास-आदि नहीं होते, उन दोनों का साथ-साथ रहना नियम-विरुद्ध है; क्योंकि जो निर्मल हो—जिसमें अनुचितता न हो—उसी का नाम रस है; जैसे कि जो हेत्वाभास होता है वह हेतु नहीं होता।" दूसरे विद्वानों का कथन है—"अनुचित होने के कारण स्वरूपनाश नहीं हो सकता अर्थात् वह रस ही है, किंतु दोषयुक्त होने से उन्हें आभास कहा जाता है, जैसे कोई अश्व (घोड़ा) दोषयुक्त हो तो लोग उसे अश्वाभास कहते हैं।"

उदाहरण लीजिए—

शतेनोपायानां कथमपि गतः सौधशिखरं
सुधाफेनस्वच्छे रहसि शयितां पुष्पशयने ।
विबोध्य क्षामाङ्गीं चकितनयनां स्मेरवदनां
सनिःश्वासं श्लिष्यत्यहह ! सुकृती राजरमणीम् ॥

× × × ×

करि सैंकरनि उपाय शिखर पै पहुँच्यो महलनि ।
सोई अम्रितफेन-सुच्छ सेजा रचि कुसुमनि ॥
चकितनयनि स्मितमुखी विरह-कृशतनु नृप-रमनिहिं ।
भेंटत, धन्य, जगाइ, उसासनयुत, श्रम-शमनिहिं ॥

कवि कहता है—सैकड़ों उपाय करके, किसी प्रकार, महलों की चोटी पर पहुँचा और अमृत के झागों के समान निर्मल पुष्पों की सेज पर सोई हुई कृशांगी को जगाया। उसने जगते ही इसे चकित नेत्रों से देखा और उसका मुखकमल खिल उठा। अहह ! इस अवस्था में स्थित राजांगना को पुण्यवान् पुरुष, साँस भरे हुए आलिंगन कर रहा है।

यहाँ जिससे प्रेम करना अनुचित है वह राजांगना आलंबन है। एकांत और रात्रि का समय आदि उद्दीपन हैं। साहस करके राजा के जनाने में जाना, प्राणों की परवा न करना, साँस भर जाना और आलिंगन करना आदि अनुभाव हैं एवं शंका-आदि संचारी भाव हैं। यहाँ प्रेम का आलंबन जो राजांगना है, वह लोक तथा शास्त्र के द्वारा निषिद्ध है, इस कारण रस आभासरूप हो गया है।

यदि आप कहें कि यहाँ राज-रमणी के निषिद्ध होने के कारण रस आभास नहीं हुआ है, किंतु राजरमणी का जो 'चकितनयना' विशेषण

है उससे यह अभिव्यक्त होता है कि उसे पर पुरुष के स्पर्श से त्रास उत्पन्न हो गया है, और तब यह सिद्ध हो जाता है कि नायिका को कामी से प्रेम नहीं है, सो प्रेम के अनुभयनिष्ठ—अर्थात् केवल नायक में—होने के कारण रस आभास हो गया है तो यह ठीक नहीं; क्योंकि, यद्यपि नायिका बहुत समय से इस पर आसक्त है तथापि अंतःपुर में पर पुरुष का जाना सर्वथा असंभव है, अतः 'यह मुझे कौन जगा रहा है' इत्यादि समझकर उसे त्रास होना उचित ही है। परंतु उसके अनंतर जब उसे उसका परिचय हुआ तो उसने सोचा कि 'यह मेरा वह प्रियतम, मेरे लिये प्राणों को तिनका समझकर—उनकी कुछ परवा न करके, यहाँ आया है' तब उसे हर्ष उत्पन्न हुआ। इसी हर्ष को अभिव्यक्त करता हुआ राजरमणी का 'स्मेरवदना' विशेषण उसके प्रेम को भी अभिव्यक्त करता है। परंतु इस पद्य में है नायक के प्रेम की ही प्रधानता; क्योंकि पूरे वाक्य का अर्थ वही है—यह पद्य उसी के वर्णन में लिख गया है।

अच्छा, अब अनेक नायकों के विषय में प्रेम का उदाहरण सुनिए—

भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयाम्बभूव॥

× × × ×

विशत भवन, देखे गवन-आयसु चहत, दयाल।
बाल, तरुन-गन पै करी, नैन-नीरजनि माल॥

कवि कहता है—बालिका जब अपने घर में घुसने लगी तो उसने देखा कि मार्ग में युवा पुरुषों की एक टोली की टोली बिदाई के लिये किंचिन्मात्र आज्ञा प्राप्त करना चाहती है। करुणावती बालिका से न

रहा गया—उसने सब युवाओं के ऊपर एक ही साथ नेत्र-कमलों की माला गिरा दी—सभी को प्रेमभरी दृष्टि से देख लिया।

यहाँ, कोई-एक नायिका कहीं से आ रही थी; रास्ते में उसके रूप-यौवन ने कुछ युवकों का चित्त चुरा लिया और वे लगे उसके पीछे-पीछे चलने। नायिका जब घर में घुसने लगी, तो उसने देखा कि बेचारे युवक अपनी सेवा की सफलता समझने के लिये, बिदाई की आज्ञारूपी लाभ के लिये, ललचा रहे हैं; और उसे उनका परम परिश्रम स्मरण हो आया—उसे याद आया कि बेचारे कब से पीछे-पीछे डोल रहे हैं, सो दया आ गई; तब नायिका ने उन पर नयन-कमलों की माला डाल दी। यह नयन-कमलों की माला डालना रूपी जो अनुभाव है उसके वर्णन से नायिका के प्रेम की अभिव्यक्ति होती है और 'तरुणेषु' इस बहुवचन के कारण 'वह अनेकों के विषय में है' यह सूचित होता है; सो यह भी रसाभास है।

अच्छा, अब अनुभयनिष्ठा रति का उदाहरण भी सुनिए—

भुजपञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेण वधूः।
तत्काल-जालपतिता बालकुरङ्गीव वेपते नितराम्॥

× × × ×

नव दुलहिन भुज-पींजरे पकरी वर, बेहाल।
काँपत, ज्यों बालक मृगी परी जाल ततकाल॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है—नई ब्याही हुई दुलहिन को वर ने, भुजा-रूपी पींजरे में पकड़ ली; सो वह बेचारी तत्काल जाल में पड़ी हुई हरिण की बच्ची की तरह काँप रही है।

यहाँ नववधू को प्रेम का थोड़ा भी स्पर्श नहीं है, सो रति अनुभय-निष्ठ होने के कारण आभासरूप हो गई। जैसा कि कहा गया है—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।
बहुनायकविषयायां रतौ तथाऽनुभयनिष्ठायाम् ॥इति॥

अर्थात् जहाँ उपनायक (जार), मुनि और गुरु की स्त्री के विषय में तथा अनेक नायकों के विषय में प्रेम हो, एवं स्त्री-पुरुष दोनों में से एक को प्रेम हो और एक को नहीं (वहाँ रसाभास हुआ करता है)। यहाँ मुनि और गुरु शब्द उपलक्षणरूप से आए हैं, अतः इन शब्दों से राजादिकों का भी ग्रहण समझ लेना चाहिए।

अच्छा, अब बताइए, निम्न-लिखित पद्य में क्या व्यंग्य है ?

व्यानम्राश्चलिताश्चैव स्फारिताः परमाकुलाः ।
पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चाल्याः पतन्ति प्रथमा दृशः ॥

× × ×

परत पांडवन पै प्रथम द्रुपद-सुता के मंजु ।
अतिनत, चंचल, विकसित रु अति व्याकुल दृग-कंजु ॥

कवि कहता है कि—पांडवों के ऊपर, द्रौपदी की सबसे पहली दृष्टियाँ अत्यंत नम्र, चंचल, विकसित और परम व्याकुल होती हुई गिर रही हैं।

"यहाँ नम्रता से युधिष्ठिर के विषय में, धर्मात्मा होने के कारण भक्तियुक्त होने को; चंचलता से, भीमसेन के विषय में, भारी डील-डौल होने के कारण, त्रास-युक्त होने को; विकसितता से, अर्जुन के विषय में, अलौकिक वीरता सुनने के कारण, हर्षयुक्त होने को तथा अत्यंत व्याकुल होने से, नकुल और सहदेव के विषय में, परम सुंदर होने के कारण, उत्सुकता को अभिव्यक्त करती हुई दृष्टियों के द्वारा द्रौपदी का अनेक नायकों के विषय में प्रेम अभिव्यक्त होता है; इस कारण यहाँ रसाभास

ही व्यंग्य है।" यह है नवीन विद्वानों का मत। पर प्राचीनों* का तो मत है कि "अविवाहित अनेक नायकों के विषय में होने पर ही रति आभासरूप होती है, अन्यथा नहीं; अतः यहाँ विवाहित नायकों के विषय में प्रेम होने के कारण रस ही है"।

विप्रलंभाभास

व्यत्यस्तं लपति क्षणं क्षणमथो मौनं समालम्बते
सर्वस्मिन् विदधाति किञ्च विषये दृष्टिं निरालम्बनाम्।
श्वासं दीर्घमुरीकरोति न मनागङ्गेषु धत्ते धृतिं
वैदेहीकमनीयताकवलितो हा! हन्त!! लङ्केश्वरः॥

× × × ×

अटपट बोलत बैन छनहिं, छन मौन रहत है।
सबहि वस्तु पै देत दीठि, पै कछु न गहत है॥
लेत साँस अति दीह, तनिक हु न धीरज धारत।
हा! लंकेशहिं जनकसुता-सौंदर्य सँहारत॥

श्रीमती जनकनंदिनी के सौंदर्य से ग्रस्त किया हुआ लंकेश्वर-रावण बड़ा बेहाल हो रहा है। वह थोड़ी देर अंटसंट बोलता है तो थोड़ी देर चुप हो जाता है। सब चीजों को देखता है, पर उसकी आँखें

---

* इस मत में अरुचि है, और उसका कारण यह है कि—जिस तरह अविवाहित अनेक नायकों से प्रेम अनुचित होता है, उसी प्रकार विवाहितों से भी। सो यहाँ विवाहित-अविवाहित का पचड़ा लगाना ठीक नहीं, और न लक्षण में ही विवाहित-अविवाहित के लिये पृथक् व्यवस्था की गई है। यह है नागेश का अभिप्राय।

कहीं जम नहीं पातीं। वह लंबी सांस लिया करता है और उसके अंगों में तनिक भी धीरज नहीं है—कभी हाथ पटकता है कभी पैर, उससे थोड़ा भी शांत नहीं रहा जाता।

यहाँ सीता के विषय में जो लंकेश का विरहावस्था का प्रेम है, सो अनुभयनिष्ठ—केवल रावण में—होने के कारण और जगद्गुरु भगवान् रामचंद्र की पत्नी के विषय में होने के कारण 'आभास' रूप है। उसे (प्रेम को) अटपट बोलने के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला उन्माद, चुप होने के द्वारा व्यक्त होनेवाला श्रम, आलंबनरहित देखने से अभिव्यक्त होनेवाला मोह, लंबे साँसों के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली चिंता और अंगों की अधीरता के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली व्याधि, ये संचारी भाव भी जगद्गुरु की पत्नी के विषय में होने के कारण आभासरूप होकर, पुष्ट करते हैं, और उनके द्वारा पुष्ट की हुई आभास-रूप रति इस पद्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम काव्य) कहे जाने का कारण है।

इसी तरह कलहशील कुपूत आदि के विषय में वर्णन किया जाने-वाला और वीतराग—अर्थात् संसार से प्रेम छोड़ देनेवाले—पुरुषों में वर्णन किया जानेवाला शोक, ब्रह्मविद्या के अनधिकारी चंडालादिकों में वर्णन किया जानेवाला निर्वेद, निंदनीय और कायर पुरुषों में तथा पिता प्रभृति के विषय में वर्णन किए जानेवाले क्रोध और उत्साह, बाजीगर आदि के विषय में वर्णन किया जानेवाले विस्मय, गुरुजन आदि के विषय में वर्णन किया जानेवाला हास; महावीर में वर्णन किया जानेवाला भय और यज्ञ के पशु के चरबी, रुधिर और मांस आदि के विषय में वर्णन की जानेवाली जुगुप्सा 'रसाभास' होते हैं। विस्तार हो जाने के भय से हमने यहाँ इनके उदाहरण नहीं लिखे हैं, सुबुद्धि पुरुषों को चाहिए कि वे सोच निकालें।

भावाभास

इसी तरह जिनका विषय अनुचित होता है वे भाव 'भावाभास' कहलाते हैं। जैसे—

सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता
विद्यापि खेदकलिता विमुखीबभूव।
सा केवलं हरिणशावकलोचना मे
नैवाऽपयाति हृदयादधिदेवतेव॥

× × ×

सबै विषय बिसरे, गई विद्या हू विललात।
हिय ते वह अधिदेवि-सम हरिननैनि ना जात॥

सभी विषय विस्मरण के मार्ग में पहुँच गए और विद्या भी खिन्न होकर विमुख हो गई; पर केवल वह हरिण के बच्चे के से नेत्रवाली, अधिदेवता के समान, मेरे हृदय से नहीं हट रही है—आज भी ज्यों की त्यों हृदय में बसी है।

यह गुरुकुल में विद्याभ्यास करते समय, गुरुजी की पुत्री के लावण्य से मोहित हुए पुरुष की अथवा जिसका गमन अत्यंत निषिद्ध है उस स्त्री को स्मरण करते हुए अन्य किसी की—जब वह विदेश में रहता था तब की—उक्ति है।

यहाँ माला, चंदन आदि इंद्रियों के भोग्य पदार्थों में और बहुत समय तक सेवन की हुई विद्या में—अपने को छोड़ देने के कारण—कृतघ्नता, और हरिणनयनी ने नहीं छोड़ा इस कारण उसकी अलौकिकता, व्यतिरेक (एक अलंकार) रूप से अभिव्यक्त होती है। पर वे दोनों स्मृति को ही पुष्ट करती हैं, सो 'स्मृति-भाव' ही प्रधान है। इसी प्रकार

न छोड़ने में भी जो सार्वदिकता (सब समय रहना) है, उसे अभि-व्यक्त करनेवाली अधिदेवता* की उपमा भी उसी को पुष्ट करती है।

यह स्मृति अनुचित (गुरुकन्या अथवा वैसी ही अन्य) के विषय में होने के कारण और अनुभयनिष्ठ होने—अर्थात् केवल नायक से संबंध रखने—के कारण 'भावाभास' है। पर, यदि यह माना जाय कि यह उस (हरिणनयनी) के वर की ही उक्ति है तो यह पद्य 'भावध्वनि' ही है, यह समझना चाहिए।

भावशांति

जिनके स्वरूप पहले वर्णन किए जा चुके हैं, उन भावों में से किसी भी भाव के नाश को 'भावशांति' कहते हैं। पर, वह नाश उत्पत्ति के समय का ही होना चाहिए—अर्थात् भाव के उत्पन्न होते ही उसके नाश का वर्णन होना चाहिए, उसके काम कर चुकने के बाद का नहीं; क्योंकि सहृदय पुरुषों को ऐसी ही भावशान्ति चमत्कृत करती है। उदाहरण लीजिए—

मुञ्चसि नाद्यापि रुषं भामिनि! मुदिरालिरुदियाय।
इति तन्व्याः पतिवचनैरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचिः॥

× × × ×

"भामिनि! अजहु न तजसि तू रिस उनई घन-पाँति।"
गयो सुतनु-दृग-कोन-रँग सुनि पिय-बच इहि भाँति॥

'हे कोपने! तू अब भी रोष नहीं छोड़ती, देख तो, मेघों की माला उदय हो आई है' इस तरह पति के वचनों ने, कृशांगी के नेत्र-

---

* शास्त्रीय सिद्धांत है कि प्रत्येक वस्तु में एक अधिदेवता रहता है, और वह उसे कभी नहीं छोड़ता।

कमल के कोने में जो अरुणकांति थी, उसे पी डाला—वह उत्पन्न होते-होते ही उड़ गई।

यहाँ प्यारे के पूर्वोक्त वचन का सुनना विभाव है, नेत्र के कोने में उत्पन्न हुई ललाई का नाश, अथवा उसके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली प्रसन्नता, अनुभाव है और इनके द्वारा उत्पत्ति के समय में ही रोष का नष्ट हो जाना व्यंग्य है।

भावोदय

इसी तरह भाव की उत्पत्ति को भावोदय कहते हैं। उदाहरण लीजिए—

वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनीहारलक्ष्म दयितस्य भामिनी।
अंसदेशवलयीकृतां क्षणादाचकर्ष निजबाहुवल्लरीम्॥

× × ×

देखि भामिनी दयित-उर हारचिन्ह दुख-मूरि।
गल लिपटी निज-भुजलता कीन्हीं छिन में दूरि॥

क्रोधिनी नायिका ने, प्यारे की छाती पर, सौत के हार का चिह्न देखते ही, जो बाहु-लता कंधे के चारों ओर लिपट रही थी, उसे तत्काल खींच लिया।

यहाँ भी 'प्यारे के वक्षःस्थल पर सौत के हार का चिह्न दीखना' विभाव है और 'उसके कंधे पर से लिपटी हुई भुजलता का खींच लेना' अनुभाव है। इनसे रोषभाव का उदय व्यंग्य है।

यद्यपि भावशांति में किसी दूसरे भाव का उदय और भावोदय में किसी पूर्व भाव की शांति आवश्यक है; तात्पर्य यह कि भावशांति और भावोदय एक दूसरे के साथ नियत रूप से रहते हैं; अतः इन दोनों

के व्यवहार का विषय पृथक्-पृथक् नहीं हो सकता। तथापि एक ही स्थल पर दोनों तो चमत्कारी हो नहीं सकते, और व्यवहार है चमत्कार के अधीन--अर्थात् जो चमत्कारी होगा उसी की ध्वनि वहाँ कही जायगी; अतः दोनों के विषय का विभाग हो जाता है—चमत्कार के अनुसार उनको पृथक्-पृथक् समझा जा सकता है।

भावसंधि

इसी तरह, एक दूसरे से दबे हुए न हों, पर एक दूसरे को दबाने की योग्यता रखते हों, ऐसे दो भावों के एक स्थान पर रहने को 'भाव-संधि' कहते हैं। उदाहरण लीजिए—

यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः।
संकुचन्ति विकसन्ति राघवे जानकीनयननीरजश्रियः॥

× × ×

जोबन-उदगम तें सु अहैं जे अतिसै शंकित।
शील, शौर्य, बल, कांति देखि पुनि जे हैं लोभित॥
ते मिथिलाधिपसुता-नयनकमलनि की शोभा।
सँकुचत विकसत निरखि रामतन लहि-लहि छोभा॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है—यौवन के उत्पन्न हो जाने के कारण अत्यंत शंकायुक्त और सच्चरित्रता, शूरवीरता, बल और कांति के कारण लोभयुक्त श्रीजनकनंदिनी के नेत्र कमलों की शोभाएँ, श्री रघुवर के विषय में, संकुचित और विकसित हो रही हैं।

यहाँ भगवान् रामचंद्र के अंदर संसार भर से श्रेष्ठ यौवन की उत्पत्ति का एवं वैसी ही सच्चरित्रता, शूरवीरता आदि का देखना विभाव है, तथा नेत्रों के संकोच और विकास अनुभाव हैं; और, इनके द्वारा लज्जा और औत्सुक्य नामक भावों की संधि व्यंग्य है।

भावशबलता

एक-दूसरे के साथ बाध्य-बाधकता का संबंध रखनेवाले अथवा उदासीन रहनेवाले भावों के मिश्रण को 'भावशबलता' कहते हैं। मिश्रण शब्द का अर्थ यह है कि अपने अपने वाक्य में पृथक्-पृथक् रहने पर भी, महावाक्य का जो चमत्कारोत्पादक एक बोध होता है, उसमें सबका अनुभूत हो जाना। उदाहरण लीजिए—

पापं हन्त ! मया हतेन विहितं सीताऽपि यद्यापिता
सा मामिन्दुमुखी विना बत ! वने किं जीवितं धास्यति।
आलोकेय कथं मुखानि कृतिनां किं ते वदिष्यन्ति माम्,
राज्यं यातु रसातलं पुनरिदम्, न प्राणितं कामये॥

× × × ×

जो सीतहिं मैं मृतक तजी हा ! कियो पाप यह।
मो बिन बन में कहा जिएगी बिधुवदनी वह॥
किमि सज्जन-मुख नैन यहै मम देखि सकेंगे।
अँगुरिन मोहिं दिखाय हाय ! वे कहा कहेंगे॥
जाय राज्य पाताल यह मोहिं न याकी चाह है।
प्रान हु करैं पयान मुहिं इनकी ना परवाह है॥

सीता को वनवास देने के अनंतर भगवान् राम कहते हैं—अरे ! मुझ मृतक ने सीता को भी (जो पतिव्रताओं में प्रधान है) निकाल दिया—यह पाप किया है, हाय ! क्या वह चंद्रवदनी मेरे बिना जंगल में जी सकती है ! मैं भले मानुसों का मुँह कैसे देखूँ ! वे मुझे क्या कहेंगे ! यह राज्य रसातल में जाय, मैं जीना नहीं चाहता !

यहाँ 'अरे ! मुझ मृतक ने' इस 'वाक्य खंड' से **असूया**, 'सीता को भी निकाल दिया' इससे **विषाद**, 'यह पाप किया है' इससे **मति**, 'वह

चंद्रवदनी' इससे **स्मृति**, 'क्या मेरे बिना जी सकती है !' इससे **वितर्क**, 'मैं भले मानुसों का मुँह कैसे देखूँ !' इससे **लज्जा**, 'वे मुझे क्या कहेंगे' इससे **शंका**, और 'यह राज्य रसातल में जाय, मैं जीना नहीं चाहता !' इससे **निर्वेद**; ये भाव पूर्वोक्त विभावों के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं और उनकी यहाँ शबलता हो गई है।

शबलता के विषय में विचार

काव्यप्रकाश की टीका लिखनेवालों ने जो यह लिखा है कि "उत्तरोत्तर भाव से पूर्व-पूर्व भाव के उपमर्द (दबा दिए जाने) का नाम शबलता है"; सो ठीक नहीं; क्योंकि

"पश्येत् कश्चिच्चल चपल रे ! का त्वराऽहं कुमारी,
हस्तालंबं वितर हहहा ! व्युत्क्रमः कासि यासि।"

इस पद्य में शंका, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, मति और औत्सुक्य भाव, यद्यपि एक दूसरे का लेशमात्र भी उपमर्द नहीं करते—परस्पर किंचिन्मात्र भी नहीं दबते-दबाते—तथापि स्वयं काव्यप्रकाशकार ने ही, पाँचवें उल्लास में, इन सबकी शबलता को राजा की स्तुति में गुणीभूत बतलाया है। यदि आप कहें कि—"अनंतरभावी विशेषगुण से पूर्वभावी विशेष-गुण का नाश हो जाया करता है" यह नियम है, (और चित्तवृत्तिरूप भावों का, नैयायिकों के सिद्धांतानुसार इच्छा आदि विशेष-गुण में समावेश होता है) अतः बिना पूर्वभाव का नाश हुए उत्तर भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता, सो आपका कहना ठीक नहीं। तो हम कहेंगे कि—आप जिसकी बात कर रहे हैं, वह नाश न तो व्यंग्य होता है, न उसका नाम उपमर्द है, न चमत्कारी ही है कि उसे व्यंग्यों के भेदों में पृथक् गिना जाय। इस कारण यों मानना चाहिए कि—

नारिकेलजलक्षीरसिताकदलमिश्रणे।
विलक्षणो यथाऽऽस्वादो भावानां संहतौ तथा॥

अर्थात् जिस तरह नारियल के जल, दूध, मिश्री और केलों के मिश्रण में विलक्षण स्वाद उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार भावों के मिश्रण में भी होता है। तात्पर्य यह कि—जैसे पूर्वोक्त नरियल के जल आदि पदार्थ, मिलने पर, एक दूसरे का स्वाद नष्ट नहीं करते; किंतु सब मिलकर, अपना-अपना स्वाद देते हुए भी, एक नया स्वाद उत्पन्न कर देते हैं; उसी तरह भाव भी अपना अपना आस्वादन करवाते हुए भी एक नया आस्वादन उत्पन्न कर देते हैं। अतः 'पूर्व-पूर्व भाव के नाश' का यहां प्रश्न ही नहीं उठता।

भावशांति आदि की ध्वनियों में भाव प्रधान होते हैं, अथवा शांति-आदि ?

यहाँ यह समझ लेने का है कि जो ये जो भावशांति, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता की ध्वनियाँ उदाहरणों में दी गई हैं, वे भी भाव-ध्वनियाँ ही हैं। जिस तरह विद्यमानता की अवस्था में भावों का आस्वादन किया जाने पर अवस्था का प्राधान्य नहीं, किंतु भावों का प्राधान्य माना जाता है, इसी प्रकार उत्पन्न होते हुए, विनाश होते हुए, एक दूसरे से सटते हुए और एक साथ रहते हुए आस्वादन किए जाने पर भी भावों की ही प्रधानता उचित है; क्योंकि चमत्कार का विश्राम वहीं (भाव-की चर्वणा में ही) जाकर होता है, केवल अवस्थामात्र में नहीं। यद्यपि उत्पत्ति, विनाश, संधि और शबलता का तथा उनसे संबंध रखने-वाले भावों का—दोनों का—आस्वादन समानरूप में होता है, अतः कौन प्रधान है और कौन अप्रधान यह नहीं समझा जा सकता; तथापि जब स्थिति की अवस्था में भावों की प्रधानना मानी जा चुकी है, तब भावशांति-आदि में भी जिनके शांति-आदि हैं उन अभिव्यक्त होनेवाले भावों में ही प्रधानता की कल्पना करना उचित है। और यदि यह

स्वीकार करोगे कि भावशांति-आदि में भाव प्रधान नहीं हैं, किंतु गौण हैं और शांति आदि प्रधान हैं तो जिन काव्यों में भाव व्यंग्य होते हैं और शांति-आदि वाच्य होते हैं उनको आप भावशांति-आदि की ध्वनियाँ नहीं कह सकते। जैसे कि—

उषसि प्रतिपक्षनायिकासदनादन्तिकमञ्चति प्रिये।
सुदृशो नयनाब्जकोणयोरुदियाय त्वरयाऽरुणद्युतिः॥

× × × ×

सौति-सदन ते निजनिकट पिय आए लखि प्रात।
सुतनु-नयन-कोननि उदै भई तुरत दुति रात॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—विरोधिनी नायिका (सौत) के घर से, सवेरे के समय, जब प्रियतम अपने घर आए, तो सुनयनी नायिका के नयनकमलों के कोनों में झट अरुण कांति उदय हो आई। यहाँ मूल में 'उदियाय' शब्द के द्वारा भाव के उदय की प्रतीति वाच्यरूप से ही कराई जा रही है।

पर यदि आप कहें कि उदय के वाच्य होने पर भी भाव के वाच्य न होने के कारण इस काव्य को ध्वनि मानने में कोई बाधा नहीं तो हम कह सकते हैं कि आपके हिसाब से जो प्रधान है उदय, वह जब काव्य को ध्वनि कहलवाने की योग्यता नहीं रखता, तब अप्रधान (भाव) के कारण काव्य को ध्वनि कहना कैसे बन सकता है? पर हमारे मत में तो उत्पत्ति के वाच्य होने पर भी जो उत्पत्ति से व्याप्त अमर्ष-भाव प्रधान है, उसके वाच्य न होने के कारण, इस पद्य को 'भावोदयध्वनि' कहना उचित ही है।

इसी तरह आपके मत में भाव ध्वनित होता हो और शांति वाच्य हो तो वहाँ भी भावशांति की ध्वनि न होगी। जैसे—

क्षमापणैकपदयोः पदयोः पतति प्रिये ।
शेमुः सरोजनयनानयनारुणकान्तयः ॥

× × × ×

छमा-करावन-मुख्य-थल चरन परे जब कांत ।
कमलनयनि के नयन की अरुन कांति भइ शांत ॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—क्षमा करवाने के सर्व प्रधान स्थान चरणों पर पति के गिरते ही कमलनयनी के नेत्रों की अरुण कांतियाँ शांत हो गई ।

यदि आप कहें कि— इन पद्यों में, शब्दों के द्वारा वाच्य जो शांति आदि हैं; उनका अन्वय अरुणकांति के साथ ही है, अमर्ष-आदि भावों के साथ तो है नहीं; अतः यहाँ अरुणकांति के शांति-आदि ही वाच्य हुए, न कि उनसे अभिव्यक्त होनेवाले रोषशांति आदि । कारण, व्यंग्य और व्यंजक दोनों पृथक्-पृथक् होते हैं—यह तो अवश्य मानना पड़ेगा; सो यहाँ अरुणकांति की शांति के वाच्य होने पर भी रोष की शांति व्यंग्य ही रही; क्योंकि अरुणकांति की शांति व्यंजक है और रोष की शांति व्यंग्य । यदि हम कहें कि—अरुणता के द्वारा व्यंग्य जो रोष है उसी का वाच्य शांति आदि के साथ अन्वय है—अर्थात् हम व्यंग्य का ही वाच्य के साथ अन्वय मान लेते हैं । तो आप कहेंगे यह उचित नहीं, क्योकि यह सिद्ध है कि पहले वाच्य की प्रतीति होती है, फिर व्यंग्य की; तब यह मानना पड़ेगा कि—जिस समय वाच्यों का अन्वय होगा उस समय व्यंग्य उपस्थित ही नहीं हो सकता; फिर बताइए वाच्यों के साथ व्यंग्यों का अन्वय कैसा ? दूसरे, यदि ऐसा ही मानो तो प्रथम-पद्य (उषसि...) में 'सुनयनी के नयन-कमलों में' इस वाक्यखंड का अन्वय नहीं हो सकता; क्योंकि अमर्ष तो

चित्तवृत्तिरूप है, वह आँखो में आवेगा कहाँ से ? अतः उन वाच्य शांति आदि का अरुणकांति आदि के साथ ही अन्वय मानना ठीक है; सो इन पद्यों में भावशांति-आदि वाच्य नहीं हो सकती। पर ऐसा न कहिए। क्योंकि ऐसा मानने पर भी—

निर्वासयन्तीं धृतिमङ्गनानां शोभां हरेरेणदृशो धयन्त्याः।
चिरापराधस्मृतिमांसलोपि रोषः क्षणप्राघुणिको बभूव॥

× × ×

स्मृति ते अतिबल भई सुचिर अपराधनि गन की।
कीन्हीं जाने परम विवशता निज तन-मन की॥
सो रिस मिस-सो कीन्ह भई पाहुनि इक छन की।
जुवतिन धीरज-हरनि निरखि शोभा हरि-तन की॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—स्त्रियों के धैर्य को बलात् निकाल फेंकती हुई भगवान् कृष्णचंद्र की शोभा मृगनयनी ने ज्योंहीं पान की, त्योंही बहुत समय के अपराधों के स्मरण के कारण अत्यंत प्रबल हुआ भी रोष एक क्षण भर का पाहुना हो गया—उसका थोड़ा भी साहस न हुआ कि कुछ तो ठहरे।

इत्यादिक पद्य भी भावशांति की ध्वनियाँ होने लगेंगे, क्योंकि यहाँ यद्यपि रोष भाव वाच्य है, तथापि आपके हिसाब से जो प्रधान है, वह शांति "क्षण भर का पाहुना हुआ" इस अर्थ से व्यंग्य है।

अब यदि आप कहें कि भाव और शांति दोनों का व्यंग्य होना अपेक्षित है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि पूर्वोक्त दोनों पद्यों में शांति रूप से शांति (फिर वह रोष की हो चाहे अरुण कांति की) और इसी तरह उदय रूप से उदय (फिर वह अमर्ष का हो चाहे अरुण कांति का) वाच्य हो गए हैं, अतः वे पद्य उन दोनों ध्वनियों के उदा-

हरण न हो सकेंगे। और इस बात को स्वीकार कर लेना—कह देना कि हम तो इन्हें भावशांति और भावोदय की ध्वनियाँ मानते ही नहीं, सहृदयों के लिये अनुचित है। अतः यह सिद्ध होता है कि भावशांति आदि में भी प्रधानतया भाव ही चमत्कारी होते हैं, शांति आदि तो गौण होते हैं; सो उनका वाच्य होना दोष नहीं।

हाँ, भावों की ध्वनियों से भावशांति आदि की ध्वनियों के चमत्कार की विलक्षणता में मुख्य कारण यह है कि भाव-ध्वनियों में भावों की स्थिति के साथ अमर्ष आदि के रूप में अथवा केवल अमर्ष आदि के रूप में ही आस्वादन होता है; पर भावशांति आदि की ध्वनियों में भावों के साथ शांति-आदि की अवस्थावाले होने का भी आस्वादन होता है।

रसों की शांति आदि की ध्वनियाँ क्यों नहीं होतीं !

रसों में तो शांति आदि होते ही नहीं; क्योंकि उनका मूल है स्थायी भाव; और यदि उसकी भी उत्पत्ति और शांति होने लगे तो उसका स्थायित्व ही नष्ट हो जाय, उसमें और साधारण भावों में भेद ही क्या रहे ? पर यदि कहो कि स्थायी भाव की भी अभिव्यक्ति के तो नाश आदि होते हैं, बस, उनको ही उसके शांति आदि मान लेंगे, सो उसमें कुछ चमत्कार नहीं; क्योंकि अभिव्यक्ति के नाश के उपरांत रहेगा ही क्या ! इस कारण उसका यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है।

रस-भाव-आदि अलक्ष्यक्रम ही हैं अथवा लक्ष्यक्रम भी ?

यह जो पूर्वोक्त रति-आदि व्यंग्यों का प्रपंच है, वह जहाँ प्रकरण स्पष्ट हो वहाँ, जो पुरुष अत्यंत सहृदय है उसे तत्काल विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का ज्ञान हो जाता है, और उसके होते ही

बहुत ही थोड़े समय में प्रतीत हो जाता है, अतः अनुभवकर्त्ता को कारण और कार्य की पूर्वापरता का क्रम नहीं दिखाई पड़ता, सो इसे 'अलक्ष्य-क्रम' कहा जाता है।

पर, जहाँ प्रकरण विचार करने के अनंतर ज्ञात होता हो और जहाँ प्रकरण के स्पष्ट होने पर भी विभावादिकों की तर्कना करनी पड़े, वहाँ सामग्री के विलंब के अधीन होने के कारण चमत्कार में कुछ मंदापन आ जाता है, वह धीरे धीरे प्रतीत होता है; सो वहाँ यह रति-आदि व्यंग्य-समूह संलक्ष्यक्रम भी होता है। जैसे—"तल्पगताऽपि च सुतनुः......" इस पद्य में, जो कि पहले उदाहरण में आ चुका है, 'संप्रति' इसके अर्थ का ज्ञान विलंब से होता है। सो उन्हें संलक्ष्यक्रम व्यंग्य भी मानने में कोई बाधा नहीं। और यह भी नहीं है कि रति आदि की ध्वनियाँ जिस प्रमाण से ग्रहण की जाती हैं, उस प्रमाण से उनकी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यता सिद्ध होती हो, जिससे कि हमें उन्हें असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य मानने के लिये बाध्य होना पड़े। तात्पर्य यह कि वे संलक्ष्यक्रम व्यंग्य होते ही न हों, सो बात नहीं है। अतएव लक्ष्य-क्रमों के प्रसंग में आनन्दवर्धनाचार्य (ध्वन्यालोककार) का यह कथन है कि—

"एवंवादिनि* देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

---

* यह पद्य 'कुमारसंभव' का है। इसका पूर्व प्रसंग और अर्थ यों है। पार्वती देवी की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने उन्हें वरण करने के लिये वरदान दिया और उसका परिपालन करने के लिये उन्होंने महर्षि नारद को पार्वती के पिता पर्वतराज हिमालय के पास भेजा। जब वे उससे विवाह-प्रसंग की बात कर रहे थे, उस समय की कवि की उक्ति है कि—नारदजी ने पिताजी के पास इस तरह

इस पद्य में बालिकाओं के स्वभाव के अनुसार भी मुख की नम्रता सहित खेलने के कमलों के पत्रों का गिनना सिद्ध हो सकता है, अतः, थोड़े बिलंब से, जब नारदजी के किए हुए विवाह के प्रसंग का ज्ञान होता है, तब, पीछे से, लज्जा का चमत्कार होता है, सो यह (लज्जा-की) ध्वनि (अभिव्यक्ति) लक्ष्यक्रम है।" और अभिनवगुप्ताचार्य (ध्वन्यालोक की टीका लोचन के कर्त्ता) का भी यह कथन है कि "रस भाव आदि पदार्थ ध्वनित ही होते हैं, कभी वाच्य नहीं होते, तथापि सभी अलक्ष्यक्रम का विषय नहीं हैं—अर्थात् वे संलक्ष्यक्रम भी हैं।"

पर, यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि ये रसादिक संलक्ष्यक्रम भी हों तो अनुरणनात्मक ध्वनियों के भेदों के प्रसंग में "अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद होते हैं"। यह अभिनवगुप्त की उक्ति और "सो यह बारह प्रकार का है" यह मम्मट भट्ट की उक्ति असंगत हो जायगी। क्योंकि व्यंजक अर्थ दो प्रकार का होता है—एक वस्तुरूप, दूसरा अलंकाररूप। और उनमें से प्रत्येक स्वतःसंभवी (अर्थात् संसार में उपलब्ध हो सकनेवाला), कविप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थात् कविकल्पित कथन मात्र से सिद्ध) और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थात् कवि ने जिसका अपने ग्रंथ में वर्णन किया है उस वक्ता की प्रौढ़ोक्ति मात्र से सिद्ध) इन तीन-तीन उपाधियों से युक्त होते हैं; अतः जिस तरह व्यंग्य वस्तु और अलंकार ६-६ रूपों में अभिव्यक्त होते हैं, उसी प्रकार रसादिक भी ६ रूपों में अभिव्यक्त होंगे, और इस तरह पूर्वोक्त भेद, बारह की जगह अठारह होने चाहिएँ।

बात की, तो पार्वती नीचा मुँह करके खेलने के कमल के पत्रों को गिनने लगीं।

इसका प्रत्युत्तर यह है कि अभिनवगुप्तादिकों के अभिप्राय का इस तरह वर्णन कर दो कि स्पष्ट प्रतीत होनेवाले विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के परिज्ञान होने के अनंतर, क्रम का ज्ञान न होकर, जिस रति-आदि स्थायी भाव की अभिव्यक्ति होती है, वही रस-रूप बनता है, क्रम के लक्षित होने पर नहीं, क्योंकि रसरूप होने का अर्थ ही यह है कि स्थायी भाव का झट से उत्पन्न होनेवाले अलौकिक चमत्कार का विषय बन जाना, यह नहीं कि धीरे धीरे समझने के बाद उसमें अलौकिक चमत्कार का उत्पन्न हो जाना। अतः जिस रति-आदि की प्रतीति का क्रम लक्षित हो जाता है, उसे वस्तु-मात्र—अर्थात् केवल रति आदि ही—कहना चाहिए, रसादिक नहीं। सो उनकी उक्तियों का विरोध नहीं रहता। (तात्पर्य यह कि इस तरह रस-आदि के छः भेद भी वस्तु के ही अंतर्गत हो जाते हैं, सो अठारह भेद लिखने की आवश्यकता नहीं रहती।)

पर, इस बात को सिद्ध करने के लिये कि 'अलक्ष्यक्रम होने पर ही रस मानना चाहिए और लक्ष्यक्रम होने पर नहीं': युक्ति विचारने की आवश्यकता है। अर्थात् इस कथन में कोई युक्ति नहीं है, अतः संलक्ष्यक्रम होने पर भी रस मानने में कोई बाधा नहीं*।

---

* यहाँ भी नागेश भट्ट की टिप्पणी है, और मार्मिक है। वे कहते हैं कि विभाव आदि की प्रतीति और रस की प्रतीति में जो सूक्ष्मकाल का अंतर होता है, जिसे कि क्रम कहा जाता है, उसकी यदि सहृदय पुरुष को प्रतीति हो जावे, तो विभावादिकों के और रस के पृथक्-पृथक् प्रतीत होने के कारण, रति आदि की प्रतीति के समय भी विभावादिकों की प्रतीति पृथक् रहेगी, और इस तरह विगलितवेद्यान्तरता—अर्थात् रस के ज्ञान के समय दूसरे ज्ञातव्य पदार्थों का न रहना—नहीं बन सकती। और जब तक वह न बने, तब तक उसे रस कहा ही नहीं जा सकता।

रहा पूर्वोक्त अभिनवगुप्त का वाक्य, सो उसमें जो 'रस, भाव आदि' अर्थ लिखा है, वहाँ 'रस आदि' शब्द का अर्थ 'रति आदि' समझना चाहिए, वास्तविक रस नहीं।

रही, रस की विगलितवेद्यांतरता,सो वह तो सभी सहृदयों को संमत है, अतः आप (पंडितराज) को भी है ही। सो इस बात में साधकयुक्ति है, फिर इसे युक्तिरहित कहना ठीक नहीं। यह तो है प्राचीन विद्वानों की रीति से समाधान।

अब नवीन विद्वानों का समाधान सुनिए। वे कहते हैं कि—कोई पद अथवा पदार्थ वक्ता आदि की विशेषता और प्रकरण आदि का साथ होने पर ही व्यंजक हो सकता है; अतः यह सिद्ध होता है कि उनके सहित ही विभावादिकों का ज्ञान होने के अनंतर रस की प्रतीति होती है, और विभाव-आदि के ज्ञान तथा रस की प्रतीति के मध्य में जो क्रम रहता है, उसके न दिखाई देने के कारण अलक्ष्यक्रम कहा जाता है। अब सोचिए कि यदि प्रकरण आदि के ज्ञान का विलंब होने से विभाव-आदि के ज्ञान में विलंब हो भी जाय, तथापि, पूर्वोक्त उदाहरण में, अलक्ष्यक्रमता में कोई बाधा नहीं होती, क्योंकि विभावादिकों के ज्ञान और उसके उत्पन्न करनेवाले प्रकरणादि के ज्ञान के क्रम को लेकर अलक्ष्यक्रमता नहीं मानी जाती, किंतु विभावादिकों के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले रस-आदि के ज्ञान के क्रम को लेकर मानी जाती है। इसी अभिप्राय के अनुसार "अर्थशक्तिमूलक के १२ भेद होते हैं" इस अभिनवगुप्त की उक्ति को और विभावादिकों के अतिरिक्त अन्य किसी वाच्यार्थ की अपेक्षा से क्रम भी ग्रहण किया जा सकता है, सो लक्ष्यक्रम होने की उक्ति को—दोनों को—किसी तरह ठीक कर लेना चाहिए। सहृदयों का अनुभव इस बात की साक्षी नहीं देता कि विभावादि की प्रतीति के अतिरिक्त अन्य किसी वाच्यार्थ की प्रतीति होने पर भी विग-

ध्वनियों के व्यंजक

सो इस तरह यह जो रस-आदि ध्वनियों का प्रपञ्च निरूपण किया गया है, उसकी अभिव्यक्ति पदों, वर्णों, रचनाओं, वाक्यों; प्रबंधों (ग्रंथों) और पद के अंशों एवं जो अक्षररूप नहीं हैं उन रागादिकों के द्वारा भी निरूपण की जाती है। उनमें से प्रत्येक का विवरण सुनिए—

पदध्वनि

यद्यपि वाक्य के अंतर्गत जितने पद होते हैं वे सभी अपने-अपने अर्थ को उपस्थित करके, समान रूप से ही, वाक्यार्थ के ज्ञान का साधन होते हैं, तथापि उनमें से कोई एक ही पद काम कर जानेवाला अतएव चमत्कारी होता है कि जिसके कारण वाक्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम काव्य) कहा जा सके। जैसे—"मन्दमाक्षिपति" अथवा "हरुए रही उठाय" इसमें "मंदम्" अथवा "हरुए" शब्द।

वर्णध्वनि तथा रचनाध्वनि

रचना और अक्षर, यद्यपि पदों और वाक्यों के अंतर्गत होकर ही व्यंजक होते हैं, क्योंकि रचना और अक्षरमात्र पृथक् तो व्यंजक पाए नहीं जाते; अतः यह कहा जा सकता है कि वैसी रचना और वर्ण से युक्त पद और वाक्य व्यंजक होते हैं सो उनकी व्यंजकता में जो पदार्थ विशेष रूप से रहनेवाले हैं, उन्हीं में इनका भी प्रवेश हो जाता है, अतः

लितवेद्यांतरता हो जाय, कि जिससे वाच्यार्थ और विभावादि के क्रम का ज्ञान होने पर भी रसत्व नष्ट हो जाय। तात्पर्य यह कि विगलित-वेद्यांतरता विभावादि की प्रतीति और रस की प्रतीति का क्रम न जानने पर हो जाती है, वाच्यार्थ और विभावादि के क्रम से उससे कुछ संबन्ध नहीं।

इन्हें स्वतंत्ररूप से व्यंजक मानने की आवश्यकता नहीं रहती, तथापि पदों और वाक्यों से युक्त रचना और वर्ण व्यंजक है अथवा रचना और वर्णसे युक्त पद और वाक्य; इन दोनों में से एक बात को प्रमाणित करने के लिये कोई साधन नहीं है, इस कारण प्रत्येक की व्यंजकता सिद्ध हो जाती है। जैसे कि घड़े का कारण चाकसहित डंडा माना जाय अथवा डंडासहित चाक; इनमें से जब एक बात को सिद्ध करनेके लिये कोई प्रमाण नहीं है, तब—चाक और उसे फिराने का डंडा—दोनों पृथक् पृथक् कारण मान लिए जाते हैं। सो वर्ण और रचना को भी पृथक् व्यंजक मानना अनुचित नहीं। यह तो है प्राचीन विद्वानों का मत।

परंतु नवीन विद्वानों का उनसे मतभेद है। वे कहते हैं कि—वर्ण और उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की वैदर्भी-आदि रचनाएँ माधुर्य-आदि गुणों को ही अभिव्यक्त करती हैं, रसों को नहीं; क्योंकि ऐसा मानने में एक तो व्यर्थ ही रसादिकों के व्यंजकों की संख्या बढ़ती है; दूसरे, इसमें कोई प्रमाण भी नहीं। पर, यदि आप कहो कि माधुर्य आदि गुण रसों में रहते हैं, अतः उन्हें अभिव्यक्त किए बिना केवल गुणों की अभिव्यक्ति कैसे की जा सकती है? सो ठीक नहीं; क्योंकि बिना गुणी की अभिव्यक्ति के गुणों की अभिव्यक्ति न होती हो—यह कोई नियम नहीं है। देखिए, इस नियम का नासिका-आदि तीन इंद्रियों में भंग हो गया है। वे गंध-आदि गुणों को अभिव्यक्त करती हैं, पर उन गुणो से युक्त पृथिवी-आदि पदार्थों को नहीं। अर्थात् नाक से पृथिवी का अनुभव नहीं होता, केवल गंध का ही होता है इत्यादि। इस तरह यह सिद्ध होता है कि गुणी, गुण और इनके अतिरिक्त अन्य तटस्थ पदार्थों को अपने-अपने अभिव्यंजक उपस्थित करते हैं; फिर वे कभी परस्पर संमिलित रूप से और कभी उदासीन रूप से उन-उन ज्ञानों (दर्शन-

श्रवणादिकों) के विषय हो जाते हैं, वैसे ही रस और उनके गुण भी अभिव्यक्ति के विषय होते हैं—अर्थात् वे पृथक्-पृथक् व्यंजकों से उपस्थित किए जाते हैं, और फिर कभी सम्मिलित रूप से तथा कभी उदासीन रूप से ग्रहण किए जाते हैं। साराश यह कि नवीनों के मतानुसार वर्णों और रचनाओं को रसों का व्यंजक मानना ठीक नहीं, उन्हें केवल गुणों का व्यंजक मानना चाहिए।

वर्णों और रचनाओं की व्यंजकता का उदाहरण "तां तमालतरुकान्तिलङ्घिनीम्···" इत्यादि पहले बता ही चुके हैं।

वाक्यध्वनि

वाक्यों की व्यंजकता का उदाहरण भी "आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी......" इत्यादि दिखाया जा चुका है।

प्रबंधध्वनि

अब प्रबंधों—अर्थात् ग्रंथों—की व्यंजकता के विषय में सुनिए। शांतरस का उदाहरण है 'योगवासिष्ठ' एवं करुण-रस का उदाहरण है 'रामायण' और 'रत्नावली' आदि तो श्रृंगार के व्यंजक होने के कारण प्रसिद्ध ही हैं। रहे भाव के उदाहरण, सो उनमें मेरी (पंडितराज की) बनाई हुई 'गंगा-लहरी' आदि पाँच लहरियाँ हैं।

पदैकदेशध्वनि

पदों के अंशों की व्यंजकता का उदाहरण, जैसे पूर्वोक्त 'निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि" इस पद्यांश में अल्पार्थक 'क' रूपी तद्धित-प्रत्यय वीर-रस का अभिव्यञ्जक है। अर्थात् उस प्रत्यय से वाक्य का यह तात्पर्य हो गया कि यह छोटा सा जगत् का गोला क्या चीज है, जिससे वक्ता का उत्साह जो वीररस का स्थायी भाव है, प्रतीत होता है। इसी तरह रागादिकों की भी व्यंजकता में सहृदयों

का हृदय ही प्रमाण है। अर्थात् यदि सहृदयों का अनुभव है तो उसे भी स्वीकार करना चाहिए।

इस तरह इन रसादिकों के प्रधान होने पर उदाहरण निरूपण कर दिए गए हैं। जब ये गौण हो जाते हैं, तब उनके उदाहरण और नाम (रसवान् आदि) वर्णन किए जायँगे।*

एक विचार

इस विषय में भी विद्वानों का मतभेद है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि—"जब ये रसादिक प्रधान होते हैं, तभी इनको रसादिक कहना चाहिए; अन्यथा रति आदि ही कहना चाहिए। सो गौणता की अवस्था में, 'रसवान्' नाम में जो रस शब्द है, उसका अर्थ रति आदि ही है, 'शृंगार' आदि नहीं।"

दूसरे विद्वानों का कथन है कि "रसादिक तो वे भी हैं, पर उनके कारण उन काव्यों को ध्वनि (उत्तमोत्तम काव्य) नहीं कहा जा सकता।"



* खेद है कि पंडितराज अपनी इस प्रतिज्ञा को पूर्ण न कर सके। उनका ग्रंथ अपूर्ण ही प्राप्त होता है और उसमें यह प्रकरण नहीं आ सका।

—अनुवादक

द्वितीय आनन

संलक्ष्य-क्रम ध्वनि*

[प्रथम आनन में यह बात लिखी जा चुकी है कि—व्यंग्य दो प्रकार के होते हैं: (१) 'संलक्ष्य-क्रम' और (२) 'असंलक्ष्यक्रम'। उनमें से अब तक असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य (रस आदि) का वर्णन किया गया है।] अब संलक्ष्यक्रम व्यंग्य का निरूपण किया जाता है—

संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के भेद

संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य प्रथमतः दो प्रकार के होते हैं—एक शब्दशक्ति-मूलक और दूसरा अर्थशक्ति-मूलक। उनमें से शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य दो प्रकार के होते हैं, क्योंकि सभी व्यंग्य, वस्तु और अलंकार के भेद से, दो प्रकार के हैं। अर्थात् संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के प्रथम भेद के दो भेद हैं—(१) 'वस्तुरूप शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य' और (२) 'अलंकाररूप शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य'।

अर्थशक्ति-मूलक व्यंग्य का व्यंजक अर्थ भी, प्रथमतः, दो प्रकार का होता है—वस्तुरूप और अलंकाररूप। पर काव्यों में वस्तु और अलंकाररूपी अर्थ दो तरह के पाए जाते हैं, एक वे जो संसार में देखे

---

* इस प्रकरण में 'ध्वनि' शब्द व्यंग्य का समानार्थक है, अतः बोध-सौकर्य के लिये हमने प्रायः 'व्यंग्य' शब्द का प्रयोग किया है; पर किया जा सकता है 'व्यंग्य' अथवा 'ध्वनि' दोनों शब्दों का प्रयोग। इतना याद रखिए।

जाते हैं (जिन्हें काव्यज्ञ लोग 'स्वतःसंभवी' कहते हैं) और दूसरे वे जो केवल प्रतिभा से बनाए हुए—अर्थात् कवि के कल्पित—होते हैं (जिन्हें काव्यज्ञ लोग 'कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध' कहते हैं)। ये चारों प्रकार के अर्थ व्यंजक होते हैं और इनमें से प्रत्येक के द्वारा वस्तुरूप और अलंकाररूप दो तरह के व्यंग्य अभिव्यक्त होते हैं। इस तरह अर्थशक्ति-मूलक व्यंग्य आठ प्रकार के होते हैं। आठों भेदों के नाम यों हैं—१—स्वतःसंभवि-वस्तु-मूलक वस्तु ध्वनि, २—स्वतः संभविवस्तु-मूलक अलंकारध्वनि, ३—*स्वतःसंभवि-अलंकारमूलक वस्तुध्वनि, ४—स्वतः-संभवि-अंलकार-मूलक अलकारध्वनि, ५—कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध-वस्तु-मूलक वस्तुध्वनि, ६—कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध-वस्तु-मूलक अलंकारध्वनि, ७—कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध-अलंकार-मूलक वस्तुध्वनि और ८—कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध-अलंकार-मूलक अलंकारध्वनि।

काव्य-प्रकाशादि के मत पर विचार

'काव्य-प्रकाश'-कार आदि ने अर्थशक्ति-सूलक व्यंग्य के चार भेद और माने हैं। उनका कहना है कि जिस तरह कवि की प्रौढ़ोक्ति (चमत्कार के अनुकूल कथन) से सिद्ध अर्थ माने जाते हैं, उसी तरह कवि ने काव्य में जिन वक्ताओं का वर्णन किया है, उनकी प्रौढ़ोक्ति से सिद्ध अर्थ भी माने जाने चाहिएँ। वे अर्थ भी वस्तुरूप तथा अलंकाररूप दो तरह के हो सकते हैं एवं उनमें से प्रत्येक के द्वारा वस्तुरूप और अलंकाररूप व्यंग्य अभिव्यक्त होंगे; अतः 'कवि-निबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्ति-सिद्ध' अर्थ को मूल मानकर चार भेद और माने जाने चाहिएँ।

---

* यद्यपि समासे संहितायां नित्यत्वम्, तथापि कर्णकटुत्वनिवृत्तये बोधसौकर्याय च 'हिन्दी'-नियमेनाऽसंहितमेवात्र प्रयुक्तम्।

पर पंडितराज का कथन है कि कवि की प्रौढोक्ति से सिद्ध और उसके वर्णन किए हुए वक्ता की प्रौढोक्ति से सिद्ध—दोनों ही प्रकार के—अर्थ केवल प्रतिभा द्वारा बनाए हुए हैं। वे कवि के हों तो क्या और उसके वर्णन किए वक्ता के हों तो क्या ? उन दोनों में एक दूसरे की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं, अतः इन चार भेदों को पृथक् गिनना उचित नहीं। यदि आप ऐसा करेंगे तो कवि ने जिनका वर्णन किया है उन वक्ताओं के वर्णन किए हुए—आदि के कल्पित अर्थों से भी व्यंग्यों के अन्यान्य भेद बनाए जा सकेंगे। यदि आप कहें कि कवि के वर्णन किए हुए वक्ताओं के वर्णन किए वक्ता भी कवि के वर्णित ही हुए, अतः उनके वर्णित अर्थ भी 'कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध' अर्थों से पृथक् नहीं गिने जा सकते; तो हम कहते हैं कि प्रथम वर्णित वक्ता भी कवि ही हुआ; क्योंकि जो अलौकिक वर्णन में चतुर हो उसे कवि कहा जाता है, सो बात उस वक्ता में भी विद्यमान ही है—यदि वह कोई चमत्कारी बात कहेगा तो उसे भी कवि माना जा सकता है (और वस्तुतः तो उसके द्वारा भी कवि ही कह रहा है); अतः उसके वर्णित अर्थ भी 'कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध' ही हुए, अतिरिक्त नहीं। अतः कवि के प्रथम वर्णित वक्ता को अतिरिक्त भेदों का प्रयोजक मानना उचित नहीं।

यों (दो शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य के और आठ अर्थशक्ति-मूलक व्यंग्य के इस तरह) 'संलक्ष्य-क्रम ध्वनि' के कुल दस भेद हुए।

शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य के विषय में विचार

(आगे का प्रकरण समझने के लिये ध्यान में रखिए कि—पूर्वोक्त संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के प्राथमिक दो भेदों में से प्रथम भेद 'शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य' उस जगह हुआ करता है, जहाँ अनेकार्थ शब्दों से कोई अप्राकरणिक—जिसका प्रकरण से संबंध न हो वह—अर्थ व्यंजना-वृत्ति से निकलता है, अतएव उसे व्यंग्य कहा जाता है। यह

प्राचीनों का सिद्धांत है। यह सिद्धांत क्यों माना जाता है और इस पर कैसी - कैसी आलोचनाएँ हुई हैं—इस बात को, मतभेदों और उनकी आलोचना सहित, नीचे समझाया गया है।)

क्या अनेकार्थक शब्दों का अप्रमाणिक अर्थ व्यंजना द्वारा ज्ञात होता है ?

(१)

कुछ लोगों का कथन है कि—अनेकार्थ शब्दों के सब अर्थों में संकेत-ज्ञान समान रहता है-अर्थात् लोग अनेकार्थ शब्दों के सभी अर्थों को समान रूप से समझते हैं, उनमें से किसी को आवश्यक और किसी को अनावश्यक रूप में नहीं स्मरण करते। (इस कारण, जब वे अनेकार्थक शब्द को सुनते हैं तो सुनते ही) उन्हें वे सब अर्थ स्मरण हो आते हैं। तब यह संदेह होता है कि यहाँ वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है—उसने यहाँ इस शब्द का किस अर्थ में प्रयोग किया है ? इस संदेह का निर्णय प्रकरण आदि से होता है, अतः श्रोता पुरुष प्रकरणादि की पर्यालोचना करके वक्ता के तात्पर्य का निर्णय कर लेता है।

(उदाहरण के लिये कल्पना कीजिये कि—किसी मनुष्य ने किसी हिंदू-राजा के विषय में 'सुरभिमांसं भक्षयति' वाक्य का प्रयोग किया। यहाँ 'सुरभि' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—'सुगंधित' और 'गाय'। ऐसी दशा में हिंदू - राजा का प्रकरण होने से श्रोता यह निर्णय कर लेता है कि यह शब्द यहाँ 'सुगंधित' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, 'गाय' के अर्थ में नहीं; क्योंकि हिंदू-राजा गाय का मांस नहीं खा सकता।)

अतः यह मानना पड़ता है कि अनेकार्थ शब्द का प्रथमतः तात्पर्य-ज्ञान होता है और फिर तात्पर्य-ज्ञानरूपी पदज्ञान से उस पद का अर्थ केवल एक अर्थ के विषय में होता है; और तब जाकर हमें

अन्वय-ज्ञान होता है। (अर्थात् प्रथमतः पद-ज्ञान के समय हमें अनेकार्थ शब्द के सब अर्थ उपस्थित रहते हैं; पर प्रकरणादि द्वारा तात्पर्य-ज्ञान हो जाने के अनन्तर केवल एक अर्थ का स्मरण रह जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह मानना पड़ता है कि—हमें अनेकार्थक पदों के अर्थों की उपस्थिति दो बार होती है—प्रथमतः अनेक अर्थवाली और फिर एक अर्थवाली।)

अब यह सोचिए कि जिस तरह पहली उपस्थिति अनेक अर्थों के विषय में होती है, उसी तरह दूसरी भी अनेक अर्थों के विषय में क्यों नहीं होती ? अतः दूसरी उपस्थिति में प्रकरणादि के ज्ञान अथवा उसके वशवर्त्ती तात्पर्य-निर्णय को प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) मानना पड़ेगा; अन्यथा शाब्दबोध भी अनेक अर्थों के विषय में होने लगेगा, जो कि होता नहीं। अतएव (इस सिद्धात के माननेवालों से भी) प्राचीनो ने यह लिखा है कि "...अनवच्छेदे **विशेषस्मृतिहेतवः**—अर्थात् तात्पर्य-ज्ञान का संदेह होने पर संयोग, विप्रयोग आदि (जिनका वर्णन आगे किया जायगा) केवल एक अर्थ के विषय में स्मरण के हेतु हैं।" इसका तात्पर्य यह है कि 'संयोगादि' के कारण अनेक अर्थों में से केवल एक अर्थ की ही स्मृति शेष रह जाती है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—"सुरभिमासं भक्षयति" इत्यादि वाक्य से केवल प्राकरणिक अर्थ 'सुगंधित' आदि की ही प्रतीति होनी चाहिए। पर, फिर भी जो दूसरी (अर्थात् 'गाय का मांस खाता है' यह) प्रतीति हो जाया करती है, वह (उस पद के अन्य अर्थ) 'गाय आदि' की उपस्थिति न होने पर कैसे हो सकेगी ? अतः ऐसे स्थलों में उस (द्वितीय) उपस्थिति के लिये व्यञ्जना-वृत्ति माननी चाहिए। (अर्थात् यह मानना चाहिए कि अनेकार्थक स्थलों में प्राकरणिक अर्थ का अभिधावृत्ति द्वारा बोध होता है और अप्राकरणिक का व्यञ्जनावृत्ति द्वारा)।

पर, यदि आप कहें कि अनेकार्थ शब्द की अपने सभी अर्थों में पृथक्-पृथक् शक्ति (अभिधा) रहती है, अतः एक शक्ति-द्वारा प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति हो जाने के अनंतर दूसरी शक्ति से फिर भी दूसरे अर्थ की उपस्थिति हो सकेगी। तो ऐसा हो ही नहीं सकता। कारण, जिस प्रकरणादिज्ञान को आपने दूसरे अर्थों के ज्ञान का प्रतिबंधक माना है, वह उस समय भी तो रहेगा ही—वह उस समय कहीं चला थोड़े ही जायगा! और यदि प्रकरणादिज्ञान को प्रतिबंधक न मानो तो प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति में ही अप्राकरणिक अर्थ भी होने लगेगा—यही सूझे और वह न सूझे इसमें आप क्या प्रमाण रखते हैं? अतः प्रकरणादि-ज्ञान को द्वितीय अर्थ की उपस्थिति में प्रतिबंधक मानना ही पड़ेगा।

यदि आप यह शंका करें कि प्रकरणादि का ज्ञान वैसे पद से होनेवाले अर्थों की यावन्मात्र उपस्थितियों का प्रतिबंधक होता है—वह तो कभी प्राकरणिक से भिन्न अन्य अर्थ होने देगा ही नहीं; अतः व्यंजना द्वारा भी अन्य अर्थ की उपस्थिति कैसे हो सकती है? तो इसका समाधान यह है कि उस तरह की (अप्राकरणिक अर्थ को समझानेवाली व्यंजना का आविर्भाव ही अप्राकरणिक अर्थ के उपस्थित करवाने के लिये माना जाता है—अन्यथा उसका मानना ही व्यर्थ हो जाय; अतः उस व्यंजना से उत्पन्न न होनेवाली उपस्थिति के प्रति ही प्रकरणादि के ज्ञान का प्रतिबंधक होना माना जाता है—वैसी व्यंजना से उत्पन्न उपस्थिति के प्रति नहीं। अथवा यह मानना चाहिए कि व्यंजना का ज्ञान प्रतिबंधक के रहते भी दूसरे अर्थ की उपस्थिति को उत्तेजित कर देता है। यही सब सोच-समझकर कहा गया है कि--

"अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्॥

(काव्यप्रकाश उ० २, का० १६)

जब संयोगादि द्वारा अनेकार्थ शब्द की वाचकता का नियंत्रण हो जाता है अर्थात् उस शब्द के अन्य अर्थ की उपस्थिति रुक जाती है और वह शब्द उस एक अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ को नहीं कह सकता; तब जो उस वाच्य (प्रकरणादि-प्राप्त) अर्थ से भिन्न अर्थ का ज्ञान होता है (जैसे 'सुरभिमांसं भक्षयति' शब्द में 'सुरभि' शब्द से 'गाय' का), उसको उत्पन्न करनेवाली क्रिया व्यंजना है।"

(२)

पर दूसरे लोग इन बातों को ज्यों का त्यों नहीं मानना चाहते। उनका कहना है कि अनेकार्थ शब्द से जो शाब्दबोध होता है उसमें तात्पर्य-निर्णय को अवश्यमेव कारण मानना पड़ता है, बिना उसके किसी प्रकार काम नहीं चल सकता। अतः अनेकार्थ शब्दसे प्रथमतः अनेक अर्थों की उपस्थिति होने पर भी, तात्पर्य-निर्णय के कारणरूप प्रकरणादि से जब तात्पर्य-निर्णय हो जायगा, तब जिस अर्थ के विषय में तात्पर्य-निर्णय हुआ है उसी अर्थ के अन्वय का बोध होगा, दूसरे अर्थ का नहीं—अर्थात् प्रथमतः अनेक अर्थों के उपस्थित होने पर भी अन्वय उसी अर्थ का होता है जिसके विषय में तात्पर्य-निर्णय हो। इस मार्ग का आश्रय लेने से न तो यही मानने की अपेक्षा रहती है कि हमें अनेकार्थ शब्द के केवल एक ही अर्थ का स्मरण रहता है और न यही कल्पना करनी पड़ती है कि दूसरे अर्थ की उपस्थिति रुक जाती है और ऐसी दशा में पूर्वोक्त ("सुरभिमांसं भक्षयति" आदि) अनेकार्थक स्थलों में प्रकरणादिज्ञान के वशीभूत तात्पर्य-निर्णय द्वारा प्राकरणिक अर्थ का शाब्दबोध हो जाने पर भी, बाद में उसी शब्द से, जो तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ ('गाय' आदि) का शाब्दबोध उत्पन्न होता है, वह बिना व्यंजना के किस क्रिया से सिद्ध हो सकेगा; अतः वहाँ व्यंजना माननी चाहिए।

यदि आप कहें कि दूसरा शाब्दबोध भी शक्ति (अभिधा) से ही सिद्ध हो जायगा, तो यह बन नहीं सकता, क्योंकि शक्ति द्वारा जो बोध होता है, उसमें तात्पर्य-निर्णय को कारण माना गया है और व्यंजना से उत्पन्न बोध में तो तात्पर्यज्ञान की अपेक्षा होती नहीं; क्योंकि इसी लिये वह मानी ही जाती है—यदि व्यंजना में भी तात्पर्य-ज्ञान को कारण माना जाय तो व्यंजना का मानना ही व्यर्थ हो जाय। यह है उनका मत।

पर इस मत में यदि कोई प्राचीनों के ग्रन्थ से विरोध की शंका करे—कहे कि इस तरह अनेकार्थ शब्दके शाब्दबोध में 'केवल एक अर्थ के स्मरण' की अपेक्षा न रहने पर प्राचीन विद्वानों ने जो ('संयोगादि' के विषय में) "विशेषस्मृतिहेतवः" लिखा है, जिसे पहले मत में उद्धृत किया गया है, उस ग्रन्थ की कैसे संगति होगी ? और यदि प्रकरणादि-ज्ञान को अन्य अर्थ की उपस्थिति का रोकनेवाला न माना जाय तो 'संयोगादिकों' के कारण जो अनेकार्थ शब्द की वाचकता का नियंत्रण (अन्य अर्थों का रोक देना) कहा गया है, वह भी किस तरह बन सकता है ?

इसका समाधान यह है कि "विशेषस्मृतिहेतवः" इस जगह स्मृति शब्द का अर्थ 'याद आना' नहीं है, किंतु 'निश्चय हो जाना' है। अतः 'विशेषस्मृति' शब्द से यहाँ, किसी विशेष (खास) अर्थ के विषय में जो तात्पर्य-निर्णय होता है उसका ग्रहण किया गया है। अर्थात् 'अनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' का पूर्वोक्त अर्थ नहीं, किंतु यह अर्थ है कि जहाँ तात्पर्य का संदेह हो वहाँ 'संयोगादिक तात्पर्य का निर्णय कर देनेवाले हैं' और 'संयोगादिकों के कारण वाचकता के नियंत्रण' का भी अर्थ 'केवल एक अर्थ के विषय में तात्पर्य-निर्णय उत्पन्न करके उसे शाब्दबोध के अनुकूल बना देना है। इसी तरह 'अवाच्यार्थ' शब्द का अर्थ भी 'तात्पर्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ' है।

(अर्थात् पूर्वोक्त "अनेकार्थस्य शब्दस्य·····" इत्यादि काव्यप्रकाश के श्लोक का अर्थ यह है कि जब संयोगादिक, अनेकार्थ शब्द को केवल एक अर्थ के विषय में तात्पर्य-निर्णय उत्पन्न करके शाब्दबोध के अनुकूल बना देते हैं तब जो तात्पर्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति होती है उसे उत्पन्न करनेवाली क्रिया व्यंजना है।) इस तरह प्राचीनों के ग्रंथ में भी किसी प्रकार की असंगति नहीं रहती। वे लोग यह भी कहते हैं।

अब केवल एक शंका और रह जाती है। वह यह कि प्राकरणिक अर्थ का बोध हो जाने के अनंतर, तात्पर्यज्ञान के रूप में जो पद का ज्ञान होता है, उसकी तो निवृत्ति हो जायगी। अब तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के ज्ञान को, व्यंजना द्वारा उत्पन्न माननेवाले भी, सिद्ध किस तरह कर सकेंगे; क्योंकि जब पद का ज्ञान ही नहीं रहा तो अर्थज्ञान होगा कहाँ से ? वह तो पद-ज्ञान के अधीन न है ? पर यह शंका उचित नहीं; क्योंकि इसका समाधान तीन तरह से हो सकता है—

१—कुछ लोगों का कहना है कि पहले अर्थ का ज्ञान ही दूसरे अर्थ के ज्ञान में क्रिया का काम देता है—उस पद से दूसरे अर्थ के ज्ञान को उद्बुद्ध करने में पहले अर्थ का ज्ञान साधनरूप हो जाता है; इस कारण कुछ दोष नहीं।

२—दूसरे विद्वानों का कथन है कि जब किसी भी शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है तब जिस तरह उस अर्थ के शक्यतावच्छेदक (जैसे मुख के साथ मुखत्व) की प्रतीति होती है, उसी तरह विशेषणरूप से पद की भी प्रतीति होती है; अतएव महावैयाकरण भर्तृहरि लिखते हैं कि—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

अर्थात् संसार में ऐसी कोई प्रतीति नहीं है कि जिसका शब्द अनुगामी न हो। संसार भर का सब ज्ञान शब्द से अनुविद्ध-सा प्रतीत होता है—प्रत्येक ज्ञान के साथ उसका प्रतिपादक शब्द गौणरूप से सटा ही रहता है।

अतः प्रथमतः अभिधा द्वारा जो ज्ञान होता है वही पद-ज्ञान भी हुआ; क्योंकि पद-ज्ञान से रहित तो कोई अर्थ-ज्ञान होता नहीं। इस कारण आपकी शंका निर्मूल है।

३—किसी का यह भी मत है कि एक बार यदि पद-ज्ञान निवृत्त हो गया तो हो जाने दो, फिर से बोलो और फिर पद-ज्ञान हो जायगा, वह कौन दुर्लभ वस्तु है।

इस तरह अनेकार्थक स्थल में जो* अनुरणनीय अभिव्यक्ति होती है, वह शब्दशक्ति (अभिधा) के कारण होती है; अतः उसे 'शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि' कहा जाता है। कारण, ऐसी अभिव्यक्ति में शब्द नहीं बदले जा सकते। यह है 'ध्वनि-कार' के अनुयायियों का कथन।

(३)

पर अन्य विद्वान् इनके विरुद्ध खड़े होते हैं। वे कहते हैं—ये दोनों ही मत ठीक नहीं। पहले प्रथम मत को लीजिए। उसमें कहा

---

* 'संलक्ष्यक्रम व्यंग्यों' को 'अनुरणनीय व्यंग्य' भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि जिस तरह घंटे पर चोट लगाने से पहले एक बड़ा शब्द होता है; पर उसके बाद बिना किसी दूसरी चोट के भी बहुत देर तक धीरे-धीरे शब्द होते रहते हैं, जिन्हें 'अनुरणन' कहते हैं, उस तरह शब्द के मुख्य अर्थ के समाप्त हो जाने पर भी ये व्यंग्य प्रतीत होते रहते हैं।

गया है कि "अनेकार्थ शब्द के अन्वय-ज्ञान में केवल एक अर्थ की उपस्थिति अपेक्षित है; अन्वय के समय उस शब्द के अन्य अर्थ उपस्थित नहीं रहने चाहिएँ"। इसमें कुछ सार नहीं।

कारण यह है कि अनेकार्थ शब्द से दो अर्थों के उपस्थित होने पर भी जिस अर्थ को वक्ता कहना चाहता है उसका शाब्दबोध, प्रकरणादि-ज्ञान के वशवर्ती तात्पर्य-ज्ञान के प्रभाव से ही, बन जाता है। अतः केवल एक अर्थ की उपस्थिति के अपेक्षित होने में कोई प्रमाण नहीं। और जब कि अन्य अर्थ को उपस्थित करनेवाली सामग्री (पद-ज्ञान) विद्यमान है तो अन्य अर्थ का उपस्थित होना उचित भी है; सामग्री के विद्यमान रहते उपस्थिति क्यों नहीं होगी ? यदि आप यह कहना चाहें कि प्रकरणादि का ज्ञान अथवा उसका वशवर्ती तात्पर्य-ज्ञान अन्य अर्थ की उपस्थिति को रोक देते हैं, तो यह भी नहीं कह सकते; कारण, संस्कार और उसके उद्बोधक—दोनों—के विद्यमान रहते स्मृति का रुक जाना कहीं नहीं देखा जाता—यह बात अनुभव-विरुद्ध है।

यदि आप कहें कि यह रुकने-रुकाने की कल्पना केवल इसी (अनेकार्थ शब्द के अप्राकरणिक अर्थ की) स्मृति में की जाती है, अन्य स्मृतियों में नहीं; अतः अन्यत्र वैसा होने पर भी यहाँ ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं। तो यह बात भी समझ में नहीं आती। क्योंकि एक तो आपकी यह कल्पना व्यर्थ है (जिसका कारण ऊपर लिखा जा चुका है कि अन्य अर्थ की स्मृति के रहते भी तात्पर्यज्ञान के कारण अभीष्ट अर्थ का शाब्दबोध हो सकता है) और दूसरे अनुभव से विरुद्ध भी है। देखिए, (ऐरे-गैरे की बात तो हम करते नहीं;) पर जिन लोगों को अनेक अर्थों की शक्ति का दृढ संस्कार है अर्थात् जिनके हृदय में अनेकार्थ शब्द के सभी अर्थ अच्छी तरह जम रहे हैं, उन्हें प्रकरण का ज्ञान रहते भी "पयो

रमणीयम् (दूध सुंदर है + जल सुन्दर है)" इत्यादि वाक्योंसे प्रथमतः दोनों अर्थों की उपस्थिति अनुभव-सिद्ध है। अतएव प्रकरणादि जाननेवाले लोग "पयो रमणीयम्" इत्यादि वाक्य को एकदम सुनने पर भी प्रकरणादि के न जाननेवाले मूर्खों को समझा देते हैं कि 'भाई साहब, यहाँ 'पय' शब्द का तात्पर्य दूध में है, जल में नहीं।' यदि (आपके हिसाब से) प्रकरणादि का ज्ञान अनेकार्थ शब्द से उत्पन्न होनेवाली अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति को रोक दिया करे, तो उस समय प्रकरणादि जाननेवालों को, 'पय' शब्द का अर्थ 'जल' याद नहीं आवेगा, क्योंकि वह अप्राकरणिक है, और उसके बिना याद आए ये लोग कैसे जल के तात्पर्य का निषेध कर सकेंगे ? इस कारण, आप जो यह प्रकरणादिके ज्ञान द्वारा अप्राकरणिक अर्थ की रुकावट मानते हैं, वह समझसे बाहर की ही बात है।

यह तो हुई प्रथम मत की बात। अब दूसरे मत को लीजिये। इस मतवालों का कहना है कि "प्रकरणादि के ज्ञान से जब यह निर्णीत हो जाता है कि प्राकरणिक अर्थ ही वक्ता के तात्पर्य का विषय है—वक्ता ने उस शब्द का प्रयोग उसी अर्थ के तात्पर्य से किया है, तब उस अभिप्रेत अर्थ के शाब्दबोध के अनन्तर जो तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त अर्थ का बोध उत्पन्न होता है, वह व्यंजना द्वारा होता है; क्योंकि यहाँ शक्ति (अभिधा) काम नहीं दे सकती।"

उनसे हम यह पूछना चाहते हैं कि आपने जो यह व्यंजना का आविर्भाव माना है वह अनेकार्थवाले स्थलों में सर्वत्र होता है अथवा कहीं-कहीं ? आपका इस विषय में क्या मंतव्य है ?

यदि आप पहला पक्ष मानते हैं कि अनेकार्थवाले स्थलों में सर्वत्र व्यंजना का प्राकट्य होता है, तो ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा मानने से आपको सब जगह प्रकरणिक और अप्राकरणिक--दोनो--

अर्थों का शाब्दबोध स्वीकार करना पड़ेगा; और तब आपकी यह कल्पना कि अनेकार्थवाले शब्दों के शाब्दबोध का कारण तात्पर्य-ज्ञान है, निरर्थक हो जायगी।

यदि आप कहें कि अभिधा द्वारा जो शाब्दबोध होता है उसमें तात्पर्य-ज्ञान को कारण माना जाता है, व्यंजना द्वारा होनेवाला बोध तो तात्पर्य-ज्ञान के बिना भी हो सकता है। अतः जहाँ व्यंजना द्वारा बोध होता है वहाँ कोई अभिधा द्वारा बोध न समझने लगे; इसलिये अभिधा से होनेवाले बोध में तात्पर्यज्ञान को कारण मानने की कल्पना की गई है। यह भी ठीक नहीं। कारण, जब आप तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ को भी सार्वत्रिक मान रहे हैं, तब उसे शक्ति (अभिधा) द्वारा उत्पन्न मानने में कोई बाधा नहीं—जब वह बोध सर्वत्र होता ही है तब फिर उसे अभिधा से उत्पन्न क्यों न माना जाय ?

यदि आप कहें कि 'प्रथमतः अनेकार्थक शब्द से दोनों अर्थों की उपस्थिति होती है। फिर प्रकरणादि के कारण एक अर्थ में तात्पर्य का निर्णय होता है और तब जिस अर्थ में तात्पर्य निर्णय हो चुका है उसी अर्थ का शाब्दबोध पहले होता है, अप्राकरणिक का नहीं। अर्थात् तात्पर्य-ज्ञानवाले अर्थ का शाब्दबोध पहले होता है और अन्य का बाद में।' इस नियम की रक्षा के लिये हम अभिधा द्वारा होनेवाले प्राकरणिक अर्थ के शाब्दबोध में उस अर्थ के तात्पर्य-ज्ञान को हेतु मानना चाहते हैं, अन्यथा जिस अर्थ के विषय में वक्ता का तात्पर्य निर्णीत हो चुका है उसकी तरह, जिस अर्थ के विषय में तात्पर्य का निर्णय नहीं हो पाया है उस—अन्य—अर्थ का भी शाब्दबोध पहले होने लगेगा (सारांश यह कि हमें तात्पर्यार्थ से भिन्न अर्थ का भी शाब्दबोध अभीष्ट है; पर तात्पर्यार्थ के बोध के अनंतर; इस

कारण हम तात्पर्यार्थ के बोध को अभिधा से उत्पन्न मानते हैं—जिससे कि उसकी प्राथमिक उपस्थिति हो सके।)

पर ऐसा न कहिए। कारण, जिस तरह* "सोऽव्यादिष्ट भुजङ्गहार-वलयस्त्वां सर्वदोमाधवः' इत्यादिक श्लेषकाव्यों में (शिव और विष्णु दोनों के विषय में) जो दो अर्थ होते हैं, उनका बोध एकसाथ माना जाता है—उनमें से किस अर्थ को पहले और किसको पीछे करना चाहिये यह झगड़ा नहीं करना पड़ता; उसी तरह यहाँ भी प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थो का बोध एकसाथ स्वीकार कर लेने में कोई बाधा नहीं।

आप कहेंगे—दृष्टान्त ('सोव्यादिष्ट······'आदि) में जो दो अर्थ (शिव और विष्णु के पक्ष में) किए गए हैं, उन दोनों में प्रकरण की समानता है; वे दोनों प्राकरणिक अर्थ हैं—उनमें से एक प्राकरणिक और एक अप्राकरणिक नहीं। अतः दोनों अर्थों में तात्पर्य-ज्ञान होने के कारण दोनों का बोध एकसाथ हो सकता है। पर दार्ष्टान्तिक ("सुरभिमांसं भक्षयति" आदि) में तो प्रकरणादि के ज्ञान से एक ही अर्थ में तात्पर्य-ज्ञान होता है, अतः वहाँ एकसाथ दोनों अर्थों का बोध नहीं बन सकता। पर आप यह कह नहीं सकते, क्योंकि तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध का कारण है—यही सिद्ध नहीं है; अतः एक साथ दोनों अर्थो का बोध न होने की युक्ति संतोषकारक नहीं। यदि

---

*इसके दो अर्थ यों हैं—जिन्हें साँपों के हार और कंकण पसंद हैं वे शिव सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें'; और 'जिसके बल को भुजंगों का हरण (संहार) पसंद है उस (गरुड़) द्वारा चलनेवाले और सब कुछ देनेवाले लक्ष्मीपति तुम्हारी रक्षा करें'।

आप तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध का कारण सिद्ध कर दें तो ऐसा कहा भी जा सकता है—पर व्यर्थ बात करना निस्सार है।

आप पूछेंगे—फिर तात्पर्यज्ञान का किस जगह उपयोग होगा—यदि उसका शाब्दबोध में उपयोग नहीं होता तो आपके हिसाब से वह किस मर्ज की दवा है? इसका उत्तर यह है कि तात्पर्यज्ञान का उपयोग 'यह शब्द इस अर्थ में प्रमाण है (अन्य अर्थ में नहीं)' और 'इस शब्द मे यह अर्थ ज्ञात होता है (अन्य अर्थ नहीं)' इत्यादि के निर्णय में होता है; जो कि प्रवृत्ति-आदि में उपयोगी है।

(इसका अभिप्राय यह है कि तात्पर्यज्ञान अनेकार्थ शब्द से होनेवाले प्राकरणिक अर्थ के शाब्दबोध के पहले-पीछे होने में उपयोगी नहीं है—उसका शाब्दबोध पहले हो अथवा पीछे, तात्पर्यज्ञान के साथ इसका कुछ संबंध नहीं। किंतु तात्पर्यज्ञान इस बात का निर्णय कर देता है कि अमुक शब्द से तुम्हें यहाँ (अनेक अर्थों में से) अमुक अर्थ लेना चाहिए। और इसका उपयोग होता है उस अर्थ के अनुसार प्रवृत्त होने में। अर्थात् पहले-पीछे, किसी भी तरह, श्रोताको उस वाक्य के सब अर्थ समझ पड़ने पर भी, वक्ता का तात्पर्य समझ लेने से, कार्यकर्ता प्रवृत्त उसी काम में होगा, जो वक्ता को अभीष्ट है। जैसे "सुरभिमांसं भक्षयति" के दोनों अर्थ समझने पर भी तात्पर्य जाननेवाला श्रोता न राजा के लिए गाय का मांस ला सकता है न उसे उसका खानेवाला कह सकता है। यदि वह दोनों अर्थ समझता, पर उसे तात्पर्य का ज्ञान न होता तो प्रवृत्ति के समय वह अवश्य चक्कर में पड़ जाता। यह है तात्पर्यज्ञान का उपयोग।)

इस प्रणाली से अनेकार्थक स्थल में भी तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध का कारण मानना शिथिल हो जाता है, फिर एकार्थक स्थल की तो बात ही क्या है? ऐसी दशा में तात्पर्यार्थ से भिन्न अर्थ का शाब्दबोध

सिद्ध करने के लिये व्यंजना का स्वीकार करना अनुचित ही है, क्योंकि शक्ति (अभिधा) से ही दोनों बोध हो सकते हैं।

अच्छा, अब आप यदि दूसरा पक्ष मानें—अर्थात् यह कहें कि यह व्यंजना का आविर्भाव अनेकार्थ स्थलों में सर्वत्र नहीं होता, किंतु किसी-किसी स्थल पर होता है—तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा होने में कोई कारण नहीं। आप कहेंगे—है क्यों नहीं, व्यंग्य अर्थ के विषय में कवि (वक्ता) के तात्पर्य का ज्ञान उसका कारण है तो सही—अर्थात् जहाँ-जहाँ हमें कवि का व्यंग्य अर्थ के विषय में तात्पर्य जान पड़ता है—हम समझते हैं कि यहाँ कवि कुछ दूसरा अर्थ भी कहना चाहता है, वहाँ व्यंजना का आविर्भाव होता है, अन्यत्र अनेकार्थक शब्द रहते भी वह नहीं होता। अतः सिद्ध है कि अनेकार्थक स्थलो में कहीं व्यंजना का आविर्भाव होता है, कहीं नहीं।

पर यह भी नहीं बन सकता। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि व्यंजना द्वारा होनेवाले बोध में तात्पर्यज्ञान का कारण होना आप स्वीकार नहीं करते, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। दूसरे, जहाँ अश्लील दोष होता है वहाँ भी अप्राकरणिक अर्थ सब मनुष्यों के अनुभव से सिद्ध है। पर ऐसी जगह कवि का तात्पर्य उस अर्थ में हो नहीं सकता—कवि अपनी कविता में वैसा दोष क्यों लाने लगा! ऐसे स्थलों में कवि के तात्पर्य का ज्ञान उस तरह के (अर्थात् अप्राकरणिक अश्लील अर्थ के) बोध का कारण हो नहीं सकता; अतः कवि के तात्पर्य-ज्ञान को व्यंजना के आविर्भाव का कारण मानना व्यभिचार से दूषित भी है—अर्थात् यह भी देखा जाता है कि बिना कवि के तात्पर्य के भी व्यंजना का आविर्भाव होता है।

यदि आप कहें कि व्यंजना के आविर्भाव का कारण कवि के तात्पर्य का ज्ञान नहीं, किंतु एक प्रकार का श्रोता की बुद्धि का सामर्थ्य है।

और वह, प्रयोजनवशात्, जो चमत्कारी अर्थ होता है उसी में व्यंजना का आविर्भाव करता है, अन्यत्र नहीं। अतः व्यंजना के आविर्भाव का कहीं-कहीं होना सिद्ध हो जाता है। पर यह भी उचित नहीं। कारण यदि ऐसा ही है तो उस श्रोता की बुद्धि के सामर्थ्य को प्रकरणादि द्वारा नियंत्रित शक्ति का ही उल्लासक क्यों नहीं मान लिया जाता—अर्थात् यों ही मान लीजिए कि प्रकरणादि (द्वितीय) अभिधा का नियंत्रण करते हैं और श्रोता की बुद्धि का सामर्थ्य उसे फिर से उद्बुद्ध कर देता है—वह व्यंजना को ही उल्लसित करे इसमें क्या प्रमाण है? अतः अनेकार्थ स्थलों में अप्राकरणिक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये व्यंजना की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं।

यह तो हुई एक बात। अब दूसरी सुनिए। वह यह है कि "उल्लास्य* कालकरवालमहाम्बुवाहम्·········" इत्यादि अनेक

---

* यह श्लोक यों है—

उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं देवेन येन जरठोर्जितगर्जितेन।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः।

इसका वाच्य अर्थ यह है कि कठोर और बलवान् सिंहनादवाले जिस राजा ने (वैरियों के) काल-रूप खड्ग के महान् धारा जल के प्रसार को, पैनी करने द्वारा और भी बढ़ाकर, संग्राम में धार के पानी द्वारा, शत्रुओं का त्रिलोकी में अत्यंत प्रसिद्ध, सब का सब प्रभाव शान्त कर दिया। और व्यंग्य अर्थ यह है कि—जिस देव (इन्द्र) ने कठोर और बलवती गर्जना से युक्त और काली किरणोंवाले नवीन महामेघ को प्रकट करके, धाराओं के रूप में बरसते हुए जलों से, 'सूँ सूँ' शब्द होते हुए (जल के) शत्रुओं (अग्नियों) का त्रिलोकी में प्रदीप्त महान् ताप, सब का सब शान्त कर दिया।

अर्थों के व्यञ्जक स्थल में, जिस मनुष्य को दूसरे अर्थ की शक्ति का ज्ञान नहीं है—अर्थात् जिसे उन शब्दों के एक ही अर्थ का ज्ञान है उसे, अथवा प्रथमतः ज्ञात होने पर भी जो मनुष्य दूसरे अर्थों की शक्ति भूल गया है—एक ही अर्थ उसे याद रह गया है—उसे व्यंजना द्वारा द्वितीय अर्थ के बोध का सर्वथा उदय नहीं होता—यह देखा जाता है, पर आपके विचार से तो ऐसी जगह भी व्यंजना द्वारा उस अर्थ का बोध अनिवार्य हो जायगा। कारण आप वहाँ शक्ति की तो कुछ आवश्यकता मानते नहीं—यदि मानते ही तो व्यंजना मानने की आवश्यकता ही क्या थी; उसी से काम चल जाता।

अब यदि आप कहें कि जिस शब्द से जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है उस शब्द की उस अर्थ में शक्ति का ज्ञान ही उस (अन्य) अर्थ की व्यंजना के आविर्भाव का कारण है—अर्थात् शक्तिज्ञान होने पर ही व्यंजना का उल्लास होता है, अन्यथा नहीं। तो यह भी नहीं बन सकता। कारण, "निश्शेषच्युतचंदनम् (पहले भाग के पृष्ठ ३२) इत्यादिक में 'रमण' अर्थ की अभिव्यक्ति न हो सकेगी, क्योंकि 'अधम' पद की 'रमण' अर्थ में शक्ति का ज्ञान किसी को भी नहीं है—दुनिया में कोई भी ऐसा न निकलेगा जो 'अधम' पद का 'रमण' अर्थ करे। इतने पर भी यदि आप कहें कि और चाहे कोई समझे या न समझे, पर नायक अवश्य 'अधम' पद का वैसा अर्थ समझता है—उससे अधम कहते ही वह समझ जायगा कि इसका संकेत 'रमण' की तरफ है; तो फिर भी शक्ति से ही काम चल जाने पर आपकी व्यंजना की कल्पना व्यर्थ हो जायगी।

अब कहा जायगा कि—शक्तिज्ञान को व्यंजना के आविर्भाव का कारण वहीं माना जाता है, जहाँ अनेकार्थक शब्द व्यंजक होते हैं, अन्यत्र नहीं। कारण, ऐसी जगह शक्ति के नियन्त्रित हो जाने से उसके ज्ञान से कुछ काम नहीं चल सकता; अतः व्यंजना की कल्पना उचित है। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, इस तरह के नवीन कार्य-कारण-भाव की कल्पना में

गौरव-दोष होगा—एक व्यर्थ का नियम बढ़ जायगा। आप कहेंगे—ऐसा किए बिना काम नहीं चल सकता। सो तो है नहीं। कारण, जिसके लिए आप इस नवीन कार्य-कारण-भाव की कल्पना कर रहे हैं उस शक्ति के नियंत्रण को हम पहले ही दूषित कर आए हैं, अतः "तद्धेतोरेव तदस्तु किं तत्कल्पनया—अर्थात् जब कारण के कारण से ही काम चल जाय तो उसी को कारण मान लिया जाना चाहिए, बीच में एक और कारण की कल्पना क्यों की जाय ?" यह न्याय उतर पड़ेगा—कहेगा कि जब (इस नवीन) व्यंजना के कारण-रूप शक्ति के ज्ञान से ही अन्य अर्थ प्रतीत हो सकता है तो फिर इस व्यंजना की कल्पना किस मर्ज की दवा है ? अतः ऐसी जगह व्यंजना की कल्पना निरर्थक है।

अब यदि आप कहें कि—भवतु, शक्ति द्वारा ज्ञात ही अप्राकरणिक अर्थ अन्वयज्ञान में आता है—अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ का शाब्दबोध भी शक्ति से ही होता है, आपकी इस बात को हम मान लेते हैं; पर ऐसी जगह जहाँ अन्य अर्थ के माननेमें किसी प्रकार की बाधा न हो। किंतु जहाँ बाधा होगी, जैसे—

"जैमिनीयमलं* धत्ते रसनायामयं द्विजः।"

इत्यादिक में तो जो घृणित (दूसरा) अर्थ है वह, 'आग से सींचता है' इस वाक्य में के 'सींचने' की तरह (क्योंकि 'सींचना' तरल चीजों से होता है आग आदि से नहीं) समझ में नहीं आ सकेगा—क्या

---

* इसका एक अर्थ तो यह होता है कि 'यह ब्राह्मण मीमांसाशास्त्र को यथेष्टरीत्या जीभ पर धारण करता है—इसे मीमांसा-शास्त्र कंठस्थ है' और दूसरा अर्थ यह होता है—'यह ब्राह्मण जीभ पर जैमिनि की अथवा जैमिनियों की विष्ठा धारण करता है'।

कोई ऐसा भी मूर्ख होगा जो ब्राह्मण की जीभ पर विष्ठा धरने को कहे, और यह बात सभी की मानी हुई है कि बाध का निश्चय तद्वत्ता ज्ञान (जिस रूप में समझे हुए हैं उस रूप में समझने) का रोकनेवाला होता है। पर देखते यह हैं कि इस तरह का घृणित अर्थ भी लोगों की समझ में आता है अवश्य; अतः ऐसे स्थलों पर अवश्यमेव व्यंजना माननी पड़ेगी। कहा जायगा कि व्यंजना भी बाधित अर्थ का बोध कैसे करवा सकेगी? सो है नहीं। कारण, बाधित अर्थ का भी व्यंजना से बोध हो सकता है। इसी लिये तो वह मानी जाती है, अन्यथा उसका मानना ही व्यर्थ हो जाय। सो ऐसे स्थलों में, अप्राकरणिक अर्थ का शक्ति द्वारा ज्ञान माननेवालों का काम नहीं चल सकता और व्यंजनावादियों को कुछ दोष नहीं; अतः व्यंजना मानना आवश्यक है।

यह भी नहीं है। कारण,

"ग्राममवतीर्णा सत्यं सरस्वतीयं पतञ्जलिव्याजात्।

अर्थात् यह, पतंजलि के मिष से, सचमुच सरस्वती पृथ्वी पर उतर आई है।" और

"सौधानां नगरस्यास्य मिलन्त्यर्केण मौलयः।

अर्थात् इस नगर के महलों की चोटियाँ सूरज से जा मिलती हैं।"

इत्यादिक स्थलों में 'सरस्वती का पृथ्वी पर उतर आना' और 'महलों की चोटियों का सूरज से जा मिलना' बाधित हैं; क्योंकि ऐसा हो नहीं सकता। अतः ऐसे स्थलों में वाच्य अर्थों का बोध सिद्ध करने के लिये जिस* यत्न का अनुसरण करना पड़ता है, उसी

* यह यत्न आगे लक्षणा के प्रसंग में रूपक पर विचार करते हुए मूल में ही लिख दिया जायगा। जिसका सारांश यह है कि— 'बाधा का ज्ञान और अयोग्यता का निश्चय शाब्दबोध में रुकावट

से अनेकार्थक स्थलों में भी बाधित अर्थ का बोध सिद्ध हो सकेगा। अन्यथा--अर्थात् उस यत्न के न मानने पर—प्रायः सभी अलंकारों में वाच्य अर्थों का ज्ञान सिद्ध करने के लिये व्यंजना स्वीकार करनी पड़ेगी।

अतः अनेकार्थक स्थलों में होनेवाले अप्राकरणिक अर्थ का ज्ञान व्यंजना द्वारा होता है—यह प्राचीनों का सिद्धांत शिथिल ही है। हाँ, प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों की उपमा का ज्ञान तो कदाचित् व्यंजना द्वारा हो भी सकता है—अर्थात् यदि आप उपमा के व्यंग्य होने की बात कहते तो कदाचित् आपत्ति न भी होती।

('कदाचित्' इसलिए लिखा गया है कि द्वितीय अर्थ असंबद्ध न हो जाय, अतः उपमा का बोध अर्थापत्ति द्वारा भी संभव है।)

व्यंजना मानने की आवश्यकता

इस तरह यह सब बात बिगड़ी जाती है। ऐसी दशा में हमें (पंडितराज को) यह सूझ पड़ता है कि ऐसा होने पर—अर्थात् अनेकार्थ शब्द के अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में व्यंजना का प्रयोजन न रहने पर—भी, यह बात सब सिद्धांतों की मानी हुई है कि 'योगरूढि'* के स्थल में 'रूढ़ि' के ज्ञान से योग का अपहरण हो जाता है—अर्थात् योगरूढ़ शब्दों में यौगिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती, किंतु रूढ अर्थ की ही होती है। पर, ऐसी दशा में भी 'योगरूढि' के स्थलों में जिसमें रूढ़ि नहीं रहती ऐसे और अवयवशक्ति से संबद्ध (अर्थात् केवल

नहीं डालता'। इसी तरह 'योग्यता का ज्ञान भी शाब्दबोध का कारण नहीं है' यह मानना चाहिए; अथवा "ऐसी जगह 'आहार्य' (बाधित समझते हुए भी कल्पित) बोध" माना जाना चाहिए।

* योग, रूढि, योगरूढि और यौगिकरूढि ये चार अभिधा के भेद हैं। आगे अभिधा के प्रकरण में देखिए।

यौगिक) अन्य अर्थ की जो प्रतीति हो जाया करती है, वह बिना व्यंजना के उपपन्न नहीं हो सकती है—उसके लिये तो आपको व्यंजना अवश्य ही माननी पड़ेगी। जैसे—

अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम्।
तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः॥

इस पद्य का प्राकरणिक अर्थ, जो 'योगरूढि' द्वारा होता है, यह है—जिस समय बिजलियाँ कामिनियों की कांति का हरण करके, रात-दिन, मेघों के साथ रहा करती हैं, वह समय (वर्षा-ऋतु) उपस्थित हो गया।

पर यहाँ एक दूसरा अर्थ और प्रतीत हो जाता है। वह यह है कि—जिस समय कुलटाएँ निर्बल पुरुषों का द्रव्य हरण करके जल ढोनेवाले पुरुषों के साथ रहती हैं वह समय आ गया है।

यह द्वितीय अर्थ 'अबला', 'वारिवाह' और 'चपला' शब्दों से योग-रूढि-शक्ति द्वारा नहीं बन सकता; क्योंकि यह 'कामिनी', 'मेघ', 'बिजली' आदि (योगरूढिवाले) अर्थों की प्रतीति नहीं होती। यदि दूसरे अर्थ में भी 'मेघ', 'बिजली' आदि अर्थों की प्रतीति मान लें तो कुछ चमत्कार नहीं रहेगा—बात ही बिगड़ जायगी। यदि कहो कि केवल 'योग'-शक्ति से उस अर्थ का बोध मान लेंगे तो यह हो नहीं सकता। कारण, योग-शक्ति रूढि-शक्ति के साथ रहने पर रूढि के अर्थ से अमिश्रित (केवल यौगिक) अर्थ का बोध करवावे यह असंगत है—ऐसा किसी का सिद्धांत नहीं। और 'चपला' का पुंश्चली आदि अर्थ केवल योग शक्ति से सिद्ध भी नहीं हो सकता।

इसी तरह 'यौगिकरूढि' के स्थल में भी समझिए—वहाँ भी बिना व्यंजना के, अन्य अर्थ कभी न हो सकेगा।

ऐसा ही एक उदाहरण और लीजिए; जैसे—

चांचल्ययोगि नयनं तव जलजानां श्रियं हरतु।
विपिनेऽतिचञ्चलानामपि च मृगाणांकथं हरति ॥

योगरूढि-शक्ति द्वारा इस पद्य का अर्थ यह है—कमलों में चंचलता-रूपी गुण नहीं है; अतः जिसमें उनकी अपेक्षा चंचलता गुण अधिक है वह तेरा नेत्र यदि उनकी शोभा का तिरस्कार कर दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर आश्चर्य तो इस बात का है कि तेरा नेत्र अत्यत चंचल (अर्थात् उस गुण से युक्त) हरिणों की शोभा का भी तिरस्कार कर देता है।

इस वाच्यार्थ के समाप्त हो जाने पर भी रूढि-रहित केवल योग-शक्ति की मर्यादा से 'जलज', 'नयन' और 'मृग' शब्दों द्वारा जो यह अर्थ प्रतीत होता है कि—मूर्खों के पुत्रों और अतएव प्रमादियों के धन का हरण, हरनेवालों अर्थात् चोर आदि द्वारा हो सकता है; पर जो गवेषणा करनेवाले—अर्थात् जहाँ जाय वहाँ से खोज निकालने-वाले—हैं और अतएव सावधान कहे जा सकते हैं, उनके धन का हरण कैसे हो सकता है? यह द्वितीय अर्थ बिना व्यंजना वृत्ति के कैसे सिद्ध किया जा सकता है?

ऐसे अर्थ अभिधा वृत्ति द्वारा नहीं समझाए जा सकते; अतएव तो नैयायिक लोग यह मानते हैं कि—'पंकज' आदि योगरूढ पदों से (यौगिक अर्थ) 'कीचड़ से जन्म लेनेवाले होने' के कारण 'कुमुद' आदि अर्थों की उपस्थिति लक्षणा द्वारा ही होती है।

अतएव उत्तर - मीमांसा(ब्रह्मसूत्र)कार भगवान् वेदव्यास ने "ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः" इस उपनिषद् के वाक्य में यह संदेह होने पर कि—इस जगह सर्व-सामर्थ्य से युक्त जीव का वर्णन

है अथवा ईश्वर का ?'; और यह पूर्वपक्ष होने पर कि 'यहाँ जीव का वर्णन है'; "शब्दादेव प्रमितः (१।३।२४)" यह सूत्र बनाया है। जिससे यह सिद्ध किया गया है कि—'ईशान' शब्द योगरूढि शक्ति द्वारा ईश्वर का ही प्रतिपादन करता है, जीव का नहीं; अतः यहाँ ईश्वर का ही वर्णन है।

अतः यह सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त (योगरूढिवाले) स्थलों में (उपर्युक्त पद्यों में) जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता है, वह अभिधावृत्ति द्वारा नहीं, किंतु व्यंजना द्वारा ही ज्ञात होता है।

आप कहेंगे—अभिधा से नहीं होता तो न सही; (नैयायिकों की तरह) आप भी इस अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा क्यों नहीं मान लेते ? पर यह बन नहीं सकता। कारण, लक्षणा वहाँ हुआ करती है जहाँ यथाश्रुत (वाच्य) अर्थ में कोई बाधा उपस्थित हो। सो तो यहाँ है नहीं—एक अर्थ पूरा का पूरा बिना किसी बाधा के समाप्त हो जाता है, अतः इस अर्थ को लक्ष्य (लक्षणा से प्रतिपादित) नहीं कहा जा सकता।

रही तात्पर्यार्थ की बात। सो तात्पर्यार्थ का बोध तब हो सकता है, जब कि पहले पद का, योगरूढ अर्थ से भिन्न, केवल यौगिक अर्थ हो ले। पर वही कैसे हो सकता है ? उसी के लिये तो यह उपाय—व्यंजना—सोचा जा रहा है।

लक्षणा मानने के लिये आप एक शंका और कर सकते हैं। आप कहेंगे—वक्ता का तात्पर्य सिद्ध न होने के कारण (क्योंकि उसे अन्य अर्थ भी अभीष्ट है) ऐसे स्थलों में, "कौओं से दही की रक्षा करो" आदि की तरह, लक्षणा मानना उचित है। पर ऐसा मान लेने पर भी कि—वक्ता का तात्पर्य (द्वितीय पद्य के) चोरव्यवहाररूपी द्वितीय अर्थ में है—वह उस अर्थ को कहना चाहता है; तथापि श्रोता को

जो उस अर्थ का बोध होता है उसमें तो सहृदयों के हृदय में सूझ पड़ी इस व्यंजना-रूपी क्रिया के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं। (कहने का तात्पर्य यह है कि—"कौओं से दही की रक्षा करो" इत्यादि वाक्यों में श्रोता पहले से किसी तरह यह समझे रहता है कि वक्ता सभी दही नष्ट करनेवालों से दही बचाना चाहता है। वह यह जानता रहता है कि वक्ता इतना मूर्ख नहीं है कि—कौओं से दही बचाने को कहे और बिलैया को खिला देने को। अतः 'कौआ' शब्द से, ऐसी जगह, लक्षणा द्वारा 'सब दही के नष्ट करनेवाले' ले लिए जाते हैं। पर पूर्वोक्त पद्यों में, 'वक्ता को अन्य अर्थ भी अभीष्ट है', श्रोता को यह समझने के लिये अन्य कोई प्रकार नहीं। वहाँ अन्य अर्थ निकाले बिना दही तो लुटता नहीं कि श्रोता उससे अन्य कोई अर्थ भी निकाल ले, अतः ऐसे स्थलों पर व्यंजना ही एक ऐसी चीज़ है, जो बिना किसी इशारे के उन्हीं शब्दों से अन्य अर्थ भी समझा सके। सो ऐसे स्थलों में बिना व्यंजना माने निर्वाह नहीं।) इसी तरह अन्य उदाहरणो में भी सोच लीजिए।

यह तो कहा नहीं जा सकता कि—ऐसे उदाहरणों में द्वितीय अर्थ की प्रतीति ही नहीं होती, क्योंकि जिन लोगों के अंतःकरण शब्दार्थों की गहरी व्युत्पत्ति से चिकने बन गये हैं—जिन पर इस बात का गहरा रंग चढ़ रहा है वे तो ऐसा कह नहीं सकते—हाँ, अनभिज्ञों की बात दूसरी है।

सो इस तरह इस सबका संग्रह यों होता है कि—

योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा॥

अर्थात् योगरूढ शब्द की योग-शक्ति को जब रूढि-शक्ति रोक देती है, तब जो क्रिया यौगिक अर्थ का ज्ञान उत्पन्न करती है, वह व्यंजना ही है।

ऐसी दशा में—अर्थात् जब योगरूढि के स्थलों में व्यंजना माने बिना बिलकुल निर्वाह नहीं तब—अनेकार्थक स्थलों में भी प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों में जो परस्पर उपमा रहती है उसकी प्रतीति के लिये अवश्यमेव स्वीकृत की जानेवाली व्यंजना द्वारा ही अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध हो जाय तो (शक्ति द्वारा अप्राकरणिक अर्थ का बोध मानकर) क्लिष्ट कल्पना करने (अर्थात् नियंत्रित शक्ति का फिर से उत्थान आदि मानने) की क्या आवश्यकता है? इस अभिप्राय से प्राचीनों ने जो अनेकार्थ शब्दों को व्यंजक (अप्राकरणिक अर्थ को व्यंजना द्वारा प्रतिपादन करनेवाले) माना है, सो भी दूषित नहीं। जब व्यंजना मानना ही है तब क्यों उसी के द्वारा अन्य अर्थ की उपस्थिति न मानकर शक्ति के पुनरुत्थान आदि की कल्पना की जाय?

संयोगादिक

अप्राकरणिक अर्थ की व्यंजना के स्थलों में, अनेक अर्थों की शक्ति रोकने के लिये—अर्थात् शक्ति को केवल प्राकरणिक अर्थ का ही प्रतिपादन करनेवाली बनाने के लिये—प्राचीन विद्वानों ने 'संयोग' आदि (१४-१५ प्रतिबंधकों) का निरूपण किया है। उनका सविस्तर वर्णन सुनिए—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्याऽनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

अनेकार्थ शब्दों के जो अनेक अर्थ होते हैं उनमें तात्पर्य के संदेह होने पर—अर्थात् इस शब्द के अनेक अर्थों में से वक्ता को यहाँ कौन अर्थ अभीष्ट है इस बात के न समझ पड़ने पर—संयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचिती, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि किसी विशेष अर्थ के तात्पर्य का निर्णय कर देते हैं—इनके द्वारा हम समझ सकते हैं कि यहाँ वक्ता का यही अर्थ अभीष्ट है।

१—संयोग

जिस संबंध का अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में रहना प्रसिद्ध न हो और एक ही अर्थ में रहना प्रसिद्ध हो उस संबंध को 'संयोग' कहते हैं।

जैसे—"शंख-चक्र के साथ* हरि" इस स्थान पर यद्यपि 'हरि' शब्द के विष्णु, इंद्र आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं; तथापि 'शंख-चक्र' का संयोग (संबंध) केवल विष्णु में ही प्रसिद्ध है, अतः वह संयोग 'हरि' शब्द की शक्ति को नियमित करके विष्णु में ही अवस्थित कर देता है—अर्थात् यहाँ 'हरि' शब्द का 'विष्णु' के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं हो सकता। यदि ऐसी जगह सामान्यतः 'आयुध सहित हरि' अथवा 'पाश-अंकुश आदि (किसी विशेष आयुध) सहित हरि' कह दें तो 'हरि' शब्द की शक्ति नियत नहीं हो सकती—तब 'हरि' शब्द द्वारा अन्य अर्थ की भी प्रतीति हो सकती है। कारण,

---

* यहाँ 'शंख-चक्र सहित हरि' यह अर्थ लिखना अच्छा होता, पर आगे 'साहचर्य' के शास्त्रार्थ में यहाँ संबंधवाची शब्द मानकर शास्त्रार्थ किया गया है, अतः सहित न लिखकर 'के साथ' लिखना पड़ा।

पहली उक्ति ('आयुध सहित') आयुध के संयोग का 'हरि शब्द के अन्य अर्थों में रहना प्रसिद्ध न हो' यह बात नहीं है; क्योंकि इंद्रादिक भी कोई-न-कोई आयुध धारण करते ही हैं। इसी तरह दूसरी उक्ति (पाश-अंकुश आदि से युक्त) में पाश-अंकुश आदि के संयोग का विष्णु में रहना प्रसिद्ध नहीं है, अतः उसके द्वारा भी शक्ति का नियमन नहीं हो सकता।

पर यहाँ यह न मान लेना कि 'संयोग' 'लिंग' (जिसका वर्णन आगे है) के अंतर्गत है। कारण, इस प्रसंग में 'अनेकार्थक-शब्द का एक अर्थ को छोड़कर अन्य किसी अर्थ में सर्वथा न रहना' ही लिंग माना गया है, और 'शंख-चक्र' ऐसी चीज है नहीं कि उन्हें कोई अन्य धारण कर ही न सके, संभव है, किसी समय इंद्रादिक भी उन्हें धारण कर लें। हाँ, उनके धारण की प्रसिद्धि विष्णु के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं।

(सो यह सिद्ध हुआ कि 'अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में सर्वथा न रहने रूपी संबंध का नाम 'लिंग' है, और 'अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में प्रसिद्ध न होते हुए किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध होनेवाले संबंध' का नाम 'संयोग' है। यह है इन दोनों का भेद।)

२—विप्रयोग

विश्लेष (जुदा होना) 'विप्रयोग' कहलाता है।

जैसे "शंख-चक्र से रहित हरि" इस स्थान पर 'शंख-चक्र' का हरि से 'जुदा होना' 'हरि' शब्द की शक्ति को नियमित करता है—वह 'विष्णु' के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं होने देता। यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि 'जुदा होने' के पहले जो संयोग रहता है (क्योंकि जुदा वही चीज हो सकती है जो पहले संयुक्त हो)

उसमें पूर्वोक्त दोनों बातें—अर्थात् 'अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में रहने का अप्रसिद्ध होना' और 'उस अर्थ में रहने का प्रसिद्ध होना' अपेक्षित हैं। इस कारण सामान्यतः 'आयुध से रहित होना' अथवा 'पाश अंकुश आदि से रहित होना' शक्ति का नियमन नहीं कर सकते।

यद्यपि इस जगह भी गौण रूप से वर्तमान पूर्वोक्त प्रकार वाला 'संयोग' ही अभिधा का नियमन कर सकता है, तथापि गौण और प्रधान दोनों के एक साथ आने पर प्रधान का अनुरोध न्यायप्राप्त है, इस अभिप्राय से 'विप्रयोग' को भी नियामक कहा गया है।

अथवा संयोग ही दो तरह से नियामक होता है—एक केवल संयोग रूप में और दूसरा 'विप्रयोग का अंग' बनकर। इन दोनों प्रकारों को पृथक् पृथक् दिखाने के लिये ही 'संयोग' और 'विप्रयोग' को अलग-अलग नियामक माना गया है। वस्तुतः विप्रयोग भिन्नरूपेण नियामक नहीं है।

३—साहचर्य

एक कार्य में परस्पर की अपेक्षा रखना 'साहचर्य कहलाता है।

जैसे 'राम और लक्ष्मण' इस जगह 'राम' शब्द के—रघुनाथ, परशुराम, बलदेव और एक प्रकार का मृग आदि—अनेक अर्थ हो सकते हैं, उनमें से लक्ष्मण का साहचर्य होने के कारण 'राम' शब्द का अर्थ 'रघुनाथ' ही ग्रहण किया जाता है।

आप कहेंगे—लक्षण में जो 'परस्पर की अपेक्षा रखना' लिखा है, वह जिस किसी कार्य में होना चाहिए अथवा सब कार्यों में—अर्थात् उन दोनों का चाहे किसी भी एक कार्य में अपेक्षा रखना पर्याप्त है अथवा उन दोनों का कोई भी काम ऐसा न होना चाहिए जिसमें वे

दोनों सम्मिलित न हों ? यदि आप पहला पक्ष स्वीकार करें—अर्थात् 'जिस किसी कार्य में परस्पर की अपेक्षा रखना साहचर्य है' तो घट आदि भी इस लक्षण द्वारा नहीं हटाये जा सकते—अर्थात् घट-आदि का और राम का भी साहचर्य हो सकता है; क्योंकि किसी-न-किसी काम में तो इन दोनों को भी परस्पर की अपेक्षा रह ही सकती है। अतः यदि घट शब्द राम शब्द के साथ आ जाय तब भी राम शब्द की शक्ति का नियमन होने लगेगा। (सो होता नहीं—'राम और घड़ा' कहने पर किसी को यह निर्णय नहीं हो सकता कि यहाँ राम शब्द किस अर्थ में आया है।) अब यदि दूसरा पक्ष लो—यह मानो कि 'सब कामों में परस्पर की अपेक्षा होनी चाहिए'—तो यह भी नहीं बन सकता। कारण, ऐसी स्थिति में लक्ष्मण का और राम का भी साहचर्य न हो सकेगा; क्योंकि कुछ काम ऐसे भी हैं, जिनमें राम लक्ष्मण की अपेक्षा नहीं रखते और लक्ष्मण राम की, और पूर्वोक्त दोनों ही पक्षो में से किसी भी पक्ष से 'राम और अयोध्या' 'रघु और राम' इत्यादि में शक्ति का नियमन न हो सकेगा; (क्योंकि राम और अयोध्या आदि को न किसी काम में परस्पर की अपेक्षा है, न सब कामों में। पर ऐसी जगह शक्ति का नियमन सर्वानुभव-सिद्ध है; 'राम और अयोध्या' कहने पर किसी को राम शब्द का अन्य अर्थ समझ में नहीं आता। अतः यह लक्षण गड़बड़ ही है।)

अब यदि आप कहें कि जाने दो उस लक्षण को; हम 'साहचर्य' का यह लक्षण बनाते हैं—

अनेकार्थक पद के समीप में उच्चारण किए हुए अन्य पद के अर्थ का अनेकार्थक पद के किसी विशेष अर्थ के साथ जो प्रसिद्ध संबंध होता है उसका नाम 'साहचर्य' है।

और वह संबंध—एक से उत्पन्न होना, स्त्री-पुरुष होना, पिता-पुत्र

होना, स्वामी-सेवक होना तथा स्वस्वामि भाव' आदि अनेक प्रकार का होता है; अतः राम और लक्ष्मण, सीता और राम, राम और दशरथ, राम और हनुमान् तथा राम और अयोध्या इत्यादि सब स्थानों में 'साहचर्य' नियामक हो सकता है।

तो यह लक्षण भी ठीक नहीं। कारण, जिस (अनेकार्थक पद और उसके समीपवर्ती पद दोनों के अर्थों के प्रसिद्ध) संबंध को आप 'साहचर्य' कह रहे हैं, उसके हिसाब से लक्ष्मण आदि का जो राम के साथ संबंध है उसकी अपेक्षा शंख-चक्र का जो हरि के साथ संबंध है उसमें कोई विशेषता नहीं। अतः (पूर्वोक्त 'संयोग' के उदाहरण) "शंख-चक्र के साथ हरि" यहाँ भी साहचर्य' ही नियामक होने लगेगा— 'संयोग' के लिये कोई जगह ही नहीं रहेगी।

यदि आप कहें कि "शंख-चक्र के साथ हरि" इत्यादि स्थलों में जहाँ उन वस्तुओं में संयोग-संबंध हो वहाँ 'संयोग' नियामक होता है, और जहाँ कोई अन्य सबंध हो वहाँ साहचर्य नियामक होता है. इस कारण कोई बाधा नहीं—तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि संयोग को साहचर्य से पृथक् नियामक मानने में कोई कारण नहीं दिखाई देता— पहले आप यह तो समझा दीजिए कि जब संबंध मात्र में साहचर्य नियामक होता है, तब केवल संयोग-संबंध में ही 'संयोग' को क्यों पृथक नियामक माना जाय ?

यदि आप कहें कि जहाँ संयोग-संबंध शब्द द्वारा प्रतिपादित हो, वहाँ वही नियामक होता है; पर जहाँ केवल सबंध ही शब्द द्वारा प्रतिपादित हो संबंध नहीं, वहाँ 'साहचर्य' नियामक होता है; अतएव 'शंख-चक्र के साथ हरि' यह संयोग का उदाहरण होता है और 'राम और लक्ष्मण' साहचार्य का। क्योंकि पहले वाक्य में 'साथ' शब्द से संयोग का प्रतिपादन किया गया है और दूसरे वाक्य में संयोग संबंधवाले संबंधियों का ही वर्णन है,

संबंध का नहीं। पर यह भी ठीक नहीं। कारण, यदि ऐसा मानोगे तो 'लक्ष्मणसहित राम' और 'लक्ष्मणरहित राम' इन वाक्यों में भी संयोग और विप्रयोग गौण हो गए हैं; क्योंकि 'सहित' और 'रहित' शब्द संबंधी के प्रतिपादक हैं, संबंध के नहीं। संबंध तो गौण होकर आया है। ऐसी दशामें ऐसे वाक्यों में साहचर्य की उदाहरणता प्राप्त हो जाती है, तब 'शंख-चक्र सहित हरि' इत्यादि को भी साहचर्य का उदाहरण मानना ही उचित होगा। सो यह सब मामला गड़बड़ हुआ जाता है।

इस विषय में हम कहते हैं कि संयोग के प्रकरण में जो 'संयोग शब्द आया है वह यावन्मात्र संबंधों के अभिप्राय से लिखा गया है, केवल संयोग-संबंध के ही अभिप्राय से नहीं। अतः

"जहाँ किसी प्रकार के भी प्रसिद्ध सम्बन्ध का शब्द द्वारा प्रतिपादन किया गया हो और वह शक्ति का नियामक होता हो वहाँ 'संयोग' का उदाहरण समझना चाहिए और जहाँ द्वंद्व आदि समासों के अंतर्गत केवल सम्बन्धी ही शक्ति का नियामक होता हो 'वहाँ 'साहचर्य' का उदाहरण समझना चाहिए।"

यह है प्राचीनों का आशय। सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि— 'गाँडीव सहित अर्जुन*' यह 'संयोग' की नियामकता का उदाहरण हुआ और 'गांडीव और अर्जुन' 'साहचर्य' की नियामकता का।

४—विरोधिता

प्रसिद्ध वैर और एक साथ न रहने को 'विरोधिता' कहते हैं।

---

*'अर्जुन' शब्द के युधिष्ठिर का भ्राता, सहस्रबाहु, श्वेत और एक प्रकार का पेड़ आदि अनेक अर्थ हैं।

उनमें से 'प्रसिद्ध वैर' का उदारण प्राचीनों ने "राम और अर्जुन" लिखा है।

अप्पय दीक्षित का खण्डन

परंतु अप्पय दीक्षित ने वृत्तिवार्त्तिक' में इस उदाहरण का खंडन करते हुए यह लिखा है—

"प्राचीनों ने जो—'राम' और 'अर्जुन' पदों में परस्पर 'मारनेवाला और मरनेवाला होना' इस विरोध के कारण 'परशुराम' और 'सहस्रबाहु' इन अर्थों में शक्ति का नियमन होता है"—यह लिखा है सो ठीक नहीं। कारण, जब 'राम' पद की अभिधा का (परशुराम अर्थमें) नियमन हो चुके तब उसके विरोध का अनुसंधान करने पर 'अर्जुन' पद की शक्ति का 'सहस्रबाहु' अर्थ में नियमन हो सकता है और 'अर्जुन' पद की शक्ति का नियमन होने पर 'राम' पद की शक्ति का परशुराम अर्थ में नियमन हो सकता है—अर्थात् जब पहले 'राम' पद का अर्थ 'परशुराम' ही है यह समझ लिया जाय तब 'अर्जुन' पद का अर्थ 'सहस्रबाहु ही है' यह समझा जा सकता है और जब 'अर्जुन' पद का अर्थ 'सहस्रबाहु' है यह समझ लिया जाय तब 'राम' शब्द का 'परशुराम' अर्थ समझा जा सकता है। इस कारण इस उदाहरण में अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। अतः 'विरोधिता' के उदाहरण के दो पदों में से एक पद ऐसा होना चाहिए, जिसका अर्थ निर्णीत हो। तभी उसके विरोध का स्मरण होगा और उस विरोध के अनुसंधान से अनेकार्थक पद की अभिधा का नियमन होगा। सो विरोधिता का उदाहरण 'राम और रावण' होना चाहिए।"

इस कथन में 'विरोधिता' के नियामक होने का 'राम और रावण' यह उदाहरण, जिसके दो पदों में से एक का अर्थ निर्णीत है, ठीक नहीं। कारण, यहाँ भी 'राम और लक्ष्मण' इत्यादि की तरह 'साहचर्य'

ही नियामक है। आप कहेंगे—राम का लक्ष्मण के साथ रहना प्रसिद्ध है, रावण के साथ नहीं; अतः यह बात नहीं बन सकती। तो आप भूल करते हैं। हम पहले ही समझा आए हैं कि 'उन दोनों के किसी प्रसिद्ध संबंध से युक्त होने का नाम ही उन दोनों का साहचर्य है'; और जिस तरह पिता, भ्राता, स्त्री, पुत्र, सेवक और नगरी का संबंध संसार में प्रसिद्ध है उसी तरह शत्रु का संबंध भी लोकप्रसिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में भी यदि 'विरोधिता' को पृथक् गिना जाय तो 'मित्रता' आदि को भी पृथक् गिनना पड़ेगा। इस कारण प्राचीनों के उदाहरण की तरह तुम्हारा उदाहरण भी अशुद्ध ही है।

दूसरे, तुमने जो यह लिखा है कि—"दो पदों में से एक पद का अर्थ निर्णीत होना चाहिए" सो यह भी असंगत ही है। कारण 'हरिनागस्य'* इत्यादि में दोनों अर्थों के अनिर्णीत होने पर भी 'एकवद्भाव' (एकवचन होने) के द्वारा अभिव्यक्त हुए और जिसके विशेषण रूप में कोई खास संबंधी नहीं आया है ऐसे (क्योंकि ऐसी जगह किसका किससे विरोध है इस बात को विशेषरूपेण न जानने पर भी केवल एकवचन से ही विरोध प्रतीत हो जाता है) विरोध के कारण एक-साथ दोनों विरोधियों में अभिधा का नियमन हो जाता है—अर्थात् 'हरि' का अर्थ केवल 'सिंह' तथा 'नाग' का अर्थ केवल हाथी' समझ में आ जाता है।

तीसरे, अप्पय दीक्षित ने जो यह लिखा है कि—"रामार्जुनगतिस्तयोः (उन दोनों की गति राम और अर्जुन की सी है) यह 'अन्य

---

* संस्कृत व्याकरण के अनुसार जिनमें सार्वदिक विरोध होता है उनका द्वंद्व-समास करने पर "येषां च विरोधः शाश्वतिकः (२।४।९)' सूत्र द्वारा एकवचन हो जाता है।

शब्द की सन्निधि' का उदाहरण है।" वह भी ठीक नहीं। कारण तुमने जो 'निषधं पश्य भूभृतम् (निषध राजा को देख)' और 'नागो दानेन राजते (हाथी मद से शोभित होता है)' ये 'शब्दांतर-सन्निधि' के उदाहरण लिखे हैं उनमें, अभिधा का विषय जब तक नियत न हो जाय तब तक, अन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि 'भूभृत्' शब्द का अन्वय 'निषध' शब्द के साथ तभी हो सकता है जब कि उसका अर्थ 'राजा' माना जाय, 'पर्वत' मानने पर नहीं; और इसी प्रकार 'नाग' और 'दान' शब्द का अन्वय भी तभी हो सकता है जब कि उनका क्रमशः 'हाथी' और 'मद' अर्थ माना जाय, 'सर्प' और 'त्याग' मानने पर नहीं। सो उन्हें 'शब्दांतर-सन्निधि' का उदाहरण मानना उचित है; क्योंकि वहाँ अन्य शब्द के साथ अन्वय न हो सकने के कारण ही अभिधा का नियमन होता है। पर "रामार्जुनगतिस्तयोः" इस जगह तो 'वे दोनों रघुनाथ और अर्जुन की तरह पराक्रमशाली हैं' इत्यादि अन्य अर्थ के विषय में इन पदों का प्रयोग करने पर भी अन्वय हो सकता है—अन्वय में कुछ गड़बड़ नहीं होगी, अतः बड़ी भारी विलक्षणता होने के कारण यह 'शब्दानर-सन्निधि' का उदाहरण नहीं हो सकता।

अब यदि आप कहें कि यह सब होने पर भी 'काव्य-प्रकाश' में जो "रामार्जुनगतिस्तयोः—उन दोनों की राम और अर्जुन की सी गति है" यह 'विरोधिता' का उदाहरण लिखा है उसकी असंगति तो रह ही गई—उसमें जो अन्योन्याश्रय दोष दिखाया गया था उसे तो आपने हटाया नहीं। सो यह भी नहीं। उस वाक्य का अर्थ यों कीजिए कि—तयोः=जिनका विरोध प्रसिद्ध है उन किन्हीं दोनों का, रामार्जुन-गतिः = परशुराम और सहस्रबाहु के समान आचरण है। ऐसी दशा में प्रकरणवशात् विरोध की प्रतीति हो जायगी—'उन दोनों का नाम लेते ही विरोध याद आ जायगा। और तब उस विरोध के कारण

एक साथ परशुराम और सहस्रबाहु अर्थों में 'राम' और अर्जुन' शब्दों की अभिधा का नियमन बन सकता है।

आप कहेंगे—इस उदाहरण में 'प्रकरण' की अपेक्षा कोई विशेषता न हुई—जब प्रकरण-प्राप्त विरोध को नियामक माना जाता है तो सीधा यों ही क्यों नहीं कह देते कि इस उदाहरण में, 'प्रकरण' ही नियामक है। सो भी नहीं। क्योंकि विरोध यद्यपि प्रकरणागत है, तथापि जिनमें शक्ति का नियमन किया जा रहा है वे 'परशुराम' और 'सहस्रबाहु' तो प्रकरणागत हैं नहीं—अतः 'राम और अर्जुन' शब्दों की शक्ति का नियमन प्रकरण नहीं कर सकता, विरोध ही कर सकता है। सो 'काव्यप्रकाश का उदाहरण ठीक ही है।

यह तो हुई 'प्रसिद्ध वैर' रूपी विरोधिता की बात। अब दूसरी विरोधिता 'एक साथ न रहने' की बात सुनिए। वह 'छाया और धूप' इत्यादि में समझनी चाहिए। यहाँ यद्यपि 'छाया' शब्द के सूर्य की स्त्री, कांति, प्रतिबिंब और धूप न होना आदि अनेक अर्थ हैं, तथापि 'धूप' शब्द के साथ आने से उसका अर्थ 'धूप न होना' ही समझा जाता है, अन्य नहीं।

५—अर्थ

प्रयोजन को 'अर्थ' कहते हैं, जो कि चतुर्थी (विभक्ति) आदि का वाच्य होता है। जैसे "**स्थाणुं भज भवच्छिदे**—अर्थात् संसार के छेदन करने के लिये 'स्थाणु' का भजन कर"। (यहाँ पर 'स्थाणु' शब्द के शिव और ठूँठ (सूखा पेड़) दोनों अर्थ हो सकते हैं, तथापि 'संसार का छेदन करना' रूपी प्रयोजन 'स्थाणु' शब्द की शक्ति का 'शिव' अर्थ में नियमन कर देता है; क्योंकि यह प्रयोजन ठूँठ से सिद्ध नहीं हो सकता।

आप कहेंगे—बताइए, इस उदाहरण में 'अर्थ' का 'लिंग' से क्या भेद हुआ ? हम कहते हैं—'लिंग' शिव के उस धर्म का नाम हो सकता है जो शिव के अतिरिक्त अन्य किसी में न रहता हो; और अर्थ तो शिव के भजन आदि का कार्य है, न कि शिव में रहनेवाला धर्म। (अर्थात् 'संसार का छेदन' शिव में रहनेवाला धर्म नहीं, किंतु शिव के भजन का कार्य (फल) है। अतः स्पष्ट ही भेद है।

आप कहेंगे—यह ठीक नहीं। कारण, 'संसार का छेदन' यद्यपि शिव का धर्म नहीं है, तथापि 'संसार के छेदन को उत्पन्न करनेवाली भजन-क्रिया का 'कर्म' होना तो ('स्थाणु' पद के अन्य अर्थ) ठूँठ में न रहनेवाला शिव का धर्म है ही—कोई संसार का छेदन करने के लिये ठूँठ का भजन करने तो जायगा नहीं। इसका उत्तर यह है कि—आपका कहा हुआ विशिष्ट धर्म—'संसार के छेदन को उत्पन्न करनेवाली भजन-क्रिया का कर्म होना'—शाब्दबोध के अनंतर होनेवाले मानस बोध का विषय है (अर्थात् 'संसार के छेदन के लिये स्थाणु का भजन कर' इन उदाहरणों के शब्दों द्वारा यह धर्म नहीं ज्ञात होता, किंतु अर्थ समझ लेने के अनंतर मन में सोचने पर ज्ञात होता है); कारण मत-विशेष के अनुसार शाब्दबोध में सदा क्रिया अथवा कर्त्ता ही मुख्य विशेष्य (परम प्रधान) हुआ करते हैं—वहीं जाकर बोध की समाप्ति होती है। सो '···भजन क्रिया का···कर्म होना' प्रस्तुत शाब्दबोध का विषय नहीं है; अतः 'लिंग' से 'अर्थ' का भेद सिद्ध हो जाता है। (तात्पर्य यह कि 'अर्थ' के स्थल में, मानस बोध में लिंग के नियामक होने पर भी, शाब्दबोध में लिंग के नियामक न हाने के कारण लिंग का दखल यहाँ नहीं हो पाता।

कुछ (प्राचीन) विद्वान् इसका यह भी उत्तर देते हैं कि "किसी एक पद के ऐसे अर्थ का नाम 'लिंग' है, जो कि किसी अन्य अर्थ से

अन्वित न होते हुए ही प्रस्तुत वाच्य अर्थ का धर्म हो और उस शब्द के अन्य वाच्य अर्थों से संबंध न रखता हो; जैसे 'कुपितो मकरध्वजः' इत्यादि में 'कोप' आदि। पूर्वोक्त धर्म (संसार के छेदन करनेवाली भजन-क्रिया का कर्म होना) तो वैसा—अर्थात् एक पद का अर्थ—है नहीं; अतः वह लिंग नहीं है।"

६—प्रकरण

वक्ता और श्रोता की बुद्धि में रहनेवाला होना 'प्रकरण' कहलाता है।

जैसे—राजा को राजा को संबोधन करके कोई सेवक "**सर्वं जानाति देवः** (आप सब जानते हैं)" यह कहे तो इस वाक्य में 'देव' पद के 'देवता' और 'आप' आदि अनेक अर्थ होने पर भी 'आप' अर्थ में ही शक्ति का नियमन हो जाता है। (कारण, वहाँ कहनेवाले और सुननेवाले दोनों की बुद्धि में 'आप' अर्थ ही रहता है—उनका अन्य किसी अर्थ की तरफ ध्यान ही नहीं जाता।)

७—लिंग

'लिंग' उस धर्म का नाम है, जो अनेकार्थक पदों के अन्य अर्थों में न रहते हुए केवल उसी अर्थ में रहता हो और जिसका साक्षात् शब्द द्वारा ज्ञान होता हो (न कि पूर्वोक्त 'भजनक्रिया के कर्म होने' की तरह मन आदि द्वारा)।

जैसे—"**कुपितो मकरध्वजः** (कामदेव कुपित हो गया)" यहाँ 'मकरध्वज' पद के कामदेव और समुद्र आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं। उनमें से यहाँ कामदेव अर्थ ही लिया जाता है। (कारण, 'कोप' कामदेव में ही रह सकता है, समुद्र में नहीं; क्योंकि समुद्र जलरूप जड़ है।)

८—अन्य शब्द की सन्निधि

अनेकार्थक पद के केवल एक अर्थ से संबंध रखनेवाले अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के भी वाचक पद का समीपवर्त्ती होना—अर्थात् ऐसे दो अनेकार्थक पदों का पास-पास होना जिनका कोई एक अर्थ ही परस्पर संबंध रखता हो—'अन्य शब्द की संनिधि' कहलाता है।*

जैसे—"करेण राजते नागः (हाथी सूँड़ से शोभित होता है)" इस जगह 'कर' पद के भी हाथ, सूँड़ आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं और 'नाग' पद के भी हाथी, साँप आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं; पर 'नाग' पद को लेकर 'कर' पद की शक्ति का 'सूँड़' अर्थ में और 'कर' पद को लेकर 'नाग' पद की शक्ति का 'हाथी' अर्थ में नियमन हो जाता है।

आप कहेंगे—यहाँ अन्योन्याश्रय दोष क्यों नहीं होता? क्योंकि दोनों शब्द एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। तो यह ठीक नहीं। कारण, यहाँ एक शब्द की शक्ति का नियमन दूसरे शब्द की शक्ति के नियमन की अपेक्षा नहीं रखता, किंतु 'कर' शब्द और 'नाग' शब्द दोनों में से एक का भी यदि 'हाथ' अथवा 'साँप' आदि कोई दूसरा अर्थ ग्रहण करें तो अन्वय नहीं बन सकता; अतः दोनों की शक्ति का नियमन साथ ही साथ हो जाता है। अर्थात् ऐसी जगह अन्वय का न बन सकना उन दोनों शब्दों की शक्ति को नियमित करता है, न कि वे शब्द। अतः अन्योन्याश्रय नहीं होता।

---

* अन्य सन्निधि में दोनों पदों का नानार्थक होना सिद्धांत नहीं है, जैसा कि 'विरोधिता' में प्राचीनों के समर्थनग्रंथ से स्पष्ट है।

प्राचीनों के उदाहरण पर विचार

प्राचीन आचार्यों ने 'अन्य शब्द की सन्निधि' का उदाहरण "देवस्य पुरारातेः" लिखा है। यहाँ 'देव' शब्द से 'देवता' और 'राजा' अर्थों की और 'पुराराति' शब्द से नगर के शत्रु और 'किसी असुर (त्रिपुरासुर) के शत्रु' अर्थों की उपस्थिति होती है; सो ये दोनों शब्द अनेकार्थक हैं। और जैसे 'किसी असुर का शत्रु कोई देवता' यह अर्थ अन्वित हो सकता है, वैसे ही 'किसी नगर का शत्रु कोई राजा' यह अर्थ भी अन्वित हो सकता है; फिर शक्ति का नियमन कैसे होगा ? अर्थात् जब दोनों अर्थों में दोनों अर्थों का संबंध ठीक बैठ जाता है तब क्या बाधा है कि वे शब्द एक अर्थ के वाचक होंगे और अन्य के नहीं ?

आप कहेंगे—नहीं, यहाँ 'पुराराति' शब्द योगरूढ है और रूढि-शक्ति योगशक्ति को हटा दिया करती है, इस कारण 'पुराराति' शब्द का अर्थ शिव ही होता है—अन्य कुछ नहीं, और वह 'देव' शब्द की शक्ति का नियामक है—अर्थात् 'पुराराति' पद की सन्निधि से 'देव' शब्द का अर्थ 'देवता' ही किया जा सकता है, 'राजा' नहीं। तो यह भी नहीं हो सकता। क्याकि 'पुराराति' शब्द के रूढ़ होने में कोई प्रमाण नहीं। यदि कहो कि—यहाँ 'पुरारातेः' पाठ नहीं है, किंतु 'त्रिपुरारातेः' पाठ है और 'त्रिपुराराति' पद योगरूढ है। तथापि 'त्रिपुराराति' पद द्वारा उपस्थित करवाया गया 'त्रिपुरासुर का वैरी होना' रूपी धर्म 'देव' पद के अर्थ 'शिव' का अनन्यसाधारण धर्म है—वह शिव को छोड़कर अन्य किसी में नहीं रहता। इस कारण इस उदाहरण में शक्ति का नियामक 'लिंग' हुआ। सो 'देवस्य त्रिपुरा-रातेः' 'लिंग' का उदाहरण हो सकता है, 'अन्य शब्द की सन्निधि' का नहीं।

पर यदि प्राचीनों का 'लिंग' के विषय में यह आशय माना जाय कि "जो एक पद का अर्थ—जैसे 'कोप' आदि—अन्य किसी पद के अर्थ से अन्वित न होते हुए ही प्रस्तुत वाच्यार्थ का धर्म हो और उस शब्द के अन्य वाच्यार्थों से पृथक् रहनेवाला हो—उनमें न रहता हो, वह यहाँ 'लिंग' पद से वर्णन किया जाता है—उसे लिंग माना जाता है (जैसा कि 'अर्थ' के प्रकरण में लिख आए हैं)" तब तो 'देवस्य त्रिपुराराते:' को 'अन्य शब्द की सन्निधि' का उदाहरण मानने में कोई दोष नहीं। कारण, 'अराति' पद का अर्थ जो 'शत्रुत्व' है वह 'त्रिपुर' से अन्वित होकर ही 'देव' शब्द के अन्य वाच्यार्थों से पृथक् और केवल 'शिव' रूप वाच्य अर्थ में रहनेवाला हो सकता है। अतः प्राचीनों के हिसाब से इसे लिंग का उदाहरण नहीं, किंतु 'अन्य शब्द की सन्निधि' का उदाहरण माना जा सकता है।

प्राचीनों के लक्षणार्थ पर विचार

'काव्यप्रकाश' के टीकाकारों ने लिखा है—"अन्य शब्द की सन्निधि' का अर्थ 'अनेकार्थक' शब्द का ऐसे शब्द के साथ में होना है कि जो उस अर्थ से अन्वित होनेवाले अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ का बोध न करवाता हो।" पर यह टीकाकारों का लक्षण पूर्वोक्त "करेण राजते नागः" इत्यादि में नहीं घट सकता; क्योंकि वहाँ तो दोनों पद अन्यान्य अर्थों का भी बोध करवाते हैं। यदि उस उदाहरण के लिए (गिनाए हुए नियामकों के अतिरिक्त) कोई अन्य नियामक ढूँढा जाय तो गौरव होता है—व्यर्थ ही उनकी संख्या अधिक हो जाती है। एवं काव्यप्रकाश के मूल में लिखे हुए 'कुपितो मकरध्वजः' आदि लिंग के उदाहरण में अतिव्याप्ति भी हो जाती है; अतः उस अर्थ की उपेक्षा ही उचित है* और हमारा ही लक्षण ठीक है।

---

* अतएव (प्राचीनों के हिसाब से) 'अन्य पदार्थों से अनन्वित

९—सामर्थ्य

कारणता का नाम सामर्थ्य है।

जैसे—"मधुना मत्तः कोकिलः (कोयल 'मधु' के कारण मत्त है)" यहाँ 'मधु' शब्द के 'वसंत' और 'मदिरा' आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं; पर 'कोयल के मद का उत्पादक (कारण) होना' 'मधु' शब्द की शक्ति को 'वसंत' अर्थ में ही नियत कर देता है।

यहाँ यह कहा जाता है कि—"यह 'लिंग' का उदाहरण नहीं हो सकता। कारण, मत्त कर देने की शक्ति तो मदिरा में भी है; पर कोयल के मत्त करने की शक्ति वसंत में ही है, मदिरा में नहीं।" ऐसा कहने-वालों से हम पूछते हैं कि—"सामर्थ्य 'लिंग' के अंतर्गत क्यों नहीं हो जाता—इसे उससे पृथक् क्यों माना जाता है?" इस शंका का यह उत्तर कैसे बन सकता है?

आप कहेंगे—कि मत्त कर देने का सामर्थ्य मदिरा में भी है, केवल वसंत में ही नहीं; अतः वह सामर्थ्य 'लिंग' नहीं हो सकता; क्योंकि 'लिंग' उस धर्म का नाम है जो असाधारण हो—अर्थात् केवल उसी वस्तु में रहता हो। पर यह ठीक नहीं। कारण, मत्त कर देने का

केवल एक पद के अर्थ' को ही 'लिंग' मानना अनुचित है; क्योंकि ऐसा करने से 'देवस्य त्रिपुरारातेः' न 'लिंग' का उदाहरण हो सकता है, न 'अन्य शब्द की सन्निधि' का; कारण, न वहाँ अन्य पद से अनन्वित एक पद का अर्थ है और न अनेकार्थक दो पदों का साथ-साथ प्रयोग।

सामाथ्य यद्यपि मदिरा में है तथापि कोकिल के मत करने का सामर्थ्य तो वसंत में ही रहता है—वह तो उसका असाधारण धर्म है, अतः उसे 'लिंग' मानने में क्या बाधा है? आप कहेंगे—जो मदिरा प्राणिमात्र को मत्त करने का सामर्थ्य रखती है—उसमें कोयल के मत्त करने का भी सामर्थ्य है ही। तो आपने जो 'सामर्थ्य' को वाचकता का नियामक माना सो व्यर्थ हुआ; क्योंकि अब तो 'मधु' शब्द के दोनों अर्थ हो सकते हैं—कोई बाधा तो है नहीं। जब कोयल के मत्त करने का सामर्थ्य वसंत में भी है और मदिरा में भी, तब फिर 'मधु' शब्द की शक्ति को एक अर्थ में कैसे रोका जा सकता है? और पहले जो आप कह आए हैं कि 'कोयल को मत्त करने का सामर्थ्य वसंत में ही है, मदिरा में नहीं' सो भी विरुद्ध पड़ता है। यदि कहो कि साधारणतया मत्त करने का सामाथ्य दोनों में होने पर भी कोयल को मत्त करने का सामाथ्य वसंत ही में प्रसिद्ध है, तो असाधारण धर्म होने के कारण पुनः 'लिंग' होने में कोई गड़बड़ रही नहीं; क्योंकि मदिरा में साधारण सामर्थ्य है और वसंत में असाधारण।

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि—'लिंग' से 'सामर्थ्य' का भेद हो ही नहीं सकता। दो तरह से हो सकता है—या तो (हमारे हिसाब से) यों मानिए कि 'लिंग' उसको कहते हैं जो शब्द से प्रतीत हो, जैसे 'कुपितो मकरध्वजः' इस उदाहरण में कोप, और शब्द के द्वारा जिसका बोध न हो अर्थात् जो मन आदि से समझा जाय उसको सामर्थ्य कहते हैं—जैसे 'मधुना मत्तः कोकिलः' इस उदाहरण में 'मधु से मत्त कोकिल' यह अर्थ शब्द से समझा जाता है और 'कोकिल मादनकारणता' मनसे समझी जाती है। अथवा (प्राचीनों के हिसाब से) यों मानिए—कि 'लिंग' में (अनन्वित) एक पद का अर्थ ही असाधारण धर्मरूप होता है और 'सामर्थ्य' में तृतीया विभक्ति, 'मत्त'

और 'कोकिल' आदि अनेक पदों का अर्थ (अन्वित होकर) 'कारणता' समझाता है। अतः 'लिंग' और 'सामर्थ्य' में भेद हो जाता है।

१०—औचिती

योग्यता का नाम 'औचिती' है।

जैसे—"पातु वो दयितामुखम् (प्रियतमा का 'मुख' आपकी रक्षा करे)" यहाँ 'मुख' शब्द के 'मुँह' और 'सम्मुख होना' आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं। पर यहाँ प्रियतमा का मुख जिस 'रक्षा' क्रिया का कर्ता है उस रक्षा के 'कर्म' रूप में कामार्त्त पुरुषों का आक्षेप होता है कि जिनके लिए प्रार्थना की गई है 'आप' महाशय कामार्त्त हैं यह स्पष्ट सूचित होता है। अतः जिन 'आप' को संबोधित किया गया है, उनकी रक्षा प्रियतमा के सम्मुख होने से ही हो सकती है, 'मुँह' मात्र से नहीं, क्योंकि प्यारी का मुख विमुख रहकर उनकी रक्षा नहीं कर सकता। अतः 'मुँह' और 'सम्मुख होना' दोनों अर्थों का बोध करानेवाले 'मुख' शब्द की शक्ति का 'रक्षा करने की योग्यता' ने (क्योंकि वह केवल मुख में नहीं है) 'सम्मुख होने' अर्थ में ही नियमन कर दिया।

११—देश

नगर आदि का नाम 'देश' है।

जैसे "**भात्यत्र परमेश्वरः** (परमेश्वर यहाँ सुशोभित हो रहे हैं)" इत्यादिक में 'परमेश्वर' आदि शब्दों की शक्ति का, 'परमात्मा' और 'राजा' आदि अनेक अर्थ होने पर भी, एक ही अर्थ 'राजा' में नियमन हो जाता है, क्योंकि राजा का कभी नगरादि से संबंध रहता है और कभी नहीं—कभी वह वहाँ रहता है कभी अन्यत्र; 'सो न रहने' की निवृत्ति के लिये अधिकरणवाची 'यहाँ' आदि शब्द सार्थक हो सकता है; और परमात्मा तो सर्वव्यापी है अत; उसके न रहने का

स्थान कहीं भी न होने के कारण अधिकरण का निरूपण व्यर्थ हो जायगा।

इसी तरह "**वैकुंठे हरिर्वसति**— (वैकुंठ में हरि रहते हैं)" यहाँ भी वैकुंठरूप अधिकरण के कारण 'हरि' शब्द की शक्ति का (विष्णु अर्थ में) नियमन समझिए।

पहले उदाहरण में अन्य अर्थ (परमात्मा) के ग्रहण करने पर अधिकरण का कथन व्यर्थ हो जाता है और दूसरे उदाहरण में वैसा (अन्य अर्थ) करने पर अन्य किसी का उस अधिकरण (वैकुंठ) में रहना अप्रसिद्ध है। यह दोनों उदाहरणों की विशेषता है।

१२—काल

दिन आदि को 'काल' कहा जाता है।

जैसे "**चित्रभानुर्दिने भाति** (दिन में 'चित्रभानु' शोभित होता है)" इत्यादि में 'चित्रभानु' आदि पदों की शक्ति का 'सूर्य' आदि अर्थों में ही नियमन हो जाता है—उनके 'अग्नि' आदि अर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि दिन में अग्नि का प्रकाश मन्द रहता है।

इसी तरह "**चातुर्मास्ये हरिः शेते** (चौमासे में हरि सोते हैं)" इत्यादि में भी काल शब्द-शक्ति का नियामक होता है—वहाँ 'हरि' शब्द का अर्थ विष्णु ही हो सकता है, अन्य नहीं।

१३—व्यक्ति

पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंगों को 'व्यक्ति' कहा जाता है।

जैसे—"**मित्रो भाति**" और "**मित्रं भाति**" इन दोनों स्थानों पर एक ही 'मित्र' शब्द की शक्ति, एक जगह पुंल्लिंग के कारण, 'सूर्य'

अर्थ में और दूसरी जगह नपुंसक लिंग के कारण 'सुहृत्' अर्थ में नियत हो जाती है।

इसी तरह "नभो भाति" में 'नभ' शब्द की शक्ति आकाश अर्थ में और "नभा भाति" में श्रावण (मास) अर्थ में नियत हो जाती है।

१४—स्वर

उदात्त आदि 'स्वर' कहलाते हैं।

जैसे "इन्द्रशत्रुः" इस वैदिक शब्द को समास के कारण अंतोदात्त पढ़ा जाय तो तत्पुरुष समास होने के कारण 'इंद्र का शत्रु (मारनेवाला' अर्थ होता है और यदि पूर्व पद की प्रकृति (इंद्र शब्द) के स्वर के अनुसार अद्युदात्त पढ़ा जाय तो बहुव्रीहि समास होने के कारण 'इंद्र जिसका शत्रु (मारनेवाला) है' यह अर्थ होता है।

१५—अभिनयादिक

"संयागो विप्रयोगश्च......" इन कारिकाओं में जो इन सब नियामकों की गणना के अनंतर 'आदि' शब्द है, उससे अभिनयादिक लिए जाते हैं। जैसे "एद्दहमेत्तत्थणिआ (इतने बड़े स्तनोंवाली)" इत्यादि में 'इतने बड़े' शब्द के अर्थ 'सुपारी से लेकर घड़े तक के सब आकार हो सकते हैं—उस शब्द का कोई एक अर्थ नहीं। उनमें से वक्ता के हाथ का अभिनय जैसा होगा—जैसी मुद्रा उसने दिखाई होगी—उसी के अनुसार उस परिमाण के अर्थ में शब्द की शक्ति का नियमन हो जाता है।

उपसंहार

यह सब तो प्राचीनों की बात हुई—उनके इस विषय में जो विचार थे सो प्रकट किए गए। पर पंडितराज का कहना है कि इन पूर्वोक्त

नियामकों में से अर्थ, सामर्थ्य और औचिती के उदाहरणों में यथाक्रम चतुर्थी आदि द्वारा, तृतीया आदि द्वारा और अर्थ की योग्यता द्वारा समझाया हुआ कार्य-कारणभाव ही नियामक है—उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। अतः उन्हें यद्यपि भिन्न-भिन्न नहीं मानना चाहिए, तथापि उस कार्य-कारण भाव के बोधकों (चतुर्थी आदि) के विलक्षण होने के कारण प्राचीनों ने उन्हें विलक्षणरूप से निरूपण किया है।

वस्तुतः तो 'संयोगादिकों' (इन सभी) को अनेकार्थक शब्द के सब अर्थों में साधारण मानने पर तो अनेकार्थक शब्द की शक्ति का किसी एक अर्थ में संकोच नहीं हो सकता—अर्थात् वह शक्ति उस शब्द द्वारा किसी एक ही अर्थ का प्रतिपादन करवा सके, अन्य का नहीं—यह असंभव है। कारण, ऐसी दशा में जो उस शक्ति को नियत करनेवाले हैं 'संयोगादिक', वे स्वयं असंकुचित हैं—अर्थात् किसी एक अर्थ से ही संबंध नहीं रखते, किंतु साधारण हैं। और यदि 'प्रसिद्धता'—अर्थात् वे उसी अर्थ में प्रसिद्ध हैं अन्य में नहीं—इत्यादि के कारण उन्हें असाधारण रूप में समझा जाय—यह माना जाय कि वे उस एक अर्थ के असाधारण धर्म हैं—तो ये सभी (संयोगादिक) 'लिंग' के भेद हो जाते हैं, उससे सर्वथा स्वतंत्र नहीं रह सकते। यह समझ लेने की बात है।

———

शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनियों

के उदाहरण

शब्द-शक्ति-मूलक अलंकार-ध्वनि

उपमा अथवा रूपक की ध्वनि; जैसे—

करतलनिर्गलदविरलदानजलोल्लासितावनीवलयः ।
धनदाग्रमहितमूर्त्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम् ॥

कोई कवि किसी राजा की स्तुति करता है—जिसने (अपनी) हथेली से गिरते हुए सतत 'दान' (संकल्प) के जल से भूमंडल को आनंदित कर दिया है और जिसका स्वरूप धन देनेवालों में सर्वप्रथम प्रशस्त है ऐसा यह सार्वभौम (सब पृथ्वी का पति) सबसे उत्कृष्ट है।

यहाँ राजा का प्रकरण है, इस कारण 'कर', 'दान', 'धनद' और 'सार्वभौम' शब्दों की शक्ति संकुचित कर देने पर भी—अर्थात् उन्हें केवल हाथ, दान, द्रव्यदाता और चक्रवर्ती अर्थों के प्रतिपादक मान लेने पर भी—उस (शक्ति) को मूल मानकर प्रकट हुई (अर्थात् अभिधामूलक) व्यंजना द्वारा जो यह द्वितीय अर्थ प्रतीत होता है कि—'जिसकी सूँड़ से गिरते हुए मद के अनल्प जल से भूमंडल प्रमुदित हो रहा है और जिसका स्वरूप कुबेर के आगे प्रशंसित है ऐसा यह 'सार्वभौम' (उत्तर दिशा का दिग्गज) अत्यंत उत्कृष्ट है।'

वह असंबद्ध रूप में अभिहित न हो—उसका भी प्रकरण-प्राप्त अर्थ के साथ कुछ संबंध हो जाय, नहीं तो वह लटकता ही रह जायगा—इसलिये प्रधान वाक्यार्थ (दोनों अर्थों को मिलाकर होनेवाले सम्मिलित

वाक्यार्थ) के रूप में प्रस्तुत (प्रकरण-प्राप्त) अर्थ के उपमेय और अप्रस्तुत अर्थ के उपमान होने की कल्पना की जाती है। अतः इसे 'उपमा-अलंकार' की ध्वनि कहा जाता है—अर्थात् यहाँ पूर्वोक्तरीत्या प्रस्तुत अर्थ के साथ अप्रस्तुत अर्थ की उपमा अभिव्यक्त हाती है।

उपमा की अभिव्यक्ति पर विचार

यहाँ एक बात विचारने की है। वह यों है कि—इस काव्य (उपर्युक्त पद्य) को 'ध्वनि' (उत्तमोत्तम) कहना अनुचित है, किंतु जिस प्रकार अनेकार्थक विशेषणोंवाली समासोक्ति (जैसे—

"अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः।

यहाँ प्रस्तुत अर्थ है—देख, अरुणवर्ण चन्द्रमा पूर्वदिशा के प्रारंभ का स्पर्श कर रहा है—उदय हो रहा है। पर, 'रक्त', 'मुख' और 'चुम्बति' पदों के श्लिष्ट होने तथा 'ऐंद्री' के स्त्रीलिंग और 'चंद्रमाः' के पुल्लिंग होने से एक ऐसा व्यवहार प्रतीत हो जाता है कि—पुरुष-चंद्रमा आसक्त होकर पूर्वदिशा-रूपी स्त्री का मुख चूम रहा है। इत्यादि) में अप्रस्तुत व्यवहार (चूमना-आदि) व्यंग्य होने पर भी प्रस्तुत धर्मी (चंद्रमा) के ऊपर आरोपित किया जाने के कारण प्रस्तुत विषय का उपस्कारक (सुशोभित करनेवाला—सुंदर बनानेवाला) होने से गुणीभूत माना जाता है, उसी तरह यहाँ भी होना उचित है—अर्थात् इस पद्य को 'ध्वनि' नहीं, किंतु 'गुणीभूतव्यंग्य' माना जाना चाहिए। और आप यह तो कह नहीं सकते कि 'व्यंग्य उपमा' प्रस्तुत अर्थ को उपस्कृत करनेवाली नहीं होती—प्रधान ही होती है; क्योंकि "उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहम् (देखिए २७३ पृ०)" और "भद्रात्मनो*

*** भद्रात्मनो दुराधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।**
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥

दुराधिरोहतनोः............” इत्यादि प्राचीनों के पद्यों में तथा “करत-लनिर्गल-दविरल......” इत्यादि उपर्युक्त आपके पद्य में व्यंग्य उपमा से राजा का उत्कर्ष सर्वानुभवसिद्ध है। और यदि अनुभव का अपलाप किया जाय—इतने पर भी कहा जाय कि नहीं, उपमा ही प्रधान है—तो हम भी बिना कष्ट के कह सकते हैं कि समासोक्ति में भी अप्रस्तुत व्यवहार प्रस्तुत का उपस्कारक नहीं होता।

आप कहेंगे—समासोक्ति में और इस स्थल में भिन्नता है, अतः आपका यह दृष्टांत ठीक नहीं बैठता, क्योंकि समासोक्ति में अप्रस्तुत व्यवहार के अनेकार्थ शब्दों द्वारा उपस्थित करवाए जाने पर भी, जिसमें वह व्यवहार रहता है वह व्यक्ति अथवा वस्तु अनेकार्थ शब्द द्वारा उपस्थित नहीं करवाई जाती—अर्थात् जैसे प्रस्तुत उदाहरण में 'सार्वभौम' शब्द अनेकार्थक है वैसे समासोक्ति में 'चंद्रमा' अनेकार्थक नहीं है। तो इससे क्या हो गया? व्यवहारवान् पदार्थ के अनेकार्थक शब्द द्वारा उपस्थापित हो जाने मात्र से अप्रस्तुतधर्मी (गज) द्वारा निरूपण की गई उपमा का प्रस्तुत धर्मी (राजा) का उपस्कृत करना

यहाँ प्रस्तुत अर्थ है—जिसके शरीर पर कष्ट से आक्रमण किया जा सकता था, जिसके कुल की उन्नति विशाल थी, जिसने बाणों का पक्का अभ्यास किया था, जिसका ज्ञान अबाधित था, जो शत्रुओं का निवारण करनेवाला था और जिस कल्याण-रूप राजा का हाथ निरंतर दान के जलों की सिंचाई से सुंदर रहता था।

अप्रस्तुत अर्थ है—जिसके शरीर पर कष्ट से चढ़ा जा सकता था, जिसके मेरु दंड (पीठ) ने बड़ी उन्नति की थी—बहुत ऊँचा था, जिसने भौंरों को इकट्ठा कर रक्खा था और जिस 'भद्र' जाति के उत्कृष्ट हाथी की सूँड़ निरंतर मद के जल की सिंचाई से सुंदर रहती थी।

निवृत्त नहीं हो सकता, जिससे कि गुणीभूतव्यङ्ग्यता न हो। दृष्टांत और दार्ष्टांतिक के किसी अंश में भेद होने पर भी दोष का उद्धार कैसे हो गया? फिर भी उपमा तो उपस्कारक ही रही, प्रधान तो हो नहीं गई।

आप कहेंगे—उपमादिक अलंकार, वस्तु की अपेक्षा, स्वभावतः सुन्दर हुआ करते हैं और ऐसे काव्यों को प्रवृत्ति के उद्देश्य भी व्यंग्य अलंकार ही हैं—ऐसे काव्य बनाए ही इसलिये जाते हैं कि उनमें अलंकारों की अभिव्यक्ति हो, अतः वस्तु की अपेक्षा अलंकारों की गौणता नहीं हो सकती; जैसे कि केवल वस्तु से अभिव्यक्त अलंकारों की वस्तु की अपेक्षा गौणता नहीं होती। दोनों का बराबर हिसाब है—जब वहाँ वैसा माना जाता है तो यहाँ ऐसा क्यों माना जाय? रही समासोक्ति की बात। सो वहाँ तो जो अप्रस्तुत व्यवहार समासोक्ति का अंगरूप होता है वह अलंकार न होने के कारण वस्तु का उपस्कारक हो सकता है।

पर आप का यह कहना ठीक नहीं। कारण, यह माना जाता है कि—"बाधे दृढेऽन्यसाम्यात् किं दृढेऽन्यदपि बाध्यताम् = अर्थात् (उपस्थित की गई) बाधा यदि शिथिल है तो दूसरे की समानता से—केवल दृष्टांत से—क्या हो सकता है? आप दृष्टांत क्यों दे रहे हैं, बाधा का ही खंडन क्यों नहीं कर देते, और यदि बाधा दृढ है—आप उसका खंडन नहीं कर सकते—तो जिसकी समानता बता रहे हैं उसे भी वह बाधित कर देगी—आपका प्रस्तुत उदाहरण और दृष्टांत दोनों ही खंडित हो जायँगे।" (कहने का तात्पर्य यह कि आप जो यह कह रहे हैं कि 'जिस तरह वस्तुमात्र से अभिव्यक्त अलंकार वस्तु की अपेक्षा गौण नहीं हो सकते; उसी तरह यहाँ भी अलंकार-रूप उपमा राजा के वर्णन की अपेक्षा गुणीभूत नहीं हो सकती' सो ठीक

नहीं। कारण, हमने जो बाधा उपस्थित की है उसका आपने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया—आप यह नहीं समझा पाए कि उपस्कारक होने पर भी अलंकारों को अन्य का अंग क्यों न माना जाय? अतः यह सिद्ध होता है कि हमारी उपस्थित की हुई बाधा दृढ है। यदि ऐसा है तो दृष्टांत और दार्ष्टांतिक दोनों उससे बाधित हो जायँगे—अर्थात् जिस सिद्धांत को आप दृष्टांत रूप में दे रहे हैं वह भी खंडित हो जायगा।) सो आपकी युक्ति के शिथिल होने के कारण उपमा की 'अपराङ्गता'—अतएव गौणता—दूर नहीं की जा सकती।

अब यदि कहा जाय कि जिस उपमालंकार को आप 'अपराग—अन्य वस्तु का अंग'—कह रहे हैं, उसके शरीर को सिद्ध करनेवाली वस्तुएँ तीन हैं—उपमान, उपमेय और साधारण धर्म। इसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं; क्योंकि इन तीनों के बिना उपमा—जिसे सादृश्य कहना चाहिए—सिद्ध नहीं होती। अब सोचिए कि यहाँ ("करतलनिर्गल······" पद्य में) सादृश्य-रूपी अंश से उपमेय के उपस्कृत होने पर भी उपमा 'अपरांग—अन्य का अंग—न हुई। कारण, हम बता ही चुके हैं कि उपमेय भी उपमा के शरीर को सिद्ध करनेवाला है, अतः अन्य नहीं है। सो उसे उपस्कृत करने से उपमा अपरांग कैसे हो सकती है? जैसे कि समासोक्ति में अप्रस्तुत व्यवहार से प्रस्तुत अर्थ के उपस्कृत होने पर भी समासोक्ति को अपरांग नहीं कहा जा सकता; क्योंकि समासोक्ति बनती ही है प्रकृत और अप्रकृत दो पदार्थों द्वारा। इसी तरह यहाँ भी होना चाहिए। अर्थात् यहाँ उपमेय प्रकृत है और उपमान अप्रकृत; उनके द्वारा सिद्ध हुई उपमा समासोक्ति की तरह स्वतंत्र अलंकार रूप ही रहेगी; अपने एक अंश रूप उपमेय को उपस्कृत करने के कारण गौण नहीं हो सकती।

तथापि हम कहेंगे कि—या तो समासोक्ति की तरह इस भेद को भी 'गुणीभूतव्यंग्य' मानना पड़ेगा,* या इस भेद की तरह समासोक्ति

* "गुणीभूतव्यंग्य मानना पड़ेगा" इस कथन का अभिप्राय यह है कि—उपमा का शरीर उपमान, उपमेय और साधारण धर्म—इन तीनों द्वारा निर्मित होने पर भी उपमेय (प्रकृत अर्थ) तो व्यंग्य है नहीं, क्योंकि उसका तो अभिधा द्वारा वर्णन है। और शरीर-रूप होने में तीनों की समानता है—उनमें से एक अधिक है और एक न्यून यह तो कहा नहीं जा सकता। अतः व्यंग्य अंश के, वाच्य अंश की अपेक्षा, उत्कृष्ट न होने के कारण यहाँ 'ध्वनि' कहना अनुचित है, 'गुणीभूत व्यंग्य' कहना ही उचित है।

इसका उत्तर अन्य विद्वान् यों देते हैं कि अलंकारों का रसादिक में उपयोग उद्दीपन के ढंग से होता है—अर्थात् वे रसादिक को जोश देनेवाले होते हैं, उसे और भी उत्कृष्ट बना देते हैं। और आलंबन की अपेक्षा उद्दीपन का अधिक चमत्कारी होना सर्वानुभव-सिद्ध है। अतः "करतल......" आदि पद्यों का वाच्य अर्थ, जो (व्यंग्य उपमा का उपमेय है और राजविषयक प्रेम का) आलंबन विभाव है, की अपेक्षा उपमा (जो उद्दीपक है) की उत्कृष्टता होने के कारण यहाँ 'ध्वनि' मानने में कोई बाधा नहीं। हाँ, रसादिक की अपेक्षा गुणीभूत कहो तो ऐसा होना हमें स्वीकार है।—(पर ऐसा होना इन भेदों का प्रयोजक नहीं; क्योंकि रसादिक की अपेक्षा गौण व्यंग्यों को सभी आचार्यों ने 'ध्वनि' रूप माना है, अतः 'ध्वनि' होने के लिये वाच्य से उत्कृष्ट होना ही पर्याप्त है।) सो इस प्रभेद को 'ध्वनि' मानना ठीक ही है।

रही समासोक्ति; जैसे—

को भी 'ध्वनि' कहना पड़ेगा—यह क्या गड़बड़ है कि दोनों के

"आगत्य संप्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गीमम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः।
एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते तन्वङ्गि! पादपतनेन सहस्ररश्मिः॥
हे कृशाङ्गि! देख, न जाने कहीं रात बिताकर अब आया हुआ सहस्ररश्मि (सूर्य), इस समय, विरह के कारण अंग सिकोड़े हुई कमलिनी को 'पादपतन' (पैरों पड़ने; वस्तुतः—किरण डालने) द्वारा प्रातःकाल में प्रसन्न कर रहा है।"

इत्यादि की बात। सो वहाँ तो यह वचन, मुग्धता के कारण बिना खुशामद ही मान छोड़ देनेवाली, नायिका से सखी का है। वह कहना चाहती है कि—"देख, हजार रश्मि (जो मानों उसकी स्त्रियाँ हैं) वाला भी सूर्य जब सबेरे आकर कमलिनी की खुशामद करता है—पैरों पड़ता है—तब वह प्रसन्न होती है और तू वैसे ही प्रसन्न हो गई। थोड़ा तो मान रखती।" यहाँ अप्रस्तुत नायक का व्यवहार (जो व्यंग्य है) जब तक प्रस्तुत सूर्य पर आरोपित नहीं किया जाय, तब तक वाच्य अर्थ नहीं बन सकता। अतः व्यंग्य को गुणीभूत मानना उचित ही है। हाँ, जहाँ पूर्वोक्तरीत्या समासोक्ति में भी वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य की उत्कृष्टता हो वहाँ भले ही 'ध्वनि' मान लीजिए; इसमें कोई आपत्ति नहीं।

आप कहेंगे—ऐसा मान लेने पर भी यहाँ उपमालंकार तो इस पद्य को 'ध्वनि' बनाने की योग्यता रखता नहीं; क्योंकि उसके तीन अंशों में से एक अंश वाच्य है। हाँ, उस अलंकार द्वारा अभिव्यक्त राजविषयक प्रेम का उत्कर्ष अवश्य इसे 'ध्वनि' बना सकता है, क्योंकि वह उद्दीपक होने के कारण वाच्य की अपेक्षा उत्कृष्ट है। फिर इसे अलंकारध्वनि कैसे कहा जा सकता है? तो इसका उत्तर यह

समान होने पर भी एक को 'ध्वनि' कहा जाय और दूसरे को 'गुणीभूत-व्यंग्य'।

ऐसे उदाहरणों में उपमा व्यंग्य है या रूपक ?

अच्छा, अब एक और बात सुनिए। जहाँ श्लेष होता है वहाँ, दो श्लिष्ट अर्थों का श्लेष के सहारे अभेद माना जाता है, जिसे कि सब आलंकारिकों ने लिखा है और अनुभव-सिद्ध है। उस अभेद का कारण ढूँढने पर 'दोनों अर्थों के एक पद द्वारा गृहीत (ज्ञात) होने' के अतिरिक्त अन्य कोई कारण कहा नहीं जा सकता। बात भी ठीक है—एक पद द्वारा वर्णित अनेक अर्थ भी अभिन्न ही दिखाई देते हैं।

ऐसी दशा में "उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहम्......" इत्यादिक (अथवा "करतलनिर्गलदविरल..." आदि उदाहृत पद्य) में भी दोनों अर्थों के एक पद द्वारा गृहीत होने के कारण दोनों अर्थों का अभेद मानना युक्ति-सिद्ध है। अतः ऐसी जगह अभेद—अर्थात् रूपक—का ही व्यंग्य होना उचित है, उपमा का नहीं।

यदि आप कहें कि श्लेष में तो दोनों अर्थ वाच्य होते हैं और दोनों (की अभिव्यक्ति) का समय भी एक ही होता है—अर्थात् दोनों एक साथ ही प्रतीत होते हैं; परंतु यहाँ (पूर्वोक्त पद्य में) तो एक अर्थ वाच्य है और दूसरा व्यंग्य, एवं दोनों का समय भी भिन्न भिन्न है—अर्थात् वाच्य अर्थ पहले प्रतीत होता है और व्यंग्य उसके अनंतर। तो यह ठीक नहीं। इतना सा भेद होने के कारण दो अर्थों का अभेद मानना छोड़ा नहीं जा सकता। कारण, व्यंग्य होना और आगे-पीछे

है कि—अलंकार द्वारा किए गए उत्कर्ष की ध्वनि में ही 'अलंकार-ध्वनि' होने का व्यवहार है। अतः कोई दोष नहीं। —नागेश

प्रतीत होना अभेद-ज्ञान का बाधक नहीं है—ऐसा होने से अभेद-ज्ञान में कोई बाधा नहीं आती।

इस कारण, काव्यप्रकाश के टीकाकारों का जो यह कथन् है कि "रूपक का ज्ञान उपमा के ज्ञान के अधीन है—अर्थात् जब पहले उपमा (सादृश्य) का ज्ञान हो ले तब रूपक (सादृश्य-मूलक अभेद) का ज्ञान होता है; अतः प्रथम उपस्थित होने के कारण (ऐसे पद्यों में) उपमा की ही (प्रकृत और अप्रकृत अर्थ के) संबंध रूप में कल्पना करनी चाहिए।" सो अधिक श्रद्धा का पात्र नहीं है—अर्थात् उस उक्ति पर विश्वास रखकर ऐसे स्थलों पर उपमा को व्यंग्य मानना और रूपक को नहीं—यह अनुचित है।

अन्य अलंकार भी शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि में आते हैं।

अच्छा, अब फिर प्रस्तुत विषय की तरफ चलिए। इसी तरह अन्य अलंकार भी शब्दशक्ति-मूलक अनुरणन (व्यंजना) में आते हैं। जैसे 'यमुना-वर्णन' में—

"रविकुलप्रीतिमावहन्ती नर-वि-कुलप्रीतिमावहति,
अवारितप्रवाहा सुवारितप्रवाहा।"

(जो यमुना सूर्य के कुल को प्रीति-दान करती हुई मनुष्यों और पक्षियों के समूहों को प्रीति-दान करती है। जिसका प्रवाह अनवरुद्ध है और जिस प्रवाह में सुंदर जल उत्पन्न है।)

इस स्थान पर 'नर-वि-कुलप्रीतिमावहति' इस वाक्य के 'मनुष्यों के और पक्षियों के समूहों को प्रीति-दान करती है' इस प्रकरण-प्राप्त

अर्थ के सिद्ध हो जाने पर 'जो सूर्यवंश को प्रीति-दान नहीं करती है' यह अप्रस्तुत अर्थ और विरोधालंकार प्रतीत होते हैं, वे शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि के विषय हैं। (इसी तरह 'सुवारितप्रवाहा' में भी 'जिसके प्रवाह में सुंदर जल उत्पन्न हो गया है' इस प्रस्तुत अर्थ के सिद्ध हो जाने पर 'जिसका प्रवाह अत्यंत अवरुद्ध है' यह अप्रस्तुत अर्थ और विरोधालंकार अभिव्यक्त होता है!) इसी तरह अन्यत्र भी समझिए।

पर पूर्वोक्त गद्य में यदि "रविकुलप्रीतिमावहन्त्यपि नर-वि कुलप्रीतिमावहति, अवारितप्रवाहाऽपि सुवारित-प्रवाहा।" यों 'अपि (भी)' शब्द और अंदर डाल दिया जाय तो विरोधांश 'अपि' शब्द का वाच्य हो जाने और द्वितीय अर्थ के उसके द्वारा आक्षिप्त हो जाने के कारण इसे 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकता। जो लोग निपातों ('अपि' आदि) को वाचक नहीं, किंतु द्योतक मानते हैं उनके सिद्धांत में भी स्पष्ट रूप से द्योतित (प्रकाशित) और उसके द्वारा आक्षिप्त—दोनों—अर्थों में वाच्य की अपेक्षा कुछ ही न्यूनता रहने—अर्थात् वाच्य-जैसे ही हो जाने—के कारण व्यंग्य होना नहीं बन सकता।

काव्यप्रकाश के उदाहरण पर विचार

आप कहेंगे—यदि 'अपि' आदि शब्द देने पर ही विरोध वाच्य होता है, अन्यथा व्यंग्य रहता है तो काव्यप्रकाश के—

"अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादि दवदहनराशिः।
सुभग! कुरङ्गदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते॥

दूती नायक से कहती है—हे सुभग! दैववशात् तुम्हारे वियोग-रूपी वज्र के गिरने पर इस मृगनयनी के लिये कमलिनी के नवीन पल्लव और मृणाल के वलय (कंकण) आदि दावानल के समूह हो रहे हैं।"

इस उदाहरण में 'विरोधाभास' को वाच्य अलंकार कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि यहाँ विरोध किसी शब्द का वाच्य नहीं है, अतः उसका व्यंग्य होना ही स्वीकार करने योग्य है—आपके हिसाब से ऐसी जगह वाच्य अलंकार कहना बिलकुल असंगत है।

अब यदि आप कहें कि—'मृणालवलयादिक दावानल का समूह हो रहे हैं' यहाँ मृणालवलयादिक का और दावानल के समूह का जो अभेद* संबंध है, वह केवल अभेद के रूप में नहीं, किंतु विरोध से युक्त होकर इन दोनों शब्दों के अर्थों का संबंध बनता है। और संबंध वाच्य अर्थों के बोध का विषय है—अर्थात् पदों की तरह पदों के परस्पर संबंध का भी वाच्य अर्थ के रूप में ही बोध होता है, अन्यथा असंबद्ध अर्थों का अन्वय कैसे होगा ? अतः विरोध को वाच्य माना गया है। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, विरोध और अभेद दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, अतः एक ही समय दोनों का (मिश्रित होकर) एक संबंध रूप होना—अर्थात् 'विरोध-युक्त अभेद' का संबंध रूप होना—नहीं बन सकता। (तात्पर्य-यह कि—जिन वस्तुओं में विरोध होता है उनमें अभेद नहीं हो सकता, और जिनमें अभेद होता है उनमें विरोध नहीं हो सकता; अतः विरोध और अभेद दोनों—कभी साथ न रहनेवाली वस्तुओं—को मिलाकर एक संबंध मानना अनुचित है।) दूसरे, प्रातिपदिकार्थों का संबंध अभेद ही होने—अर्थात् उससे अतिरिक्त अन्य कोई संबंध

---

* याद रखिए—क्रियावाचक (तिङन्त) शब्दों को छोड़कर अन्य सब शब्दों (जिन्हें संस्कृत में 'प्रातिपदिक' कहा जाता है) का समान विभक्ति में आने पर सदा अभेद संबंध से ही अन्वय होता है। (विशेष विवरण उपमा के 'शाब्द बोध' में देखिए।)

न होने—के कारण, उनमें विरोध भी संबंध हो, इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। और अंततोगत्वा 'दावानल का समूह' शब्द लक्षणा द्वारा 'दावानल के समूह के समान' अर्थ का प्रतिपादन करता है, अतः (उन दोनों का सादृश्य संबंध होने के कारण) विरोधांश निवृत्त भी हो जाता है। (अर्थात् यद्यपि 'मृणालवलय आदि' के 'दावानल-समूहरूप' होने में विरोध है, तथापि विरहिणी के लिये दुःखदायी होने के कारण उन्हें परस्पर समान मानने में तो कोई विरोध है नहीं। अतः यदि आपकी बात मानें तो काव्यप्रकाश का उदाहरण गड़बड़ हो जाता है।)

इसका उत्तर यह है कि काव्यप्रकाशकार का तात्पर्य 'उक्त पद्य विरोध का उदाहरण है' इतने मात्र में है—विरोध व्यंग्य है अथवा वाच्य इससे उनका कोई सरोकार नहीं, क्योंकि व्यंग्य होने पर भी विरोध के अलंकार होने में कोई बाधा नहीं। सो काव्यप्रकाश के उदाहरण में तो कोई गड़बड़ है नहीं; हाँ, यदि इस पद्य को वाच्य-विरोध का उदाहरण बनाना हो तो 'अपि' अंदर घुसेड़ दीजिए, पर काव्यप्रकाशकार के लिये ऐसा करना आवश्यक नहीं है।

यह तो है मुख्य बात। पर कुछ लोगों का कथन यह भी है कि—"पूर्वोक्त उदाहरण में विरोधांश के व्यंग्य होने पर भी दोनों विरोधी (मृणालवलय और दावानल) तो वाच्य हैं, बस, इतने मात्र से यहां 'विरोधाभास' को वाच्य अलंकार कहना सिद्ध हो जाता है; क्योंकि विरोधालंकार के शरीर में विरोधी और विरोध सब प्रविष्ट हैं, उनमें से किसी भी अंश के वाच्य होने पर उसे वाच्य माना जा सकता है। इसी प्रकार अन्य (अप्रस्तुत) अंश के व्यंग्य होने पर भी एक अंश

(प्रस्तुत) को लेकर—अर्थात् उस अंश के वाच्य होने के कारण—'समासोक्ति' आदि को भी वाच्य अलंकार कहा जाता है*।"

अन्य उदाहरण

अथवा जैसे—

कृष्णपक्षाधिकरुचिः सदा संपूर्णमण्डलः ।
भूपोऽयं निष्कलङ्कात्मा मोदते वसुधातले ॥

जिसकी भगवान् के पक्ष में अधिक रुचि है, जिसका राष्ट्र सदा भरा-पूरा है और जिसका अंतःकरण निर्मल है ऐसा यह राजा, पृथ्वीतल पर-आनन्द कर रहा है ।

यहाँ राजा प्रकरण-प्राप्त है और उसके उपयुक्त होने के कारण उपर्युक्त अर्थ भी प्रकरण-प्राप्त है। अब इस प्रकरण-प्राप्त अर्थ के, अभिधा वृत्ति द्वारा, प्रतीत हो चुकने के अनंतर—'जिसकी कृष्णपक्ष में अधिक कांति है, जिसका बिंब सदा पूरा रहता है—कभी खंडित नहीं होता और जिसका स्वरूप कलंक-रहित है।' इस तरह चंद्रमा से विरुद्ध धर्मों के रूप में द्वितीय अप्रस्तुत अर्थ और उसके द्वारा सिद्ध किया गया 'व्यतिरेकालंकार' ध्वनित होता है।

आप कहेंगे—यहाँ 'व्यतिरेकालंकार' कवि का जो राजा के विषय में प्रेम है उसे उपस्कृत करता है, इस कारण गुणीभूत हो गया है—प्रधान नहीं है, सो इस व्यंग्य के कारण इस काव्य को 'ध्वनि' नहीं कहा जा

---

* इस पक्ष में अरुचि यही है कि—'समासोक्ति' आदि में तो अगत्या वैसा मानना पड़ता है; पर यहाँ जब पूर्वोक्तरीत्या वाच्य और व्यंग्य का स्पष्ट भेद हो सकता है, तब यह क्लिष्टकल्पना निरर्थक है ।

सकता; क्योंकि प्रधान व्यंग्य के कारण ही काव्य को 'ध्वनि (उत्तमोत्तम), कहा जाता है। हम कहते हैं—इस पद्य का वक्ता उदासीन है—उसे राजा की स्तुति अथवा निंदा से कोई प्रयोजन नहीं (अर्थात् यह राज-कवि की उक्ति नहीं, किंतु किसी तटस्थ की उक्ति है। सो इस पद्य का तात्पर्य यथार्थ बात कहने में है--स्तुति-निंदा करने में नहीं।) अतः यह पद्य वक्ता की रति का व्यंजक नहीं है।

दूसरे, "जो अर्थ गौण होता है, वह भी यदि वाच्य अर्थकी अपेक्षा प्रधान हो तो उसके कारण काव्य को 'ध्वनि' कहा जा सकता है" इस बात को प्राचीनों ने स्वीकार किया है। अन्यथा

"निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥

अर्थात् जो विना सामग्री-समूह के और बिना भित्ति के—केवल शून्य में—ही 'जगच्चित्र' (जगत् रूपी चित्र + विचित्र जगत्) को तैयार कर देते हैं उन 'कलाश्लाघ्य' (चंद्रकला से प्रशंसनीय + चित्रकला में प्रशंस-नीय) शिव के लिये नमस्कार हो।"

यहाँ जो काव्यप्रकाशकार ने व्यतिरेकालंकार की ध्वनि बताई है वह असंगत हो जायगी, क्योंकि यहाँ 'व्यतिरेकालंकार' का शिव के विषय में जो रतिभाव है उसका अंगभूत होना अनुभव-सिद्ध है।

शब्दशक्ति-मूलक वस्तु-ध्वनि

शब्दशक्ति के कारण वस्तु की ध्वनि; जैसे-

राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे महद् भयमुपस्थितम्।
बाले! वारय पान्थस्य वासदानविधानतः॥

पथिक किसी नवयौवना से कह रहा है—हे बाले ! 'राजा' (दूसरे पक्ष में—चंद्रमा) मुझसे प्रतिकूल हो गया है। मुझ पथिक को उससे जो बड़ा भारी भय उपस्थित हो रहा है उसे, तू, निवास का दान करके—रहने के लिये जगह देकर (दूसरे पक्ष में—निवास और (वांछित का) दान करके) निवृत्त कर।

यहाँ 'उपभोग का दान कर' यह वस्तु (बात) (चंद्रवाची) 'राज'पद जिसका मूल है उस अनुरणन में आती है—अर्थात् अभिव्यक्त होती है। कारण, 'राज'-पद से 'चंद्र' अर्थ की उपस्थिति होने पर ही, चंद्रमा से उत्पन्न भय (कामपीडा) की निवृत्ति के कारणरूप में उपभोग की अभिव्यक्ति होती है—यदि 'राज' पद का अर्थ 'चंद्रमा' न हो तो इस पद्यसे यह बात न निकल सके। सो राज'-पद की अभिधा ही इस व्यंजना का मूल है।

यदि आप कहें कि—यहाँ (पूर्वोदाहृत "करतल······" आदि पद्यों की तरह) 'राजा और चंद्रमा दोनों में से एक के उपमान और दूसरे को उपमेय होने (अर्थात् उपमा)' अथवा 'दोनों का अभेदरूपी रूपक' व्यंग्य होने दीजिये (तात्पर्य यह कि यहाँ 'वस्तु-ध्वनि' न मानकर 'अलंकार-ध्वनि' ही क्यों नहीं मान ली जाती ?)। तो यह ठीक नहीं। कारण, यहाँ 'राज' शब्द का 'राजा' अर्थ, केवल 'चंद्र'रूपी अर्थ को छिपाने के लिये ही ग्रहण किया गया है। (अर्थात् वक्ता ने दूसरों से अपना अभिप्राय छिपाने के लिये ही श्लिष्ट शब्द का प्रयोग किया है—उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं।) अतः 'चंद्र' रूप अर्थ की प्रतीति हो जाने पर 'राजा' रूप अर्थ की प्रतीति रहेगी हीं नहीं। और उपमा तथा रूपक तब हुआ करते हैं, जब उपमान और उपमेय दोनों की एक-साथ प्रतीति हो, अन्यथा साहश्य और अभेद होगा किन दो का ? (बात यह है कि—जब तक 'राज' पद का 'राजा' अर्थ प्रतीत होगा,

तब तक 'चंद्र' अर्थ न समझ पड़ेगा और जब 'चंद्र' अर्थ समझ पड़ेगा तब 'राजा' अर्थ नहीं। अतः उपमा और रूपक यहाँ वक्ता के तात्पर्य का विषय नहीं है--वक्ता को यहाँ अलंकारों का व्यंग्य होना सर्वथा अभीष्ट नहीं।)

कहा जायगा कि—इस तरह दो असंबद्ध—जिनमें सादृश्यादिक कुछ भी संबंध नहीं ऐसे—अर्थों का बोध होगा तो वाक्यभेद-दोष हो जायगा। पर यह भी ठीक नहीं। कारण, जब समान कक्षा के दो असंबद्ध अर्थों का प्रतिपादन अभीष्ट हो तभी वह दोष माना भी जाता है। पर यहाँ तो जब (अभीष्ट अर्थ के) छिपानेवाले ('राजा' अर्थ) की प्रतीति होती है तब छिपाए जानेवाले ('चंद्र' अर्थ) की प्रतीति नहीं होती; और जब छिपाए जानेवाले अर्थ (चंद्र) की प्रतीति होती है तब छिपानेवाला अर्थ ('राजा') तिरोहित हो जाता है, अतः दोनों अर्थ समान कक्षा के नहीं हैं। फिर रूपक और उपमा का प्रश्न ही कहां है !

काव्यप्रकाश के उदाहरण पर विचार

काव्यप्रकाश में तो शब्दशक्ति-मूलक वस्तु-ध्वनि का—

"शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र ! यस्मै त्वम्।
यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च।

कवि कहता है—हे नरेंद्र, जिस पर आप कुपित होते हैं उसको शनि और 'अशनि' (शनि का विरोधी; वस्तुतः वज्र) दोनों मारते हैं। और जिस पर आप प्रसन्न होते हैं वह उदार (दानशील) और 'अनुदार' (उदार से भिन्न; वस्तुतः स्त्री सहित) सुशोभित होता है (उसे कभी वियोग की वेदना नहीं सहनी पड़ती)।"

यह उदाहरण देकर कहा गया है कि—"इस पद्य में विरोधी भी दोनों तुम्हारी अनुवृत्ति के लिये एक कार्य करते हैं" यह बात अभि-

व्यक्त होती है"। और व्याख्याकारों ने इसकी यह व्याख्या की है कि—"दोनों = शनि और अशनि तथा उदार और अनुदार। एक कार्य = मारना और सुशोभित होना।"

अब यह सोचिए कि यहाँ यद्यपि 'शनि' और 'अशनि' इन दोनों विरोधी पदार्थों का 'मारना' क्रिया के कर्तृत्व में अन्वय संभव है, अतः उन दोनों का 'मारना' रूपी 'एक कार्य' हो सकता है; तथापि दूसरी क्रिया 'सुशोभित होना' का कर्त्ता 'वह' है, उदार और अनुदार नहीं; उदार और अनुदार तो 'सुशोभित होने' के कर्त्ता 'वह' पद के अर्थ के अथवा उस अर्थ के विशेषण के विशेषण हैं। सो उनका 'सुशोभित होना' रूपी क्रिया के साथ साक्षात् अन्वय न हो सकने के कारण 'एक कार्य करनेवाला होना' कैसे बन सकता है? अर्थात् जब कि 'उदार' और 'अनुदार' 'सुशोभित होना' क्रिया के कर्त्ता ही नहीं हैं, किंतु कर्त्ता के विशेषण अथवा उसके विशेषण के विशेषण हैं तब 'सुशोभित होना' उनका कार्य कैसे हो सकता है?

अतः काव्यप्रकाशकार का पूर्वोक्त कथन केवल प्रथम अर्ध (शनि-अशनिवाले भाग) के विषय में ही है—उत्तरार्ध (अर्थात् उदार-अनुदारवाले भाग) में तो विरोधाभास अलंकार ही है, वस्तु की अभिव्यक्ति नहीं।

पर यदि कहो कि—'सुशोभित होना' रूपी क्रिया के कर्त्ता 'वह' के साथ 'उदार' और 'अनुदार' शब्दों के अर्थों का अभेद संबंध से अन्वय है; (क्योंकि "एक प्रतिपादिकार्थ का अन्य प्रतिपदिकार्थ के साथ अभेद के अतिरिक्त कोई संबंध नहीं हो सकता" यह नियम है)। बस, इतने मात्र से 'उदार' और 'अनुदार' का भी 'एक कार्य करना' बन सकता है; क्योंकि कर्त्ता और 'वह पद का अर्थ' शाब्दबोध में अभिन्न प्रतीत होता है। तो भले ही उत्तरार्ध में भी "विरोधी भी दोनों......"

इत्यादि पूर्वोक्त वस्तु व्यंग्य रहे; हमें इसमें कोई अड़चन नहीं। परंतु दोनों ही अर्थों में वह वस्तु 'विरोधाभास अलंकार' से मिश्रित ही है—इसमें कोई संदेह नहीं। कारण, जो जिस व्यक्ति के शत्रु का विरोधी होता है वह उस व्यक्ति का विरोधी नहीं हो सकता, अतः राजा का कोपभाजन व्यक्ति, 'शनि' और 'अशनि (शनि का विरोधी)' जिसके कर्त्ता हैं उस, 'मारना' क्रिया का कर्म नहीं हो सकता। (अर्थात् जिसे 'शनि' मारे उसे 'अशनि' नहीं मार सकता और जिसे 'अशनि' मारे उसे 'शनि' नहीं मार सकता; क्योंकि अपने विरोधी का विरोधी एक प्रकार से अपना मित्र हो जाता है।) अतः पूर्वार्ध में, शनि का और अशनि की क्रिया 'मारना' का 'कर्म होना' दोनों में, स्पष्ट विरोध है। (और उस विरोध का परिहार है राजा की आज्ञा के अप्रतिहत होने द्वारा—अर्थात् उन्हें न चाहते हुए भी राजा के भय के मारे ऐसा करना पड़ता है, अथवा क्रोध की अधिकता द्वारा वे परस्पर विरोध भूलकर ऐसा करते हैं।

इसी तरह उत्तरार्ध में भी जिस आधार (व्यक्ति अथवा वस्तु) में 'उदारता' रहती है उसमें 'अनुदारता नहीं रह सकती और जिसमें 'अनुदारता' रहती है उसमें 'उदारता' नहीं रह सकती; अतः 'दोनों का एक आधार में रहना' इसमें विरोध स्पष्ट है। (और उसका परिहार 'अनुगतदार' अर्थ द्वारा है—यह पहले लिखा जा चुका है)।

(कहने का तात्पर्य यह कि—टीकाकारों ने जो पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों में पूर्वोक्त वस्तु की व्यंग्यता लिखी है वह बन सकती है; पर उन्हें उस वस्तु का 'विरोधाभास' अलंकार से मिश्रित होना भी लिखना चाहिए था। अर्थात् 'काव्यप्रकाश' का उदाहरण शुद्ध 'वस्तुध्वनि' का नहीं, किंतु अलंकार-मिश्रित वस्तु की ध्वनि का उदाहरण है।)

अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनियों के उदाहरण

स्वतःसंभवी व्यंजक

स्वतः-संभवि-वस्तु-मूलक वस्तु-ध्वनि; जैसे—

गुञ्जन्ति मञ्जु परितो गत्वा धावन्ति सम्मुखम् ।
आवर्त्तन्ते विवर्तन्ते सरसीषु मधुव्रताः ।

नायक नायिका से कहता है—भौंरे चारों तरफ मनोहर गुंजन कर रहे हैं; जाकर फिर उसी तरफ दौड़ रहे हैं; तलैयों में आ रहे हैं और लौट जा रहे हैं।

यहाँ 'भौंरों के मनोहर गुंजन' आदि जिन वस्तुओं का वर्णन किया गया है वे कवि-कल्पित नहीं हैं, किंतु स्वतःसंभवी (लोकसिद्ध) हैं। उन वस्तुओं से 'अब कमलों की उत्पत्ति समीपवर्त्तिनी है' यह ध्वनित करने द्वारा 'शरद् ऋतु के आगमन की निकटता'-रूपी वस्तु अभिव्यक्त होती है।

काव्यप्रकाश के उदाहरण पर विचार

काव्यप्रकाश में स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण यों है—

'अलससिरोमणि धुत्ताणमग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ ।'
इअ भणिएण णअंगी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥

एक कन्या का स्वयंवर है। कन्या वर की तरफ देख रही है। कन्या की धाय (उपमाता या नर्स, जो ऐसे प्रसंगों में कन्या के साथ रहा करती थी) कन्या से कहती है—'हे पुत्रि! यह वर आलसियों

का शिरोमणि, धूर्त्तों का प्रधान और धन-समृद्धि से पूर्ण है'। बस, धाय का यह कहना था कि उस नतांगी के नयन खिल उठे।

इस उदाहरण पर काव्यप्रकाशकार कहते हैं—"इस पद्य में '(यह वर) मेरा ही उपभोग्य है' यह वस्तु अभिव्यक्त होती है।" यहाँ पूछना यह है कि यह वस्तु किस वस्तु से अभिव्यक्त होती है? 'आलसियों के शिरोमणि' इत्यादि पति के विशेषणों से तो यह वस्तु अभिव्यक्त होती नहीं। कारण, उन्हें किसी धाय आदि वृद्ध स्त्री ने कहा है; अतः यदि उनसे अभिव्यक्त हो तो व्यंग्य का 'तेरा ही उपभोग्य है' इस रूप में कथन होना चाहिए; क्योंकि जब वे विशेषण कामिनी द्वारा वर्णित होते तब तो 'मेरा ही उपभोग्य है' यह व्यंग्य का आकार होता। सो है नहीं।

आप कहेंगे—'नयनों के खिल उठने' से यह बात ध्वनित होती है। तो यह भी उचित नहीं। कारण 'नयन-कमलों का खिल उठना' हर्ष भाव का अनुभाव है, उससे हर्षभाव का ध्वनित होना सिद्ध होता है, पूर्वोक्त वस्तु का नहीं, क्योंकि अनुभाव का भाव को अभिव्यक्त करना ही उचित है। और जिसे आप व्यंग्य कह रहे हैं वह 'मेरा उपभोग्य है' यह वस्तु तो हर्ष भाव का विभाव है, अतः वह स्वयं भी हर्ष भाव को अभिव्यक्त करता है। क्योंकि विभाव और अनुभाव द्वारा ही भाव अभिव्यक्त होते हैं। यदि कहें कि अनुभावों से भाव अभिव्यक्त होता है, इस कारण भाव के विभाव की भी अभिव्यक्ति उसके द्वारा मान ली जानी चाहिए। सो कह नहीं सकते। कारण, केवल नयनों के खिल उठने में 'मेरा ही उपभोग्य है' इस व्यंग्य को ध्वनित करने का सामर्थ्य नहीं, क्योंकि 'नेत्रों का खिल उठना' तो पुत्र-जन्म और धन-प्राप्ति जिसके विभाव (कारण) हैं उस हर्ष भाव में भी देखा जाता है, अतः व्यभिचरित है—अर्थात् वह इसी बात को ध्वनित करे ऐसा

निश्चित नहीं है। अतः काव्यप्रकाश का इस वस्तु को व्यंग्य कहना उचित नहीं। यह है पूर्वपक्ष।

इसके उत्तर में हम कहते हैं—यह सच है। पर आपकी शंका का समाधान यह है कि—'मेरा उपभोग्य है' इस वस्तु के केवल 'नेत्र खिल उठने' द्वारा ध्वनित न होने पर भी पद्य में वर्णित 'धाय का यह कहना था कि' इस अर्थ के कारण कन्या का 'आलसियों का शिरोमणि' आदि पति के विशेषणों का सुनना पाया जाता है, उस (सुनने) से युक्त 'नेत्रों के खिल उठने' से, पहले 'मेरा उपभोग्य है' यह विभाव अभिव्यक्त होता है और बाद में उस विभाव के द्वारा हर्ष भाव अभिव्यक्त होता है। उनमें से हर्ष-भाव के द्वाररूप विभाव की अभिव्यक्ति को लेकर काव्यप्रकाश के ग्रंथ की संगति हो जाती है। (अर्थात् काव्यप्रकाशकार का अभिप्राय यह है कि धाय के कहे हुए पूर्वोक्त पति के विशेषणों के सुनने के साथ नयन-कमलों के खिल उठने से प्रथमतः कन्या का यह अभिप्राय अभिव्यक्त होता है कि 'यह मेरा उपभोग्य है' और उसके अनंतर हर्ष भाव।)

आप कहेंगे—ऐसा मानने से भाव-ध्वनि संलक्ष्यक्रम हो जायगी; क्योंकि उसके द्वार—विभाव—का क्रम (पूर्वापरीभाव) स्पष्ट दिखाई पड़ता है—हम देखते हैं कि पहले विभाव पृथक् अभिव्यक्त होता है और तदनन्तर हर्षभाव। तो हमें यह स्वीकार है। आप कहेंगे—यह बात सिद्धान्त से विरुद्ध है। हम कहते हैं—नहीं। इस दोष का पहले ही (प्रथमानन के अंत में) उद्धार किया जा चुका है।

स्वतः-संभवि-वस्तु-मूलक अलंकारध्वनि; जैसे

मृद्वीका रसिता, सिता समशिता, स्फीतं निपीतं पयः,
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि, कतिधा रम्भाधरः खण्डितः।

सत्यं ब्रूहि मदीयजीव ! भवता भूयो भवे भ्राम्यता कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः ?

एक भक्त अपने जीव से पूछता है—तैंने (इस लोक में) दाखों का मजा लिया है, मिश्री अच्छी तरह खाई है और दूध तो खूब ही पिया है। स्वर्ग मे जाने पर अमृत भी पिया है और (न-जाने) कितने प्रकार से रंभा (अप्सरा) का अधर खंडित किया है। हे मेरे जीव ! तू सच-सच कह, तैंने, संसार में बार-बार घूमते हुए 'कृष्ण' इन दो अक्षरों में जो मधुरता का उद्गार है उसे भी कहीं देखा है ?—मैं तो समझता हूँ यह तुझे कहीं प्राप्त न हुआ।

अब इसका विवेचन करिए। यहाँ वक्ता ने अपने को दो भागों में विभक्त कर लिया है। उनमें से एक भाग है—देह, इंद्रिय आदि बाह्य पदार्थों से अतिरिक्त शुद्धस्वरूप जीवात्मा, और दूसरा भाग है—देह, इन्द्रिय आदि जड और चेतन का समूह रूप जिसे वेदान्त के हिसाब से 'संघात' कहा जाता है और जो 'मैं' पद द्वारा ज्ञात होता है। उपर्युक्त प्रश्न शुद्धस्वरूप जीवात्मा से 'संघात'-रूप 'मैं' का है और उसमें अनेक जन्मों की अनुभूत वस्तुओं में 'कृष्ण' शब्द की मधुरता के उद्गार का देखना' पूछा गया है। पर उन सब वस्तुओं के प्रत्यक्ष का कारण है एक प्रकार की योग-सिद्धि बिना उसके पूर्वजन्म की बातों को कोई जान नहीं सकता। उस योगसिद्धि के बिना भी भगवन्नाम के उच्चारण करनेवाले से जो यह प्रश्न किया गया है उससे पूर्वोक्त योगसिद्धि-रूपी उपमान का भगवन्नाम के साथ तादूप्य (अभेद) समझना ध्वनित होता है। अर्थात् भगवन्नाम को वक्ता ऐसी योगसिद्धि से अभिन्न मानता है, जिसके द्वारा अनेक जन्मों के वृत्तांत प्रत्यक्ष हो जाते हैं। 'ऐसे तादूप्य समझने' को साहित्य की परिभाषा में अतिशयोक्ति अलं-

कार कहते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'अनेक जन्मों की अनुभूत वस्तुओं में मधुरता के उद्गार का देखना' जो एक स्वतःसंभवी वस्तु है (क्योंकि जीव के अनेक जन्म शास्त्रसिद्ध हैं, कवि-कल्पित नहीं), उसके द्वारा 'भगवन्नाम के साथ पूर्वोक्त योगसिद्धि का तादृप्य समझना' रूपी 'अतिशयोक्ति* (अलंकार)' ध्वनित होती है।

क्या यहाँ अतिशयोक्ति गुणीभूतव्यंग्य है ?

पूर्वपक्ष

यदि आप कहें कि यहाँ प्रश्न का विषय है अनेक जन्मों का वृत्तांत--अर्थात् पूर्वोक्त पद्य में जीव से अनेक जन्मों का वृत्तांत पूछा गया है। ऐसा प्रश्न अनेक जन्मों का वृत्तांत जाननेवाले के प्रति ही उचित है। सो (योगसिद्धि से रहित, अतएव) अनभिज्ञ अपने जीव से यह प्रश्न योग्य न होने के कारण प्रश्न बनता नहीं, अतः आपको पूर्वोक्त अतिशयोक्ति का आक्षेप करना पड़ेगा--अर्थात् यह मानना पड़ेगा कि वक्ता ने भगवन्नाम के साथ वैसी योगसिद्धि का तादृप्य समझकर ही यह प्रश्न किया है--अन्यथा प्रश्न व्यर्थ हो जायगा। ऐसी दशा में यह अतिशयोक्ति अर्थापत्ति द्वारा प्रतीत होने के कारण व्यंग्य

---

* अतिशयोक्ति का लक्षण है "विषयिणा विषयस्य निगरण-मतिशयः। तस्योक्तिः।--अर्थात विषयी द्वारा विषय के निगरण (विषयिवाचक पद से ही विषय का काम निकालने) को अतिशय कहते हैं। उसकी उक्ति अतिशयोक्ति कहलाती है।" तदनुसार यहाँ अतिशयोक्ति का व्यंग्य कहना कहाँ तक उचित है, यह जरा सोचने की बात है। कारण, यहाँ विषयी द्वारा विषय का निगरण नहीं, किंतु विषय द्वारा विषयी का निगरण है। भगवन्नाम विषय है और योग-सिद्धि विषयी; क्योंकि भगवन्नाम प्रकृत है और योगसिद्धि आरोप्यमाण।

--अनुवादक।

नहीं मानी जा सकती। यदि आप कहें कि—हमारे हिसाब से अर्थापत्ति कोई पृथक् प्रमाण नहीं—उसके द्वारा प्रतीत अर्थों को भी हम व्यंग्य ही मानते हैं, तथापि बिना वैसी अतिशयोक्ति के पूर्वोक्त प्रश्न की सिद्धि नहीं होती—प्रश्न बनता नहीं; अतः अतिशयोक्ति को वाच्य-सिद्धि का अंग मानना पड़ेगा, सो वह 'गुणीभूतव्यंग्यरूप' हो जायगी—उसकी प्रधानता न रहेगी। ऐसी स्थिति में यह अतिशयोक्ति व्यंग्य होने पर भी, इस काव्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम काव्य) कहने का कारण नहीं मानी जा सकती। (अर्थात् ऐसी अतिशयोक्ति के कारण यह पद्य प्रथम श्रेणी का नहीं, द्वितीय श्रेणी का हो सकता है; अतः इसे ध्वनि के उदाहरणों में लिखना ठीक नहीं।)

इसी तरह काव्यप्रकाश के उदाहरण

"तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका* ।"

---

* ये पद्य विष्णुपुराण के (५ म अंश, १३वाँ अध्याय के श्लोक २१-२२) हैं। इनका प्रकरणसंगतिपूर्वक अर्थ यह है—भगवान् श्री कृष्ण के रास में सब गोपकन्याएँ सम्मिलित हुईं। पर एक (भागवत में ऐसी कई लिखी हैं) गोपकन्या को पति आदि ने बलात् वहाँ जाने से रोक दिया। उस गोप-कन्या को श्रीकृष्ण के न मिलने से महादुःख हुआ। उस दुःख के कारण उसके सब पातक विलीन हो गए और कृष्ण की चिंता के कारण जो परम आनंद हुआ उसके कारण उसके सब पुण्य-समूहों का क्षय हो गया। सो जगत् के कर्त्ता

में भी अतिशयोक्ति को अर्थापत्ति से प्राप्त अथवा गुणीभूत व्यंग्य मानना उचित है। कारण, जब तक 'भगवान् के न मिलने के कारण उत्पन्न महादुःख' और 'उनके स्मरण से उत्पन्न अत्यंत आनंद' के साथ अनेक जन्मों में भोगे जानेवाले दुःखों और सुखों का तादूप्य न समझा जाय, तब तक उनका संपूर्ण पापों और पुण्यों के समूह का नाशक होना नहीं बन सकता, क्योंकि शास्त्रों में जो दुःख जिन पापों के फल हैं और जो सुख जिन पुण्यों के फल हैं उन्हें ही उन उन पापों और उन उन पुण्यों का नाशक माना जाता है, और ये—अर्थात् कृष्ण के वियोग का दुःख और स्मरण का सुख तो उन उन पाप-पुण्यों के फल हैं नहीं (क्योंकि भगवत्प्राप्ति लौकिक कर्मों का फल नहीं होती; अन्यथा सभी दान-धर्म करनेवाले भगवान् को पा सकें)। अतः 'उन पाप-पुण्यों के फल-रूप सुख दुःखों के साथ इन वियोग-दुःख और स्मरण-सुख का तादूप्य' जो 'अतिशयोक्ति'-रूप है, मानना पड़ेगा। और तभी वे सुख-दुःख उन पुण्य-पापों के नाशक हो सकेंगे। सो जो गड़बड़ आपके उदाहरण में है वही इस उदाहरण में भी है।

यदि आप कहें कि—केवल वस्तु से अभिव्यक्त होनेवाले अलंकार गुणीभूतव्यंग्य नहीं हो सकते; कारण, यह सिद्धांत है कि—

"व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलंकृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥

अर्थात् जब केवल वस्तु द्वारा अलंकार अभिव्यक्त होते हैं तब वे काव्य को निश्चित रूप से ध्वनि (उत्तमोत्तम) बनाते हैं; क्योंकि ऐसे पद्यों में काव्य शब्द का व्यवहार उन्हीं के सहारे होता है—उन काव्यों में ऐसे

परब्रह्म-स्वरूप श्रीकृष्ण का चिंतन करती हुई प्राण रहित हुई और इस कारण उस गोपकन्या ने मुक्ति पाई।

अलंकार ही चमत्कारोत्पादक होते हैं।" तात्पर्य यह कि जिनके सहारे उन पद्यों को काव्य कहा जाता है उनका उन पद्यों में अवश्य ही प्राधान्य होना चाहिए। पर यह ठीक नहीं। कारण, जब हम एक दृढ बाधक उपस्थित कर चुके हैं—अतिशयोक्ति को वाच्य-सिद्धि का अंग बता चुके हैं, तब बिना उसका निराकरण किए, केवल सिद्धांत के बल पर आप इस पद्य का ध्वनि होना सिद्ध नहीं कर सकते। (सारांश यह कि इन पद्यों को 'ध्वनि' का उदाहरण बताकर आपने और काव्य-प्रकाशकार ने—दोनों ने ही—भूल की है।) यह पूर्व पक्ष है।

उत्तर पक्ष

यह आपका कहना सच है। पर महाराज पहले आप यह तो समझ लीजिए कि व्यंग्य किस जगह वाच्य-सिद्धि का अंग हुआ करता है। व्यंग्य वाच्य-सिद्धि का अंग वहीं होता है, जहाँ वैसे व्यंग्य को स्वीकार किए बिना वाच्य सर्वथा सिद्ध न हो सके, किंतु जहाँ वाच्य किसी दूसरी तरह से भी सिद्ध किया जा सके, वहाँ 'व्यंग्य' वाच्य-सिद्धि का अंग नहीं होता। अन्यथा प्रथमानन में उदाहृत "निश्शेषच्युत-चंदनं स्तनतटम्......" इस 'ध्वनि' के उदाहरण में भी 'दूती का रमण' (व्यंग्य) 'नायक की अधमता' (वाच्य) को सिद्ध करता है, इस कारण वहाँ भी व्यंग्य वाच्य-सिद्धि का अंग होकर गुणीभूत हो जायगा, जो किसी को सम्मत नहीं।

अब प्रस्तुत में देखिए। यहाँ भगवन्नाम में 'योग-सिद्धि का तादूप्य समझना' रूपी जो 'अतिशयोक्ति' है उसके बिना भी भगवन्नाम के उच्चारण के प्रभाव द्वारा जीवको सर्वज्ञ समझकर भी ऐसा प्रश्न बन सकता है—अर्थात् वक्ता अपने जीव को भगवन्नाम के उच्चारण के प्रभाव द्वारा सर्वज्ञ समझकर भी ऐसा प्रश्न कर सकता है। यह आवश्यक नहीं कि

भगवन्नाम को योग-सिद्धिरूप समझे तभी प्रश्न करे। अतः ऐसे व्यंग्य को वाच्य-सिद्धि का अंग समझकर गुणीभूत कहना आपकी ही भूल है।

अब यदि यह कहा जाय कि—भगवन्नाम के उच्चारण के माहात्म्य द्वारा प्राप्त सर्वज्ञता समझने पर भी असंबंध में संबंधरूप (क्योंकि भगवन्नाम में यह शक्ति मिथ्या आरोपित की गई है) अतिशयोक्ति तो रहेगी ही; क्योंकि बिना उसके यह प्रश्न नहीं बन सकता। अतः फिर भी पूर्वोक्त दोष ज्यों का त्यों ही बना रहता है। सो भी नहीं। क्योंकि यह दोष भी हमारे उपर्युक्त कथन से निवृत्त हो जाता है। कारण, जहाँ वैसी बात न हो और उसका संबंध मान लिया जाय (जैसे महलों के शिखरों का चंद्रमा से स्पर्श) वहीं पूर्वोक्त अतिशयोक्ति होती है, पर यह तो पुराणों में प्रसिद्ध है कि—भगवन्नाम का माहात्म्य अचिंतनीय है—कोई ऐसा फल नहीं जो उससे प्राप्त न हो सके, अतः उससे सर्वज्ञता भी प्राप्त हो सकती है। सो अतिशयोक्ति को गुणीभूतव्यंग्य मानना उचित नहीं।

अन्य उदाहरण

अथवा (बात तो असली यह है। पर यदि थोड़ी देर के लिये आप ही का कहना मान लें तो) वस्तु से अलंकार की अभिव्यक्ति का न सही पूर्वोक्त उदाहरण; यह तो होगा—

न मनागपि राहुरोषशङ्का न कलङ्कानुगमो न पाण्डुभावः।
उपचीयत एव कापि शोभा परितो भामिनि ! ते मुखस्य नित्यम् ॥

सखी नायिका से कहती है—न इस पर राहु के आक्रमण की किञ्चित् भी शंका है, न कलंक का संबंध है और न सफेदी है। तेरे मुख की अनिर्वचनीय शोभा सब तरफ से निरंतर बढ़ती ही जा रही है।

यहाँ 'राहु के आक्रमण की शंका न होना' आदि निरपेक्ष वस्तुएँ हैं—अर्थात् जिन्हें सिद्ध करने के लिए 'व्यतिरेक' की कुछ भी अपेक्षा नहीं; उनके द्वारा व्यतिरेकालंकार (मुख की चंद्रमा से अधिकता) ध्वनित होता है।

स्वतःसंभवि-अलंकार-मूलक वस्तुध्वनि; जैसे—

नदन्ति मददन्तिनः, परिलसन्ति वाजिव्रजाः,
पठन्ति विरुदावलीमहितमन्दिरे बन्दिनः।
इदं तदवधि प्रभो! यदवधि प्रबुद्धा न ते
युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणद्युतिः॥

कवि राजा से कहता है—हे प्रभो! आपके शत्रुओं के घर में मत्त हाथी चिंघाड़ते हैं, घोड़ों की कतारें शोभित होती हैं और बंदीजन विरुदावली पढ़ते हैं। पर यह तब तक है, जब तक, प्रलय-काल की अग्नि के समान, आपके नेत्रकोण की अरुण कान्ति नहीं बढ़ी है।

यहाँ 'प्रलय-काल के अग्नि' की उपमा (जो कि अलंकार है) से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि 'ज्योंही आपके कोप का उदय होगा त्योंही शत्रुओं की संपदाएँ बिलकुल भस्म हो जायँगी।' यद्यपि यह वस्तु राजा के विषय में कवि के रति-भाव का अंग हो गई है, अतः प्रधान नहीं रही; तथापि वाच्य की अपेक्षा सुन्दर होने के कारण इस काव्य को 'ध्वनि' कहे जाने का हेतु हो गई है—अर्थात् इस व्यंग्य के कारण इस पद्य को प्रथम श्रेणी में गिना जा सकता है।

आप कहेंगे—आपने जिस 'भस्म करने की समर्थता' को उपमा का व्यंग्य बताया है, वह यहाँ, 'उपमान और उपमेय का साधारण धर्म' भी होने के कारण उपमा को सिद्ध करती है। अतः वाच्य (उपमा)

की सिद्धि का अंग—अर्थात् गुणीभूत हो गई है। तो यह ठीक नहीं। कारण, (अग्नि की) उपमा तो श्लोक में वर्णित 'अरुणता'-रूपी साधारण धर्म द्वारा भी सिद्ध हो सकती है; क्योंकि वह धर्म 'प्रलयानल' और 'कुपित नेत्र की कान्ति' दोनों में रहता है। अतः यह व्यंग्य वाच्य-सिद्धि का अंग नहीं हो सकता।

यदि आप कहें कि—'अरुणता' को ही समान धर्म मानना और 'भस्म करने की निपुणता' को समान धर्म न मानना, इसमें कोई प्रमाण तो है नहीं; फिर क्यों हम 'अरुणता' को ही समान धर्म मानें? तो इसका वास्तविक समाधान यह है कि यहाँ यद्यपि उपमेय—'नेत्र की अरुण कांति' में रहनेवाला 'भस्म करने की समर्थता'-रूपी समान धर्म उपमा को सिद्ध कर सकता है, तथापि उपमेय से व्यंग्य 'कोप' में रहनेवाली 'भस्म करने की निपुणता' तो उपमा को सिद्ध करनेवाली हो नहीं सकती; क्योंकि यहाँ कोप की और प्रलयानल की उपमा का वर्णन थोड़े ही है, है तो 'कांति' की और 'प्रलयानल' की उपमा का वर्णन; और व्यंग्य है कोप के अंदर रहनेवाली 'भस्म करने की समर्थता'। अतः वैसी 'भस्म करने की समर्थता' उपमान और उपमेय का समान धर्म न होने के कारण वाच्य-सिद्धि का अंग नहीं हो सकती।

अथवा जैसे—

निर्भिद्य क्ष्मारुहाणामतिघनमुदरं येषु गोत्रां गतेषु
द्राघिष्ठस्वर्नदण्डभ्रमभृतमनसो हन्त! धित्सन्ति पादान्।
यैः संभिन्ने दलाग्रप्रचलहिमकणे दाडिमीबीजबुद्ध्या
चञ्चूचाञ्चल्यमञ्चन्ति च शुकशिशवस्तेंशवः पान्तु भानोः॥

सूर्य की किरणों की स्तुति है—वृक्षों के अत्यंत घने मध्य भाग को भेदन करके जिनके पृथ्वी पर पहुँचने पर, तोतों के बच्चे बड़े लंबे सुवर्ण

के दंडों के भ्रम से मन के परिपूर्ण हो जाने के कारण—अर्थात् मन में इस भ्रम के दृढ हो जाने के कारण कि ये सोने के डंडे ही हैं—पैर रखने लगते हैं; और (वे ही) जिन किरणों से मिश्रित पत्तों की नोकों पर स्थित चंचल ओस की बूँदों को अनार के दाने समझकर चोंचें चंचल करने लगते हैं—उन्हें खाने की इच्छा प्रकट करते हैं—वे सूर्य की किरणें (हमारी) रक्षा करें।

यहाँ 'भ्रांतिमान्' अलंकार से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि "सूर्य भगवान् पशु-पक्षियों के भी इस तरह आनंद उत्पन्न करनेवाले हैं; अतः (न केवल मनुय्यों के ही किंतु) सब जगत् के आनंदोत्पादक हैं।" ऐसी भ्रांति लोक में भी हो सकती है—केवल कविकल्पित नहीं है; अतः इस भ्रांति को स्वतःसंभवी कहा गया है।

स्वतःसंभवि-अलंकार-मूलक अलंकारध्वनि; जैसे—

उदितं मण्डलमिन्दो रुदितं सद्यो वियोगिवर्गेण।
मुदितं च सकलललनाचूडामणिशासनेन मदनेन॥

चंद्रोदय का वर्णन है—इधर चंद्र-मंडल का उदय हुआ और उधर वियोगि-वर्ग तत्काल रो उठा, एवं जिसकी आज्ञा समग्र सुंदरियों को शिरोधार्य है वह कामदेव प्रसन्न हो उठा।

यहाँ तीनों क्रियाओं (उदय, रोदन और प्रसन्नता) का एक साथ होना, जो 'समुच्चयालंकार' है, उसके द्वारा कारण (चंद्रोदय) के प्रथम होने और कार्य (वियोगियों के रोदन और कामदेव की प्रसन्नता) के पीछे होने का विपर्यय हो जाने—अर्थात् कार्य-कारण दोनों के एक साथ हो जाने के रूप में अतिशयोक्ति अलंकार अभिव्यक्त होता है।

इन सब उदाहरणों में व्यंजक स्वतःसंभवी है।

कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध व्यंजक

कविप्रौढ़ोक्ति-सिद्ध-वस्तु-मूलक वस्तुध्वनि; जैसे—

तदवधि कुशली पुराणशास्त्रस्मृतिशतचारुविचारजो विवेकः।
यदवधि न पदं दधाति चित्ते हरिणकिशोरदृशो दृशोर्विलासः॥

कवि कहता है—सैकड़ों पुराणों, शास्त्रों और स्मृतियों के सुंदर विचारों से उत्पन्न विवेक तभी तक आनंद में रह सकता है, जब तक कि मृगशावक-नयनी के नयनों का विलास चित्त में पैर नहीं रखता।

इस पद्य में इस वस्तु का वर्णन है कि 'कामिनी के नयन-विलास के हृदय में पैर रखते ही विवेक का कुशल नहीं—उसका वहाँ टिकना कठिन है।' यहाँ जो 'नयन-विलास का पैर रखना' कहा गया है, वह लोक-सिद्ध नहीं है—संसार में आज-दिन तक नेत्रविलास को पैर रखते कभी किसी ने नहीं देखा। वह कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध—अर्थात् कवि-कल्पित—है। उस 'पैर रखने'-रूप वस्तु से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि '(जब पैर रखते ही यह दशा है तो) पैर के अच्छी तरह जम जाने पर तो बेचारे विवेक के कुशल की चर्चा ही क्या है!'

यहाँ इतना और समझ लीजिए—

कस्मै हन्त फलाय सज्जन! गुणग्रामार्जने सज्जसि
स्वात्मोपस्करणाय चेन्मम वचः पथ्यं समाकर्णय।
ये भावा हृदयं हरन्ति नितरां शोभाभरैः संभृता-
स्तैरेवास्य कलेः कलेवरपुषो दैनन्दिनं वर्त्तनम्॥

कवि कहता है—हे सज्जन, (हम तुमसे पूछते हैं—) तुम किस फल की प्राप्ति के लिये गुण-गण के उपार्जन में प्रयत्नशील हो रहे हो—हम देखते हैं कि तुम्हें सिवाय इस काम के कुछ सूझता ही नहीं। तुम कहोगे—'अपने अंतःकरण को विभूषित करने के लिए—उसे उत्कृष्ट और सुशोभित बनाने के लिये।' यदि ऐसा ही हो तो मैं आपसे एक 'राह की बात' कहता हूँ; सुनिए। वह यह है कि जो पदार्थ अत्यंत शोभा-समूह से परिपूर्ण होने के कारण हृदय को लुभा लेनेवाले होते हैं—जिन वस्तुओं को देखकर मनुष्य मुग्ध हो जाया करते हैं; उन्हीं से शरीर पोषक—इस पेटभरे—कलियुग का प्रतिदिन का आहार होता है—उन्हें खा-खाकर ही तो यह दुष्ट कलि जीता है।

इस पद्य में यद्यपि 'सुंदर पदार्थ कलियुग के प्रतिदिन के खाद्य हैं' इस कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध वस्तु से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि 'यदि मरना चाहते हो तो गुण प्राप्त करने का यत्न करो'; तथापि यह व्यंग्य 'पर्यायोक्त' अलंकार के रूप में आया है और अतएव वाच्य की अपेक्षा सुंदर न होने के कारण गुणीभूत—अप्रधान—ही है। कारण, अलंकारों में वाच्य अर्थ की सुंदरता प्रधान होती है, अतः प्रतीत होनेवाले अपने अंतर्गत व्यंग्य को अलंकार अपना पिछलगुआ बना देते हैं। सो **जहाँ अलंकारों का चमत्कार हो वहाँ वस्तु से वस्तु की ध्वनि समझना भ्रम है।**

कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध-अलंकारमूलक वस्तुध्वनि; जैसे—

देवाः के पूर्वदेवाः समिति मम नरः सन्ति के वा पुरस्ता-
देवं जल्पन्ति तावत्प्रतिभटपृतनावर्त्तिनः क्षत्रवीराः।
यावन्नायाति राजन्! नयनविषयतामन्तकत्रासिमूर्ते!
मुग्धारिप्राणदुग्धाशनमसृणरुचिस्त्वत्कृपाणो भुजङ्गः।

कवि कहता है—हे राजन्! आपके शत्रु की सेना में रहनेवाले क्षत्रिय-वीर 'युद्ध में मेरे सामने देवता और दैत्य कौन होते हैं और बेचारे मनुष्य तो हैं ही क्या!' यों तब तक कहा करते हैं, जब तक कि, हे काल को भी भयभीत कर देनेवाली आकृति वाले! आपका, भोले शत्रुओं के प्राणरूपी दुग्ध के पान करने से चिकनी चमकवाला अथवा वैसे दुग्धपान में अधिक इच्छावाला, खड्गरूपी भुजंग उनकी आँखों के सामने नहीं आता।

यहाँ कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध रूपकालंकार से 'जब आप तलवार उठा लें तब शत्रुओं के जीने की क्या आशा है!' यह वस्तु अभिव्यक्त होती है।

कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध-वस्तुमूलक अलंकारध्वनि; जैसे—

साहङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्दर-
क्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गुवीचिवलयश्रीगर्वसर्वङ्कषाः।
तृष्णाताम्यदमन्दतापसकुलैः सानन्दमालोकिता
भूभीभूषण! भूषयन्ति भुवनाभोगं भवत्कीर्त्तयः।

कवि कहता है—हे भूमिभूषण! अहंकार-युक्त देवताओं और दैत्यों की पंक्ति के हाथों द्वारा खींचे हुए अतएव घूमते हुए मंदराचल से क्षुब्ध किए जा रहे क्षीर-समुद्र के सुंदर लहरी-समूह की शोभा के गर्व को सर्वांश में नष्ट कर देनेवाली—अर्थात् उससे भी सुंदर; और तृषा से घबराए हुए अनेक तपस्वि-समूहों द्वारा (तृषा-निवृत्ति का साधन समझकर) हर्ष-सहित अवलोकन की हुई आपकी कीर्त्तियाँ सारे जगत् को सुशोभित कर रही हैं।

इस पद्य में 'कीर्त्ति के हर्ष-सहित अवलोकन करने'-रूपी कवि-कल्पित वस्तु से तपस्वियों में रहनेवाली 'दुग्ध* की भ्रांति' (जो कि अलंकार है) अभिव्यक्त होती है।

आप कहेंगे—जिस 'हर्ष-सहित अवलोकन करने' द्वारा आप 'भ्रांति' को व्यंग्य बता रहे हैं, वह 'हर्ष-सहित अवलोकन करना' ही तो नेत्रजन्य भ्रांति है। सो 'हर्ष-सहित अवलोकन' और 'भ्रांति' दोनों के एक होने के कारण व्यंग्य और व्यंजक दोनों का पृथक् होना और 'भ्रांति' का व्यंग्य होना (क्योंकि अवलोकन पद्य में वर्णित है अतः वाच्य है) दोनों बातें नहीं बन सकतीं। इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि 'हर्ष-सहित अवलोकन' और 'नेत्रों का भ्रम' एक ही वस्तु है; तथापि वह भ्रम 'हर्ष-सहित अवलोकन' के रूप में व्यंग्य है, अतः व्यंजक और व्यंग्य पृथक् हो सकते हैं और 'हर्ष-सहित अवलोकन' के रूप में भ्रांति के वाच्य होने पर भी 'कीर्त्ति को दूध समझने' के रूप में वाच्य न होने के कारण व्यंग्य भी हो सकती है। (अर्थात् यद्यपि 'कीर्त्ति को तृषा-निवृत्ति का साधन समझकर सहर्ष देखना' और 'कीर्त्ति को दूध समझना' दोनों एक ही वस्तु है, अतः भ्रांति वाच्य हो जानी चाहिए, तथापि श्लोक में भ्रांति का 'दूध समझने' के रूप में वर्णन नहीं है, किन्तु रूपान्तर से है, अतः 'दूध समझना'-रूपी भ्रम व्यंग्य हो सकता है—उसे वाच्य नहीं कहा जा सकता।) अतएव तो काव्य-प्रकाशकार कहते हैं कि—

---

*—यद्यपि 'तृषित के हर्ष-सहित देखने' से दूध की नहीं, किन्तु 'जल की भ्रांति' अभिव्यक्त होनी चाहिए; क्योंकि तृषा की निवृत्ति का साधन जल है, दूध नहीं। तथापि क्षीर-समुद्र में जल के स्थान पर दूध ही होने से दूध की भ्रांति मानी गई है। —अनुवादक।

"यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम्, यथा तु व्यङ्ग्यं न तथोच्यते।

अर्थात् जिस बात को कह रहे हैं—जो वाच्य है—वही व्यंग्य है—वस्तुतः दोनों एक हैं, तथापि जिस रूप में वह व्यंग्य है उस रूप में वाच्य नहीं है।" (तात्पर्य यह कि कहने का तरीका बदल जाने पर वही बात दूसरी हो जाती है; अतः इस भ्रांति को व्यंग्य कहने में कोई बाधा नहीं।)

कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध-अलंकारमूलक अलंकारध्वनि; जैसे—

दयिते रदनत्विषां मिषादयि ! तेऽमी विलसन्ति केसराः ॥
अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः ॥

नायक नायिका से कहता है—हे प्रिये ! तुम्हारी दंतकांति के मिष से ये केसर सुशोभित हो रहे हैं और अलकों का वेष धारण किए हुए ये मकरंद के लोभी भौंरे हैं।

यहाँ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में जो दो अपह्नुतियाँ (अलंकार) हैं, उनसे 'तू स्त्री नहीं है किंतु कमलिनी है' यह तीसरी अपह्नुति अभिव्यक्त होती है।

इन सब उदाहरणों में व्यंजक कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध हैं—उन्हें कवि ने तयार किया है, लोक-सिद्ध नहीं हैं।

उभयशक्तिमूलक ध्वनि; जैसे

यद्यपि शब्द-शक्ति-मूलकता और अर्थ-शक्ति-मूलकता ये दोनों सभी व्यंग्यों में साधारण रूप से रहती हैं; क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों के अनुसंधान बिना किसी व्यंग्य का उल्लास नहीं होता—अर्थात् सभी व्यंग्यों में शब्द और अर्थ दोनों का अनुसंधान अत्यावश्यक है, किसी

एकमात्र का नहीं, तथापि जहाँ ऐसे शब्दों की अधिकता हो जिन्हें बदला न जा सके, प्रधानता के प्रयोजक शब्द होते हैं—और अर्थशक्ति यद्यपि रहती है तथापि उसके अप्रधान होने के कारण ऐसे व्यंग्य को शब्द-शक्ति-मूलक ही कहा जाता है। पर जहाँ ऐसे शब्द अधिक मात्रा में हों कि जिन्हें बदला जा सके, वहाँ अर्थशक्ति की प्रधानता रहती है ऐसी जगह यद्यपि शब्द-शक्ति रहती है तथापि वह प्रधान (अर्थशक्ति) की अनुकूलता के लिये होती है—वह उसी की सहायता करती हैं; अतः ऐसी जगह प्रधान के अनुसार उस व्यंग्य को अर्थ-शक्तिमूलक कहा जाता है। जैसे कि किसी गाँव में यदि मल्ल (पहलवान) अधिक रहते हों तो उसे मल्लों का गाँव कहा जाता है; पर इसका अर्थ यह नहीं कि वहाँ अन्य कोई रहता ही नहीं। केवल मल्लों की प्रधानता होने के कारण उस गाँव को मल्लग्राम कहा जाता है। बस, वही बात यहाँ भी समझ लीजिये। (तात्पर्य यह कि—न बदले जा सकनेवाले शब्द अधिक हों तो शब्द-शक्ति-मूलक व्यंग्य कहलाता है और बदले जा सकनेवाले अधिक हों तो अर्थशक्ति-मूलक व्यंग्य।)

परंतु जिस काव्य में बदले जा सकनेवाले और न बदले जा सकनेवाले दोनों प्रकार के शब्दों में से किसी एक जाति के शब्दों की प्रचुरता न हो, किन्तु दोनों जाति के शब्दों की समानता ही हो तो ऐसे व्यंग्य का मूल शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियाँ होती हैं, अतः ऐसे व्यंग्य को उभय-शक्तिमूलक माना जाता है। ऐसे व्यंग्य को केवल शब्द-शक्तिमूलक अथवा केवल अर्थ-शक्ति-मूलक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ऐसा कहने में कोई प्रमाण नहीं।

आप कहेंगे—जाने दीजिये, यदि दोनों में से किसी एक के नाम से इसे नहीं कहा जा सकता तो न सही; इसे शब्द-शक्ति-मूलक और अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्यों का संकर (मिश्रण) कह दीजिए। सो भी

उचित नहीं। कारण जहाँ दोनों शक्तियों से पृथक्-पृथक् व्यंग्य अभिव्यक्त होते हो वहीं संकर माना जाता है; 'यहाँ तो एक ही व्यंग्य है, अतः उनके संकर की अभिव्यक्ति नहीं कही जा सकती।

उदाहरण लीजिए—

रम्यहासा रसोल्लासा रसिकालिनिषेविता
सर्वाङ्गशोभासंभारा पद्मिनी कस्य न प्रिया ॥

जिसका 'हास' (हँसी; अन्यत्र—विकास) रमणीय है, जिसमें 'रस' (शृंगार; अन्यत्र—मकरंद) उमड़ रहा है, जो 'रसिकालि' (रसिकों की पंक्ति; अन्यत्र—रसिक भौंरों) से सेवन की गई है और जिसके सब अंग शोभा से भरे पड़े हैं, वह 'पद्मिनी' (नायिका; अन्यत्र—कमलिनी) किसे प्रिय नहीं—कौन उसे प्यार नहीं करता ?

इस पद्य में हास, रस, अलि और पद्मिनो शब्द नहीं बदले जा सकते, शेष बदले जा सकते हैं। पर बदले जानेवाले और न बदले जानेवाले दोनों प्रकार के शब्द व्यंजक हैं। अतः यह उभय-शक्ति-मूलक ध्वनि है।

उभय-शक्ति-मूलक ध्वनि समास में भी हो सकती है

उभय-शक्ति-मूलक ध्वनि केवल वाक्य में होती है। और वाक्य है पद-समूह का नाम; अतः यदि यह ध्वनि अनेकार्थक और एकार्थक दोनों प्रकार के पदों से बने हुए समास में रहे तो भी कोई विरोध नहीं। पर यह ध्वनि केवल एक पद में नहीं होती; कारण, एक पद अनेकार्थक और एकार्थक—दोनों प्रकार का—नहीं हो सकता।

मत-भेद

उभय-शक्ति-मूलक व्यंग्य के विषय में यह भी कहा जाता है कि—किसी भी व्यंग्य को अर्थ-शक्ति-मूलक कहने के लिये इस बात की अपेक्षा

है कि वह अनेक अर्थों को प्रकाशित करनेवाली किसी प्रकार की भी शब्द-शक्ति द्वारा आविर्भूत न होना चाहिए—अर्थात् किसी व्यंग्य के आविर्भाव में यदि एक भी अनेकार्थक शब्द की उपस्थिति हो तो उस व्यंग्य को अर्थ-शक्ति-मूलक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्य के लिये बहुत आवकाश है—एकार्थक शब्द ही तो संसार में अधिक हैं। पर शब्द-शक्ति-मूलक कहने के लिये तो किसी भी प्रकार की अर्थशक्ति द्वारा आविर्भूत न होना अपेक्षित नहीं। कारण, ऐसे स्थल दुर्लभ हैं—केवल अनेकार्थक शब्दों से ही बने हुए पद्य अधिक मात्रा में नहीं होते। इस कारण इस (उभय-शक्तिमूलक) ध्वनि को भी शब्द-शक्ति-मूलक ही कहा जा सकता* है।

उपसंहार

इस तरह अविधा-मूलक, तीनों प्रकार के व्यंग्यों (शब्द-शक्ति-मूलक, अर्थ-शक्ति-मूलक और उभय-शक्ति-मूलक) का संक्षेप से निरूपण किया गया है और आगे भी यथावसर निरूपण किया जायगा।

लक्षणामूलक ध्वनियाँ

भेद

अच्छा, अब लक्षणामूलक ध्वनि का निरूपण सुनिए। लक्षणा, जिसका लक्षण आगे कहा जायगा, दो प्रकार की है एक निरूढा दूसरी प्रयो-

---

* इस मत के मानने में अरुचि यही है कि जब पृथक्-पृथक् भेद हो सकते हैं तो उनको एक ही क्यों मान लिया जाय? यदि किसी भेद में थोड़े पद्य मिलते हैं तो केवल इसी कारण उसे पृथक् न मानना युक्तिसंगत नहीं।

जनवती । सो निरूढलक्षणा में तो कोई व्यंग्य होता नहीं, क्योंकि लक्षणा में प्रयोजन ही व्यंग्य होता है और वह निरूढ लक्षणा में रहता नहीं। रही प्रयोजनवती; सो उसके छः भेद हैं। उनमें से गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना ये चार भेद तो अलंकार-रूप में परिणत हो जाते हैं (अर्थात् प्रथम भेद रूपक रूप में, द्वितीय भेद अतिशयोक्ति के रूप में और तृतीय-चतुर्थ भेद हेतु-अलंकार के रूप में।) अब केवल दो* भेद रह जाते हैं—जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था; जो कि ध्वनि के आश्रय हैं—अर्थात् जिनके सहारे व्यंग्य का आविर्भाव होता है। उन्हीं दो भेदों के कारण लक्षणामूलक ध्वनि के दो भेद होते हैं—एक जहत्स्वार्था-मूलक और दूसरा अजहत्स्वार्था-मूलक। उनमें से—

जहत्स्वार्था-मूलक ध्वनि; जैसे—

कृतं त्वयोन्नतं कृत्यमर्जितं चाऽमलं यशः।
यावज्जीवं सखे! तुभ्यं दास्यामो विपुलाशिषः॥

हे मित्र! तैने बड़े ऊँचे दरजे का काम किया है और निर्मल यश कमाया है। हम लोग जब तक जीवित रहेंगे तब तक खूब आशीर्वाद देंगे।

यह अपकार करनेवाले के प्रति किसी पुरुष की उक्ति है। इसका व्यंग्य यह है कि तेरे द्वारा अत्यंत खेद-जनक अपकार किए जाने पर भी जो मधुर भाषण कर रहा है—कठोर नहीं बोलना चाहता; ऐसे मेरे ऊपर पापाचरण करनेवाले तेरी पापिष्ठता कैसे कही जा सकती है—उसे

---

*इन दो भेदों को 'काव्यप्रकाश' आदि में क्रमशः लक्षणलक्षणा और उपादानलक्षणा के नाम से भी लिखा है।

वर्णन करने के लिये कोई शब्द नहीं। अर्थात् संसार में तुझसे नीच कदाचित् ही कोई हो।

अजहत्स्वार्था-मूलक ध्वनि; जैसे—

बधान द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरं
किरीटे बालेन्दुं नियमय पुनः पन्नग-गणैः।
न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणधिया
जगन्नाथस्याऽयं सुरधुनि! समुद्धारसमयः॥

पंडितराज जगन्नाथ गंगा की स्तुति कर रहे हैं। कहते हैं—आप दृढता के कारण सुंदर—अर्थात् अत्यंत दृढ—परिकर शीघ्र बाँध लीजिए—कमर कस लीजिए; और किरीट पर जो बालचंद्रमा है उसे सर्प-समूहों से और भी स्थिर बना लीजिए—ऐसा न हो कि कहीं ढीला-ढाला रह जाय और छटक पड़े। आप दूसरे मनुष्यों के समान समझ कर खेल न करिए; हे* देवनदी! यह जगन्नाथ के उद्धार का समय है।

यहाँ 'जगन्नाथ' इस पद के द्वारा 'जगन्नाथ' शब्द का वाच्य अर्थ ही 'अनेक पापों से युक्त होने' के रूप में लक्षित होता है—अर्थात् इस पद का वाच्य अर्थ है (केवल) 'जगन्नाथ (मनुष्य)' और लक्ष्य अर्थ है 'अनेक पापों से युक्त जगन्नाथ (मनुष्य)'। 'पापों का अन्य किसी पद से वर्णन न किया जा सकना—अर्थात् जगन्नाथ के ऐसे पाप हैं कि जिनके वर्णन करने के लिये शब्द नहीं मिलते' यह व्यंग्य है।

---

* इस संबोधन से यह सूचित होता है कि—अब तक आपका देवताओं से ही संबंध रहा है, मेरे जैसे किसी परम पापी से नहीं।

अजहत्स्वार्था के प्रसिद्ध उदाहरण 'कुन्ताः प्रविशन्ति—भाले घुस रहे हैं' में और इस उदाहरण में यह भेद है कि—वहाँ वाच्य अर्थ (भाले आदि) में रहनेवाला धर्म 'तीक्ष्णता आदिक', लक्ष्य (भाला धारण करनेवालों) में, व्यंग्यरूप से प्रतीत होता है; पर यहाँ व्यंग्य (पापों की अनिर्वचनीयता) वाच्य अर्थ में रहनेवाला धर्म नहीं है।

पदध्वनि और वाक्यध्वनि की पहचान

सो इस तरह ये पूर्वोक्त सभी व्यंग्य यदि किसी एक वाक्य में एक ही पद के अंदर हों तो 'पदध्वनि' कहलाते हैं और अनेक पदों के अंदर हों तो 'वाक्यध्वनि'। (पर इतना याद रखिए कि उभय-शक्ति मूलक व्यंग्य 'पदध्वनि' के रूप में नहीं आता; क्योंकि वह व्यंग्य केवल वाक्य में ही होता है।)



अभिधा अथवा शक्ति

(शब्द-शक्ति-मूलक व्यंग्य पहले निरूपण किए जा चुके हैं। 'शक्ति' और 'अभिधा' पर्यायवाची शब्द हैं—दोनों का अर्थ एक है।) अब प्रश्न यह होता है कि—जिसे मूल मानकर आपने सबसे पहले ध्वनियों का यह प्रपंच निरूपण किया है, वह 'शक्ति' अथवा 'अभिधा' है क्या चीज ? सुनिए—

लक्षण

अर्थ का शब्द के साथ अथवा शब्द का अर्थ के साथ (किसी तरह कह दीजिए) जो एक प्रकार का संबंध रहता है, और जिसे 'शक्ति' नाम से पुकारा जाता है, वही 'अभिधा' है। (अर्थात् शब्द और अर्थ के पारस्परिक संबंध को, जिसके कारण शब्द अर्थ का प्रतिपादन करता है, 'शक्ति' अथवा 'अभिधा' कहा जाता है)

अभिधा क्या है ?

वैयाकरण, मीमांसक आदि कहते हैं कि—"अभिधा एक स्वतंत्र पदार्थ है, उसका अन्य किसी पदार्थ में समावेश नहीं हो सकता।"

नैयायिक कहते हैं—"इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिए" इस रूप में जो ईश्वर की इच्छा है, उसी का नाम अभिधा है। अर्थात् अभिधा का इच्छा-नामक गुण में समावेश हो जाता है।" पर नैयायिकों के मत में एक दोष आता है। ईश्वरेच्छा विषयता-संबंध से सर्वत्र रहती है—अर्थात् संसार का कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो ईश्वरेच्छा का विषय न हो, और इच्छा है एक पदार्थ; अतः जो इच्छा घट के विषय में होगी वही पट के विषय में भी होगी। सो पट (वस्त्र) आदि पदार्थ भी घट आदि पदों के वाच्य हो जायँगे। इस दोष के मिटाने

के लिये उनके हिसाब से यह मानना चाहिए कि—"विशेष-विशेष व्यक्तियों को उपाधिरूप मानकर ही घट-आदि पदों की 'अभिधा' होती है—अर्थात् घट पदार्थ से उपहित ईश्वर की इच्छा घट पद की शक्ति है और पट पदार्थ से उपहित पट पद की—इत्यादि"।

पर अन्य विद्वानों का कथन है कि—ऐसा मानने पर भी जिस तरह ईश्वर की इच्छा को अभिधा माना जाता है, उसी तरह ईश्वर के ज्ञान और यत्न को भी अभिधा कहा जा सकता है: क्योंकि जो-जो पदार्थ ईश्वर की इच्छा के विषय हैं, वे ईश्वर के ज्ञान और यत्न के भी विषय हैं। फिर इसमें क्या प्रमाण है कि—इच्छा को अभिधा माना जाय किन्तु ज्ञान और यत्न को नहीं; अतः पहला मत—अर्थात् अभिधा को पृथक् पदार्थ मानना—ही श्रेष्ठ है।

अप्पयदीक्षित के मत का खंडन

अप्पयदीक्षित ने 'वृत्तिवार्तिक' में लिखा है—"**शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा**—अर्थात् शक्ति के कारण (शब्द में) जो प्रतिपादकता रहती है उसका नाम 'अभिधा' है।" सो कुछ नहीं है; क्योंकि इसका उपपादन नहीं हो सकता। देखिए—

इस विषय में सबसे पहले आप यह समझिए कि अभिधा चीज क्या है। यहाँ अभिधा उस वस्तु का नाम है, जो शब्द में रहनेवाला व्यापार * है और जिसका ज्ञान शब्द से उत्पन्न होनेवाले बोध का कारण-रूप है—अर्थात् शब्द के उस व्यापार का नाम 'अभिधा' है

---

* किसी वस्तु से उत्पन्न होनेवाली वह वस्तु 'व्यापार' कहलाती है, जो उस वस्तु से उत्पन्न होनेवाली वस्तु को उत्पन्न करे। विशेष विवरण के लिए 'पारिभाषिक शब्दों के अर्थ' (परिशिष्ट) में देखिए।

जिसका ज्ञान होने पर ही किसी शब्द द्वारा किसी पदार्थ का ज्ञान होता है। और वही यहाँ लक्षण बनाने के लिये प्रस्तुत है—अर्थात् उसी का हमें लक्षण बनाना है।

अब सोचिए कि—अप्पयदीक्षित के लक्षण के अनुसार 'प्रतिपादकता' अभिधा हुई ? 'प्रतिपादकता' के दो अर्थ हो सकते हैं—एक प्रतिपादक (शब्द) में रहनेवाला विशेष धर्म (प्रतिपादकत्व=प्रतिपादक होना) और दूसरा 'प्रतिपादन करना' जो एक प्रकार की क्रिया है। यदि आप पहला पक्ष मानें तो प्रतिपादक का अर्थ होता है प्रतिपत्ति (अर्थात् शब्दार्थ बोध) का कारण; और उसमें जो प्रतिपत्ति की कारणता रूपी विशेष धर्म रहता है, वह हुई प्रतिपादकता। अर्थात् इस पक्ष में 'प्रतिपादकता' शब्दार्थ-बोध का कारण नहीं होती, किंतु शब्द में रहनेवाला 'कारणता' रूपी धर्म होता है। सो ऐसी प्रतिपादकता का ज्ञान तो प्रतिपत्ति (शब्दार्थ-बोध) का कारण है नहीं, क्योंकि 'शब्द शब्दार्थबोध का कारण है' इतना मात्र समझलेने से किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। फिर आप प्रतिपादकता को अभिधा कैसे कहते हैं ?

यदि आप दूसरा पक्ष—अर्थात् 'प्रतिपादकता' शब्द का 'शब्दार्थ-बोध के अनुकूल क्रिया'-रूप अर्थ—मानें, तो उसका शब्दार्थ-बोध में उपयोग स्वयं ज्ञात होने पर हो सकता है—अर्थात् उसका ज्ञान शब्दार्थ-ज्ञान का कारण होता है; अतः बात बन सकती है। पर ऐसा मानने पर भी, लक्षण में, आप "शक्ति के कारण" इन शब्दों द्वारा जिस एक प्रकार की शक्ति को शब्दार्थबोध का हेतु कहना चाहते हैं वही तो अभिधा हुई। अतः आपके लक्षण का अर्थ यह होता है कि 'अभिधा के कारण प्रतिपादन करने का नाम अभिधा है' सो इस लक्षण में साफ-साफ दो दोष आ जाते हैं—एक असंगति, दूसरा आत्माश्रय। उनमें से आत्माश्रय तो दीख ही रहा है; क्योंकि जब पहले अभिधा-

शब्द का अर्थ समझ में आवे तब तो आपका 'अभिधा' का लक्षण समझा जा सके। रही असंगति, सो वह भी स्पष्ट है। कारण, यहाँ 'शक्ति' शब्द का अर्थ अन्य कोई हो नहीं सकता; क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति का ऐसा होना प्रमाण-सिद्ध नहीं कि जो शब्द से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान का निमित्त हो। अतः यह लक्षण बराबर * नहीं है।

* नागेश कहते हैं—'धान्येन धनवान्' की तरह यहाँ तृतीया का अर्थ अभेद मानने से काम चल सकता है, अतः यह खण्डन कुछ नहीं। पर यह बात हमें नहीं जँचती। कारण, धान्य विशेष पदार्थ है और धन सामान्य। अतः सामान्य विशेष का अभिन्न होने पर भी पृथक् निरूपण बन सकता है; पर 'शक्ति' और अभिधा' दोनों पर्याय हैं, अतः उनका पृथक् निरूपण असंगत ही है। —अनुवादक

इस पर पूर्व संस्करण में सपादक जी ने टिप्पणी दी है कि—'शक्तिस्वरूप शब्दनिष्ठ बोधहेतु व्यापार अभिधा है' नागेश का यह कथन ठीक ही है। घट नील घट है यह व्यवहार नवानसम्मत है।

—संपादक।

प्रथम संस्करण के संपादक जी की यह टिप्पणी ठीक है, पर वे अनुवादक के अभिप्राय तक पहुँचने का प्रयास करते तो अच्छा होता। संपादक जी यदि शक्ति शब्द का अर्थ शक्ति-सामान्य और अभिधा का अर्थ शक्तिविशेष मानें तभी तो उनका कथन भी संगत हो सकता है। 'घट' और 'नील घट' में भी वही बात है। 'घट' सामान्य है और 'नील घट' विशेष। यदि साहित्य-शास्त्र में प्रसिद्ध शक्ति और अभिधा की पर्यायता मानी जाती है तो यह उत्तर कैसे बन सकता है। हाँ साहित्यदर्पणकार की तरह वे भी वृत्तिमात्र को शक्ति मानते हों तो उत्तर हो सकता है, पर तब 'शक्य' और 'लक्ष्य' अर्थों में भेद करना कठिन हो जायगा। अनुवादक।

अभिधा के भेद

यह अभिधा तीन प्रकार की है—केवल समुदाय की शक्ति, केवल अवयवों की शक्ति और समुदाय तथा अवयवों की शक्ति का मिश्रण।

उनमें से पहली—अर्थात् केवल समुदाय की शक्ति—के उदाहरण 'डित्थ' आदि हैं; (क्योंकि उनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि अवयव ही नहीं होते, अतः अवयवों की शक्ति का अभाव होता है।)

दूसरी—अर्थात् केवल अवयवों की शक्ति—के उदाहरण हैं 'पाचक', 'पाठक' आदि शब्द, क्योंकि उनमें धातु 'पच्' आदि और प्रत्यय—ण्वुल् = अक आदि की शक्ति द्वारा ज्ञात होनेवाले दो अर्थों (धातु के अर्थ 'पाक' और प्रत्यय के अर्थ 'करनेवाला') के अन्वय से प्रकाशित होनेवाले—'पाक करनेवाला'—इस अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती; अतः यहाँ समुदाय की शक्ति का अभाव है। (अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय मिलकर जिस अर्थ को बोधित करते हैं उसके अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की इस वर्ण-समुदाय द्वारा प्रतीति नहीं होती।)

तीसरी—अर्थात् समुदाय तथा अवयवों की शक्ति के मिश्रण—का उदाहरण है 'पंकज' आदि शब्द। 'पंकज' शब्द के तीन अवयव हैं—उपपद ('पंक'), धातु ('जन्') और प्रत्यय ('ड')। उनमें से उपपद का अर्थ 'कीचड़' धातु का अर्थ 'उत्पन्न होना' और प्रत्यय का अर्थ 'वाला' है। इन सबका आकांक्षादिवशात् जब अन्वय करते हैं तब 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' यह अर्थ प्रकाशित होता है। पर, 'पंकज' शब्द से केवल इतना ही अर्थ प्रकाशित नहीं होता

(यदि ऐसा हो तो कीचड़ से पैदा होनेवाली सभी वस्तुएँ पंकज कहलाने लगें), किंतु 'कमलत्व' जाति से युक्त पदार्थ (अर्थात् कमल) का भी बोध होता है। अतः ऐसे शब्दों के विषय में यह कल्पना करनी पड़ती है कि इन शब्दों में ('कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' आदि अर्थों को समझानेवाली) अवयवों की शक्ति के अतिरिक्त ('कमल' आदि अर्थों को समझानेवाली) समुदाय की शक्ति भी रहती है, अन्यथा या तो 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' अर्थ ही प्रतीत होगा या 'कमल' ही। सो ऐसे शब्दों में पूर्वोक्त दोनों शक्तियों का मिश्रण सिद्ध है।

इन्हीं उपर्युक्त तीनों प्रकारों को क्रमशः **रूढि, योग और योगरूढि** नामों से पुकारा जाता है। (**अर्थात् केवल समुदाय की शक्ति को 'रूढि', केवल अवयवों की शक्ति को 'योग' और दोनों के मिश्रण को 'योगरूढि' कहा जाता है।**)

अप्पयदीक्षित का खंडन

'वृत्तिवार्त्तिक' में अप्पयदीक्षित ने कहा है—"केवल अखंड (अर्थात् अवयव-विभाग-रहित समुदाय की) शक्ति से एक अर्थ की प्रतिपादकता का नाम 'रूढि' है; केवल अवयवशक्ति की अपेक्षा रखनेवाली—पद की प्रतिपादकता का नाम 'योग' है और दोनों प्रकार की (अवयवों की और समुदाय की) शक्ति की अपेक्षा रखनेवाली प्रतिपादकता का नाम 'योगरूढि' है।" सो नहीं बन सकता। क्योंकि अभिधा के लक्षण में बताए हुए दूषणों—अर्थात् असंभव, असंगति और आत्माश्रय—का यहाँ भी हटाना कठिन है।

अभिधा का चौथा भेद

अच्छा, अब आप यह विचार करिए कि—अश्वगंधा*, अश्वकर्ण,

---

* समुदाय-शक्ति के अनुसार अश्वगंधा का अर्थ एक प्रकार का औषध—असगंध—होता है और अवयव-शक्ति के अनुसार 'घोड़ों के

मंडप, निशांत और कुवलय आदि शब्दों में इन तीनों भेदों में से कौन-सी शक्ति मानी जानी चाहिए; क्योंकि इन सभी शब्दों के दो-दो अर्थ हैं, जिनमें से एक समुदायशक्ति (रूढि) द्वारा और दूसरा अवयव-शक्ति (योग) द्वारा प्रतीत होता है।

इसका उत्तर कुछ लोग यह देते हैं कि—जहाँ 'अश्वगन्धारसं पिबेत् (असगंध का रस पीवे)' इस तरह विशेष विषय(अर्थात् 'अश्वगंधा' शब्द का ओषधि के अर्थ में) प्रयोग हो, वहाँ केवल समुदाय-शक्ति (रूढि) माननी चाहिए। और जहाँ 'अश्वगंधा वाजिशाला' (घोड़ों की बू वाली घुड़साल) इत्यादि (अर्थात् 'अश्वगंधा' शब्द का 'घोड़ों की बू वाली' अर्थ में) प्रयोग हो, वहाँ केवल अवयव-शक्ति (योग) माननी चाहिए।

आप कहेंगे—"अश्वगन्धारसं पिबेत्" और "अश्वगन्धा वाजिशाला" इन दोनों वाक्यो में 'अश्वगंधा' शब्द तो एक ही है—शब्द में तो कोई फेर है नहीं। जब उसी एक शब्द में, एक वाक्य में 'समुदाय-शक्ति' और दूसरे वाक्य में 'अवयव-शक्ति'—यों, दोनों शक्तियाँ रहने लगेंगी तो, अभिधा के पूर्वोक्त प्रथम (रूढि) और द्वितीय (योग) भेदों का प्रसंग ही कैसे प्राप्त हो सकता है—आप कह ही कैसे सकते हैं कि इस एक ही शब्द में एकत्र योग-शक्ति है और अन्यत्र रूढि शक्ति; क्योंकि

गंध वाली' होता है। इसी तरह अश्वकर्ण के क्रमशः एक औषध और घोड़े का कान; मंडप के मँड़वा और भात का माँड़ पीनेवाला; निशांत के घर और रात्रि का अंत (प्रभात); एवं कुवलय के रात्रि-विकासी कमल और भूमंडल अर्थ होते हैं।

उनके लक्षणों मे 'केवल' विशेषण लगाया गया है। पर देखते यह हैं कि 'अश्वगंधा' आदि शब्दों में न केवल समुदाय-शक्ति है, न केवल अवयव-शक्ति, किंतु भिन्न-भिन्न स्थानों पर उसी शब्द में दोनों ही शक्तियाँ हैं। इसका उत्तर वे यह देते हैं कि—यद्यपि दोनों अर्थ ('औषध' और 'घोड़ों की बू वाली') एक शब्द (अश्वगंधा) से प्रतीत होते हैं, तथापि समुदाय-शक्ति से विदित होनेवाले (ओषधि) और अवयव-शक्ति से विदित होनेवाले ('घोड़ों की बू वाली') अर्थों का परस्पर अन्वय नहीं होता, जैसा कि 'पंकज' आदि योगरूढ शब्दों में होता है। अतः उन शक्तियों की केवलता में कोई बाधा नहीं आती। (अर्थात् वे दोनों शक्तियाँ मिलकर कोई अर्थ नहीं समझातीं, किंतु पृथक् पृथक् स्थलों में पृथक् पृथक् अर्थ समझाती हैं—अतः वे अपने-अपने स्थल में केवल ही हैं।) हम यहाँ 'केवलता' से यह कहना चाहते हैं कि—समुदाय-शक्ति और अवयव-शक्ति ऐसे भिन्न-भिन्न दो अर्थों की बोधक होनी चाहिए कि जिन अर्थों में परस्पर अन्वय की योग्यता न हो। अर्थात् जैसे 'पंकज' शब्द के, योग-शक्ति और रूढि-शक्ति दोनों द्वारा बोधित अर्थों में परस्पर अन्वय की योग्यता है; क्योंकि 'कीचड़ में उत्पन्न होनेवाला' 'कमल' हो सकता है और 'कमल 'कीचड़ में उत्पन्न होनेवाला'; वैसे न होकर ऐसे दो अर्थों का बोध हो जो एक दूसरे के साथ अन्वित न हो सकें। सो बात यहाँ है ही।

आप कहेंगे—तब दोनों शक्तियों के मिश्रण-रूप—अभिधा के तृतीय भेद (योगरूढि) से इसमें क्या भिन्नता रही? तो इसका उत्तर यह है कि—मिश्रण तो उन्हीं दो शक्तियों का हो सकता है, जो ऐसे दो अर्थों की बोधक हों कि जिनमें परस्पर अन्वय की योग्यता हो। इसलिए 'अश्वगंधा' आदि शब्दों में मिश्रण (योगरूढि) का प्रसंग नहीं है।

दूसरे लोगों का कहना है कि—'अश्वकर्ण (अश्वगंधा ?)' आदि शब्दों में अभिधा के प्रथम और द्वितीय भेदों का प्रसंग ही नहीं है; क्योंकि वहाँ एक ही शब्द में दोनों शक्तियाँ रहती हैं, अतः उनकी केवलता नहीं हो सकती। किंतु उन शक्तियों का मिश्रण-रूपी जो तृतीय भेद है उसके पुनः दो भेद हैं—एक योगरूढि और दूसरी यौगिकरूढि। उनमें से पहले भेद का उदाहरण है 'पंकज' आदि शब्द और दूसरे के हैं 'अश्वकर्ण (अश्वगंधा ?)' आदि शब्द।

तीसरे लोगों का यह भी कहना है कि—यह (यौगिक रूढि) अभिधा का चौथा ही भेद है; इसका पूर्वोक्त तीनों भेदों से कुछ लेना-देना नहीं।

अभिधा के भेद हैं ही नहीं

इसके अतिरिक्त यह भी सिद्धांत है कि—सभी शब्द अखंड ही हैं, उनमें अवयव होते ही नहीं। इतने पर भी जो उनमें, समासों में पदों का विभाग और कृदंत, तद्धितांत तथा तिङंतों में प्रकृति और प्रत्ययों का विभाग है वह काल्पनिक ही है; अतः योग शक्ति है ही कहाँ ? क्योंकि विशिष्ट (जुड़े-जुड़ाए) पद को विशिष्ट (जुड़े-जुड़ाए) अर्थ में ही शक्ति स्वीकृत है और वह है रूढि।

एक शंका और उसका उत्तर

आप शंका करेंगे कि इतना सब जान लेने पर भी—

"गीष्पतिरप्याङ्गिरसो गदितुं ते गुणगणान् सगर्वो न।
इन्द्रः सहस्रनयनोऽप्यद्भुतरूपं परिच्छेत्तुम् ॥

राजा की स्तुति है—(हे राजन् !) 'गीष्पति' (वाणी के पति) भी आंगिरस (बृहस्पतिजी) आपके गुण-गणों के वर्णन करने का घमंड

नहीं कर सकते; और न 'सहस्रनयन' (हजार नेत्रवाला) भी इंद्र आपके अद्भुत रूप का परिच्छेद करने के लिये—यह बताने के लिये कि इसमें इतनी ही अद्भुतता है—घमंड कर सकता है।"

इत्यादिक में रूढ्यर्थ को लेकर पुनरुक्ति होने लगेगी। (अभिप्राय यह कि 'गीष्पति' और 'सहस्रनयन' शब्द योगरूढ हैं, अतः उनका, योग और रूढि दोनों शक्तियों के मिश्रण से 'वाणी का पति आंगिरस' और 'हजार नेत्रवाला इंद्र' यह अर्थ हो ही जाता है, ऐसी दशा में पुनः 'आंगिरस' और 'इंद्र' शब्दों का प्रयोग पुनरुक्तिदोष-ग्रस्त है।)

यदि हम कहें कि—इस तरह जिस स्थल पर दोनों प्रकार के पदों की समीपवर्त्तिता हो वहाँ योगरूढ पद ('गीष्पति' आदि) केवल अवयवार्थ (योग) के बोधक ही रह जाते हैं, क्योंकि ऐसी जगह केवल उतना ही भाग प्रस्तुत विषय के उपयोगी विशेष प्रकार के अतिशय का लानेवाला होता है—अर्थात् वहाँ केवल यौगिक अर्थ ही ऐसी विशेषता रखता है जो प्रस्तुत अर्थ में कुछ अधिकता कर सके, रूढिवाला अर्थ निष्प्रयोजन है; क्योंकि उसका वाचक पद वहाँ पृथक् लिखा हुआ है। तो आप कहेंगे कि यह कहना ठीक है, पर, एक तो, ऐसा होने पर भी योगरूढ पद की रूढि-शक्ति का नियंत्रण तो हुआ नहीं—ऐसे स्थान पर योगरूढ पद रूढ्यर्थ को न कहे इसके लिये आपके पास कोई उपाय नहीं है; इस कारण 'योगरूढ शब्द केवल योगार्थ का ही प्रतिपादन करे, रूढ्यर्थ का नहीं' इस बात के सिद्ध न हो सकने के कारण पूर्वोक्त पुनरुक्ति दोष लगा ही रहा—उसे आप न मिटा सके। दूसरे, जब कि एक ही योगरूढ पद से योगार्थ और रूढ्यर्थ दोनों आवश्यक अर्थों की उपस्थिति हो सकती है, तब फिर दूसरे पद ('आंगिरस' आदि) की व्यर्थता होगी। अतः पूर्वोक्त शंका ज्यों की त्यों रह जाती है।

आपकी इस शंका का समाधान यह है कि—यद्यपि अन्वय में अंतरंग की आकांक्षा होती है—अर्थात् पहले अंतरंग अर्थ का अन्वय होता है और तब बहिरंग का। अतः एक पद ('गीष्पति' आदि) से गृहीत होने के कारण पहले योगार्थ ('वाणी का पति' आदि) और रूढ्यर्थ ('आंगिरस' आदि) का अन्वय हो चुकने पर, क्योंकि वे अंतरंग हैं, बाद में प्रकट हुए संयुक्त अर्थ ('वाणी का पति आंगिरस' आदि) का ही अन्यपद ('आंगिरस' आदि) के अर्थ के साथ अन्वय होता है—अर्थात् अन्य किसी पद के अर्थ के साथ योगरूढ पद के सम्मिलित अर्थ का ही अन्वय होना उचित है, न कि पृथक्-पृथक् स्थित केवल योगार्थ ('वाणी का पति' आदि) अथवा केवल रूढ्यर्थ ('आंगिरस' आदि) का। यह बात न्यायसिद्ध है। अतः यहाँ 'गीष्पति' शब्द के केवल 'वाणी के पति' अर्थ का 'आंगिरस' पद के अर्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता। तथापि ऐसा वहीं होता है जहाँ शक्ति (अभिधा) द्वारा अर्थ का प्रतिपादन हो, अन्य वृत्ति से प्रतिपादित अर्थ में नहीं। अतः ऐसी जगह यदि लक्षणा मानी जाय तो योगरूढ पद से केवल योगार्थ के प्रतिपादन में कुछ भी बाधक नहीं—अर्थात् लक्षणा द्वारा 'गीष्पति' आदि शब्दों के अर्थ केवल 'वाणी के पति' आदि मान लिए जायँ तो कोई बाधा नहीं। संक्षेप यह कि ऐसे स्थलों में केवल योगार्थ के प्रतिपादन के लिये लक्षणा मानी जाती है।

रही द्वितीय पद ('आंगिरस' आदि) का प्रयोग निरर्थक होने की बात। सो भी है नहीं। कारण, यदि निरर्थक समझकर द्वितीय पद ('आंगिरस' आदि) का प्रयोग छोड़ दिया जाय तो रूढ्यर्थ ('बृहस्पति' आदि) का बोध करवा देने से योगरूढ ('गीष्पति' आदि) शब्द गतार्थ हो जायगा। और तब उसके द्वारा प्रतिपादित किए जानेवाले योगार्थ ('वाणी का पति' आदि) में जिस तरह 'पंकजाक्षी' शब्द में, 'पंकज' शब्द से वक्ता का तात्पर्य केवल रूढ अर्थ—

कमल—में ही होता है; योगार्थ-सवलित रूढ अर्थ ('कोचड़ से उत्पन्न होनेवाला कमल') में नहीं होता, क्योंकि वहाँ वक्ता को 'पंकजाक्षी' शब्द का केवल 'कमल-नयना' अर्थ अभीष्ट है—'कीचड़ से उत्पन्न होने' रूपी योगार्थ में उसका किंचित् भी तात्पर्य नहीं रहता; किंतु 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' यह योगार्थ अनिवार्य होने के कारण प्रतीत मात्र होता है, पर तात्पर्य का विषय न होने के कारण उसका वहाँ कोई उपयोग नहीं, उसी तरह, अनिवार्य होने के कारण वक्ता के प्रधान तात्पर्य का विषय न होने की शंका से योगार्थ ('वाणी के पति' आदि) की कुर्वद्रूपता (कारगर होना) नष्ट हो जायगी—वह बेकार हो जायगा। और ऐसी दशा में प्रस्तुत विषय के उपयोगी 'विशेष प्रकार के अतिशय की अभिव्यक्ति', जिसके लिये आप केवल यौगिक अर्थ की प्रतीति मानते थे, पाक्षिक हो जायगी। अर्थात् बिना द्वितीय पद के प्रयोग के शब्द में वह करामात नहीं रह पाती कि जिसके कारण, लोगों को, यौगिक अर्थ भी नियमित रूप से वक्ता के तात्पर्य का विषय है—यह बात स्वीकार करनी ही पड़े।

यह तो हुई वहाँ की बात, जहाँ योगरूढ और रूढ दोनों प्रकार के पदों का एक साथ ग्रहण हो। पर जहाँ "पुष्पधन्वा विजयते जगत् त्वत्करुणावशात्—पुष्पधन्वा (कामदेव) तेरी दया के अधीन होकर जगत् का विजय करता है" इत्यादिक में एक ही ('पुष्पधन्वा') पद से रूढ्यर्थ ('कामदेव') की उपस्थिति और योगार्थ ('पुष्पों के धनुषवाला') द्वारा धनुष की निस्सारता का बोध हो जाता है, वहाँ यह समझना चाहिए कि—'कवि ने कामदेववाची अन्यान्य रूढ पदों को छोड़कर क्यों 'पुष्पधन्वा' पद का ही ग्रहण किया' इस बात का अनुसंधान करने से 'पुष्पधन्वा' आदि पदों के योगार्थ में कुर्वद्रूपता उत्पन्न हो जाती है।

सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—ऐसे स्थलों पर योगरूढ पद के अतिरिक्त द्वितीय (रूढ) पद के ग्रहण करने पर अथवा न ग्रहण करने पर—दोनों ही तरह—कोई हानि नहीं।

इसी तरह जब किसी योगरूढ शब्द के समीप में उसके रूढ्यर्थ की जाति से भिन्न जातिवाले अर्थ का वाचक पद वर्त्तमान हो तब भी योगरूढ पद, लक्षणा द्वारा, केवल यौगिक अर्थ का बोधक होता है। जैसे—"**दिशि दिशि जलजानि सन्ति कुमुदानि**—अर्थात् सभी दिशाओं में 'जलज' कुमुद विद्यमान हैं।" इत्यादि में यद्यपि 'जलज' आदि शब्द 'कमल' आदि अर्थों में रूढ हैं तथापि जब 'कुमुद' आदि भिन्न-जातीय शब्दों के साथ अन्वित होकर आवें तब 'जलज' आदि शब्द, लक्षणा द्वारा, केवल यौगिक अर्थ ('जल से उत्पन्न होनेवाले') के ही बोधक होते हैं।

आप कहेंगे—ऐसे स्थलों में लक्षणा क्यों की जाती है? योगरूढ पदों में योग-शक्ति भी तो रहती है उसी से केवल यौगिक अर्थ का बोध हो जायगा। पर यह ठीक नहीं। कारण, योगरूढ पदों में योग शक्ति द्वारा जो यौगिक अर्थ अभिव्यक्त होता है वह रूढ्यर्थ से मिश्रित ही अभिव्यक्त होता है, अतः उसका स्वतंत्रतया कुमुदादिक में अन्वय नहीं हो सकता।

इस तरह अभिधा का निरूपण किया गया है।

वाचक और वाच्य

अभिधा द्वारा जो शब्द जिस अर्थ को बोधित करता है वह शब्द उस अर्थ का **वाचक** होता है और जिस शब्द की यह शक्ति जिस अर्थ में होती है वह अर्थ उस शब्द का **अभिधेय** अथवा **वाच्य** होता है।

वाच्य अर्थ

वाच्य अर्थ चार प्रकार के हैं—जाति, गुण, क्रिया और यादृच्छिक। उनमें से—

१—जाति

'गोत्व'* (सब गौओं = गाय-बैलों में रहनेवाला सामान्य धर्म, जिसके कारण उन्हें 'गौ' कहा जाता है) आदि धर्म जाति कहलाता है। वह जाति अंगों की विशेष प्रकार की रचना द्वारा अभिव्यक्त होती है (क्योंकि जैसी बैल के अंगों की रचना होती है, वैसी अन्य जंतुओं की नहीं होती; सभी प्राणियों की अंग-रचना भिन्न भिन्न प्रकार की होती है) और प्रत्यक्षसिद्ध है। वही जाति 'गौ' आदि पदों का वाच्य-अर्थ है।

कहीं-कहीं जाति अनुमान-सिद्ध भी होती है; जैसे घ्राण (नासिका-इंद्रियवाची) रसन (जिह्वा-इंद्रियवाची) पदों का वाच्य-अर्थ 'घ्राणत्व' 'रसनत्व' आदि। इन जातियों को अनुमान-सिद्ध मानने का कारण है इंद्रियों का इंद्रियां द्वारा प्रत्यक्ष न होना†।

आप कहेंगे—'गोत्व-आदि जातियाँ गो-आदि पदों का वाच्य-अर्थ हैं' यह टेढ़ा रास्ता क्यों लिया जाता है ? सीधा योंही क्यों नहीं मान लिया जाता कि वे-वे व्यक्ति ही उन उन पदों के वाच्य-अर्थ हैं; क्योंकि गो-पद बोलने पर लाते-ले जाते व्यक्तियों को ही देखा जाता है, जाति को नहीं। पर यह आपकी कल्पना ठीक नहीं। कारण, ऐसा मानने में दो दोष हैं—एक आनन्त्य, दूसरा व्यभिचार। यदि सब व्यक्तियों में अलग-अलग संकेत मानें तो अनंत व्यक्तियों में अनंत संकेत मानने पड़ेंगे;

---

* इसी तरह 'मनुष्यत्व' आदि अन्य सब जातियाँ समझो।

† इंद्रियों के विषय में इतना और समझ लीजिए कि—प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले खड्डे वगैरह का नाम इंद्रिय नहीं है, किंतु इनके अंदर काम करनेवाली वस्तु इंद्रिय है, जो अप्रत्यक्ष है। यह न्यायादि-सम्मत सिद्धांत है।

क्योंकि गाय-बैल आदि प्रत्येक प्राणी अनंत संख्या में दिखाई देते हैं। और यदि एक व्यक्ति में संकेत मानें और अन्य में नहीं तो व्यभिचार (अन्यगामिता) होगा। अर्थात् 'गौ' पद का एक गौ में संकेत होने पर भी यदि उस पद से अन्य गौओं का बोध हो जाय तो क्या कारण है कि उससे घड़े आदि अन्य पदार्थों का बोध न हो। इस विषय में आप क्या प्रमाण रखते हैं कि 'गौ' पद से इसी वस्तु का बोध हो और अन्य का नहीं।

आप कहेंगे—नैयायिक लोग ऐसे स्थलों पर बोध होने के लिये 'सामान्य प्रत्यासत्ति' नामक एक अलौकिक सन्निकर्ष मानते हैं। उनका कहना है कि—हमें एक व्यक्ति का बोध होने पर उसी जाति के दूसरे व्यक्ति का बिना किसी के समझाए-बुझाए भी जो बोध हो जाता है इसका कारण यह है कि—हमारा 'जाना हुआ गोत्व' आदि धर्म अथवा 'गोत्व आदि का ज्ञान', जिसे सामान्य-प्रत्यासत्ति कहते हैं वही, वहाँ सन्निकर्ष (इंद्रिय का और वस्तु का वह संबंध जिससे प्रत्यक्ष ज्ञान होता है) का काम देता है। सो इस 'सामान्य-प्रत्यासत्ति' रूपी अलौकिक सन्निकर्ष द्वारा उस जाति के यावन्मात्र व्यक्तियों का बोध हो सकता है; अतः व्यक्ति में संकेत मानने में भी कोई दोष नहीं। अर्थात् आपका बताया दूसरा दोष—व्यभिचार—यहाँ लागू नहीं पड़ सकता, क्योंकि सामान्य प्रत्यासत्ति एक जातिवालों का ही बोध करवाती है, अन्य जातिवालों का नहीं; अतः 'गो' पद से घड़े आदि का बोध नहीं हो सकता। सो ठीक नहीं। कारण, सामान्य प्रत्यासत्ति को हम नहीं मानते, और यदि थोड़ी देर के लिये उसे मान भी लिया जाय तो उससे केवल अंतिम दोष (व्यभिचार) का उद्धार हो सकता है, गौरवरूपी प्रथम दोष तो फिर भी ज्यों का त्यों रह जाता है। अर्थात् सामान्य प्रत्यासत्ति द्वारा आपको 'गो' पद से घट आदि का बोध न

होने पर भी संकेत तो आपको अनंत व्यक्तियों में अनंत ही मानने पड़ेंगे।

इसी गौरवदोष के कारण, यदि आप व्यभिचार दोष का इस तरह निराकरण करें कि--सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति न मानने पर भी शक्ति का ज्ञान, पदार्थ की उपस्थिति और शाब्दबोध इनका कार्य-कारण-रूप होना तभी बन सकता है जब उनमें प्रकार (विशेषण रूप से प्रतीत होनेवाला धर्म) एक हो; क्योंकि भिन्न भिन्न प्रकारवालों का कार्य-कारण होना असंभव है। वह प्रकार-रूपी धर्म होगा 'गोत्व' आदि; अतः उसके द्वारा जिनमें शक्तिज्ञान न हो पाया है वे व्यक्ति भी अन्वय-ज्ञान में आ सकेंगे; तब भी निस्तार नहीं। अर्थात् ऐसी स्थिति में भी संकेत तो अनंत व्यक्तियों में पृथक्-पृथक् ही मानने पड़ेंगे।

अतः शब्द की जाति में ही शक्ति माननी चाहिए, व्यक्तियों में नहीं। रहा व्यक्तियों का बोध, सो वह या तो आक्षेप (अर्थापत्ति प्रमाण) से हो जायगा; क्योंकि जाति बिना व्यक्तियों के रहती नहीं। और जो अर्थापत्ति-प्रमाण को शाब्दबोध का कारण नहीं मानते उनके हिसाब से लक्षणा द्वारा हो जायगा। रही यह बात कि अर्थापत्ति और लक्षणा में से यहाँ क्या मानना चाहिए, सो यह झगड़ा दूसरा है—इसे हम यहाँ उठाना नहीं चाहते।

जाति का माहात्म्य

यह जातिरूपी शब्दार्थ 'प्राणद' कहलाता है, क्योंकि (शब्द को) यह 'प्राण'—अर्थात् व्यवहार की योग्यता—का दान करनेवाला है—संसार का व्यवहार इसी के द्वारा चलता है। यदि यह पदार्थ न हो तो सब व्यवहार रुक जायँ।

अतएव काव्यप्रकाशकार (वाक्यपदीय का वाक्य उद्धृत करके) कहा है कि "गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौः, गोत्वाभिसंबंधात्तु गौः।"

इसका अर्थ यह है कि—'गौः' अर्थात् गले में चमड़ी लटकने-वाला प्राणी, 'स्वरूपेण' अर्थात् जिसकी 'गोत्व'-जाति नहीं जानी जा सकी है ऐसे धर्मी के स्वरूप मात्र से, तात्पर्य यह कि यदि पूर्वोक्त प्राणी के विषय में इतना मात्र जान लिया जाय कि वह कोई वस्तु है तो इतने से, वह 'न गौः'अर्थात् 'गौ' नामक पूर्वोक्त प्राणी के व्यवहार का निर्वाहक नहीं हो सकता, और 'नाप्यगौः' अर्थात् न इसी व्यवहार का निर्वाहक हो सकता है कि वह 'गौ' नामक प्राणी से भिन्न पदार्थ है। (सारांश यह कि जब तक जाति का परिचय न हो तब तक किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु को हम व्यवहार में नहीं ला सकते—उसके विषय में कुछ भी नहीं कह सकते कि वह कौन है।) कारण, यदि बिना 'गोत्व'-रूपी जाति के ग्रहण किए भी 'गौ'-रूपी पदार्थ का ज्ञान होता हो तो जब दूर से देखने पर उस प्राणी के अंगों की रचना अभि-व्यक्त न हो और इस कारण 'गोत्व' जाति का ज्ञान न हो, उस दशा में भी 'गौ' पदार्थ में गौ है अथवा गौ से भिन्न पदार्थ है यह व्यवहार होने लगे। (इसका अभिप्राय यह है कि—यदि अंगों की रचना से अभिव्यक्त होनेवाली जाति को—अमुक पदार्थ अमुक शब्द का वाच्य है—इस व्यवहार की योग्यता का संपादक न मानो और स्वरूप मात्र से ही व्यवहार मानने लगो तो किसी न किसी प्रकार का स्वरूप तो सब पदार्थों में रहता है; उसमें किसी प्रकार की विशेषता न होने से—अर्थात् अमुक स्वरूप अमुक जाति का सूचक है यह न होने से—घड़े में 'गौ' पद का व्यवहार और 'गौ' में 'गौ से भिन्न पदार्थ होने' का व्यवहार होने लगेगा। अर्थात् लोग 'घड़े' का नाम 'गौ' और 'गौ' का नाम और कुछ कर लेंगे और तब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की बात बिलकुल न समझ सकेगा। इस कारण भिन्न-भिन्न अंगोंवाले पदार्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार की जातियाँ माननी पड़ती हैं, जिनसे संसार का व्यव-हार चलता है, अन्यथा अव्यवस्था हो जाय।) सो ही लिखा है कि—

'गोत्वाभिसंबंधात्' अर्थात् 'गोत्व' जाति से युक्त होने का ज्ञान होने से (वह पदार्थ) **'गौः'** अर्थात् गो-शब्द से व्यवहार करने के योग्य है। (अर्थात् 'गोत्व' जाति से युक्त होने का ज्ञान ही इस व्यवहार को चलाता है कि गले में चमड़ी लटकनेवाला प्राणी ही 'गो' शब्द से पुकारा जा सकता है, अन्य कोई नहीं। अतः जाति को 'प्राणद' मानना सयुक्तिक है।)

गुण और क्रिया

गुण—शुक्ल (श्वेतता) आदि गुण कहलाता है, जो कि 'शुक्ल' आदि शब्दों का वाच्य है।

क्रिया—'चलने' आदि (चेष्टा) को क्रिया कहते हैं, जो 'चल' आदि शब्दों का वाच्य है।

आप कहेंगे—'शुक्ल' आदि गुणों का और 'चलना' आदि क्रियाओं का प्रत्येक व्यक्ति में भेद दिखाई देता है। (अर्थात् जो 'सफेदी' बगुले में है वह कपड़े में नहीं हो सकती और जो 'चलना' बैल में है वह मनुष्य में नहीं हो सकता।) अतः (जाति में न मानकर) व्यक्ति में शक्ति मानने में जो आनन्त्य और व्यभिचार दोष थे, उन दोषों के कारण, वही अव्यवस्था यहाँ भी होगी। इसका उत्तर यह है कि—एक तो अनेक व्यक्तियों में अनेक गुण और अनेक क्रियाएँ मानने की अपेक्षा एक गुण और एक क्रिया मानने में लाघव है। दूसरे यह भी कारण है कि—बगुले और कपड़े—दोनों की सफेदी को, तथा बैल और मनुष्य की चाल को, देखकर देखनेवाला दोनों गुण अथवा दोनों क्रियाओं को 'सफेदी' और 'चाल' के रूप में ही पहचानता है, किसी भिन्न रूप में नहीं। अतः उन्हें एक ही स्वीकार किया जाता है।

यही बात काव्य-प्रकाशकार कहते हैं—**"गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते**—अर्थात् गुण,

क्रिया और यदृच्छा वस्तुतः एकरूप हैं, तथापि उनमें आश्रय (जिसमें वे रहते हैं उस) के भेद से भेद सा दिखाई देता है।" इसका अभिप्राय यह है कि—गुणों और क्रियाओं में जो भेद समझ पड़ता है वह भ्रम ही है; वस्तुतः वे एकरूप होते हैं। यह भेद-ज्ञान उपलक्षण है—अर्थात् इसी तरह एकता की बाधक अन्यान्य बातों को भी भ्रम ही समझो। जिससे यह सिद्ध हुआ कि गुणों और क्रियाओं में उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति भी भ्रम ही है। आप कहेंगे—यह तो आपने बिलकुल नई बात बताई। पर ऐसा नहीं है। जो लोग (वैयाकरणादिक) वर्णों को नित्य मानते हैं वे गकारादिक की उत्पत्ति और विनाश को भ्रमरूप स्वीकार करते हैं। वही बात यहाँ है।

यादृच्छिक

वक्ता द्वारा अपने इच्छानुसार 'डित्थ' आदि शब्दों के प्रवृत्ति-निमित्तरूप में मान लिया गया धर्म 'यादृच्छिक' कहलाता है। (अर्थात् जो नाम स्वेच्छा-कल्पित हैं उनमें वक्ता जिसे उस शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त मानता है वह धर्म 'यादृच्छिक' पद से व्यवहृत होता है।)

आप कहेंगे—यह तो ठीक। पर वह धर्म है क्या चीज, सो तो कहिए। तो सुनिए—

उस धर्म को कुछ लोग 'स्फोट' नाम से पुकारते हैं, जो एक अखंड वस्तु है और परम्परा से व्यक्ति में रहता है तथा नाम के अंतिम वर्ण से अभिव्यक्त होता है।

दूसरे विद्वान् कहते हैं—'स्फोट' नामक पृथक् वस्तु मानने की कोई आवश्यकता नहीं; क्रम से एक-दूसरे के पीछे लगे हुए वर्णों का समुदाय ही वह धर्म है।

जो लोग वर्णों को उत्पत्ति-विनाश-शील मानते हैं, उनके हिसाब से एक वर्ण दूसरे वर्ण की उत्पत्ति के समय तक रह नहीं सकता; अतः

वर्णों का समुदाय होता ही नहीं। वे लोग कहते हैं कि—केवल व्यक्ति ही यदृच्छा शब्द का अर्थ है। (अर्थात् ऐसे स्थानों में व्यक्ति ही शब्द का वाच्य होता है, व्यक्ति से अतिरिक्त धर्म-वर्म् कुछ नहीं है।)

इन तीन मतों में से पहले के दो मतों में तो प्रथमतः विशेषण (स्फोटादिक) का ज्ञान होने से विशिष्ट (व्यक्ति) का बोध होता है; अतः यादृच्छिक धर्म के कारण ज्ञान सविकल्पक होता है। और तीसरे मत में निर्विकल्पक ज्ञान होता है, क्योंकि वहाँ सिवाय व्यक्ति के अन्य कोई विशेषण-रूप धर्म नहीं।

यह है शब्दों की चार प्रकार की प्रवृत्ति माननेवालों के सिद्धांत की व्यवस्था।

सब शब्द जातिवाची हैं।

इस सिद्धांत के अतिरिक्त एक यह भी सिद्धांत है कि—सब शब्दों का वाच्य अर्थ जाति ही है। उनका कहना है कि—जिस तरह आप अन्यान्य शब्दों में जाति को शब्द का वाच्य मानते हैं उसी तरह गुण-शब्द, क्रिया-शब्द और यदृच्छा-शब्दों में भी वही वाच्य है। गुण-शब्दों और क्रिया-शब्दों में भिन्न भिन्न व्यक्तियों में रहनेवाले गुणों और क्रियाओं में रहनेवाली जाति उन-उन शब्दों का वाच्य होती है और यादृच्छिक शब्दों में बालक, वृद्ध और तोते आदि द्वारा उच्चारित उन-उन भिन्न-भिन्न शब्दों में रहनेवाली जाति, अथवा भिन्न-भिन्न समय में प्रतिपादित होनेवाला अर्थ भिन्न हो जाया करता है सो उन अर्थों में रहनेवाली जाति वाच्य है। अतः चार प्रवृत्ति-निमित्त मानने की आवश्यकता नहीं। सब शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त एक जाति ही है और वही सब शब्दों का वाच्य है। यह है जाति-शक्तिवादियों का मत।

लक्षणा

लक्षण

यह तो हुई अभिधा। अब आप कहेंगे—यह लक्षणा क्या चीज है? जिसे मूल मानकर आपने अंतिम (अभिधा-मूलकों के बादवाली) ध्वनि का निरूपण किया है। अच्छा यह भी कहते हैं। सुनिए—

शब्द से अभिधा द्वारा प्रतिपादित अर्थ का (अन्य किसी पदार्थ के साथ) संबंध 'लक्षणा' कहा जाता है।

लक्षणा के कारण

(यह तो एक मानी हुई बात है कि—जब, वक्ता का तात्पर्य जिस तरह के अन्वय में हो वह अन्वय, मुख्य (वाच्य) अर्थ द्वारा न बन सके, तब लक्षणा होती है, जिससे यह सिद्ध होता है कि—जो अन्वय वक्ता के तात्पर्य का विषय हो उसका मुख्यार्थ में अभाव होना—अर्थात् जिस तरह का अन्वय वक्ता को अभीष्ट हो उसका न हो सकना—लक्षणा का कारण है। सारांश यह कि—जब तक मुख्य अर्थ द्वारा वक्ता के अभीष्ट अन्वय में कोई बाधा नहीं होती; तब तक लक्षणा नहीं होती, किन्तु जब ऐसा अन्वय न हो सकता हो तब लक्षणा होती है। अतः वक्ता के अभीष्ट अन्वय का अभाव लक्षणा का कारण है, इसमें तो कोई संदेह नहीं। पर अब आप इस अभाव के विषय में जरा सूक्ष्म विचार करिए।)

लक्षणा जो अर्थ की उपस्थिति करवाती है उसका, मुख्यार्थतावच्छेदक—अर्थात् मुख्य अर्थ के सर्वांश में रहने-वाले और अन्य किसी में न रहनेवाले धर्म (जैसे गंगा में गंगात्व)—में, वक्ता का तात्पर्य जिस तरह अन्वित होने में है उस तरह अन्वित होने का सर्वथा अभाव कारण नहीं है। अर्थात् यह नियम नहीं है कि—मुख्यार्थतावच्छेदक

वक्ता के अभीष्ट अर्थ में किसी भी तरह अन्वित न हो सके तभी लक्षणा किसी मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ को उपस्थित करे। कारण, शक्यतावच्छे- दक (मुख्यार्थतावच्छेदक गंगात्व आदि) के रूप से लक्ष्य अर्थ ('तट' आदि) की प्रतीति स्वीकार की जाती है—अर्थात् लाक्षणिक अर्थों की प्रतीति मुख्यार्थतावच्छेदक के रूप से ही होती है।

[इस बात को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट कर लीजिए कि मुख्यार्थता- वच्छेदक के रूप में लाक्षणिक अर्थ की प्रतीति क्यों मानी जाती है। कल्पना करिए कि कोई किसी से कह रहा है—"साहब, आपके गाँव का क्या कहना है, वह तो गंगाजी में है।" ऐसी दशा में 'गंगाजी' का मुख्य अर्थ है 'प्रवाह', उसमें तो गाँव का बसना असंभव है। अतः वक्ता का तात्पर्य यह तो हो नहीं सकता कि 'आपका गाँव बीच पानी में है।' तब, गंगा और गाँव का अन्वय न होता देखकर, आप, गंगा और गंगा के तट में परस्पर जो समीपता-रूपी संबंध है (जो लक्षणा के नाम से पुकारा जाता है) उसके द्वारा, यह समझ लेंगे कि 'गाँव गंगा में नहीं, गंगा-तट पर है।' कारण, ऐसी दशा में गंगा शब्द के असली अर्थ 'पानीके प्रवाह' को ही गंगा-शब्द का अर्थ माना जाय तो योग्यता के अभाव से गाँव और पानी के प्रवाह का अन्वय नहीं हो सकता; क्योंकि प्रवाह में वह योग्यता नहीं कि उसमें गाँव बस सके। अब आप यह भी सोचिए कि—जो मनुष्य गाँव को गंगा-तट पर न बताकर गंगाजी में बता रहा है वह पागल तो है नहीं; अतः उसका उस तरह बोलने में कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिए; वह प्रयोजन है—गाँव का शीतल और पवित्र होना। अर्थात् वह इस तरह कहकर यह सिद्ध करना चाहता है कि—आपका गाँव अत्यंत शीतल और पवित्र है। सो यह प्रयोजन की प्रतीति तभी हो सकती है, जब कि 'गंगात्व (शक्यता- वच्छेदक)' के रूप से तट (लक्ष्य अर्थ) की प्रतीति स्वीकार की जाय—अर्थात् तट को गंगा-रूप समझा जाय। यदि लक्ष्य अर्थ—

तट—में शक्यतावच्छेदक(मुख्यार्थतावच्छेदक)—गंगात्व – की प्रतीति न हो तो तट में शीतलता और पवित्रता सिद्ध नहीं होती। अतः मानना पड़ता है कि लाक्षणिक अर्थों की प्रतीति शक्यतावच्छेदक के रूप में होती है।]

(इससे यह सिद्ध हुआ कि—मुख्यार्थतावच्छेदक के अन्वय का सर्वांश में अभाव लक्षणा का कारण नहीं है; किंतु वक्ता के अभीष्ट अन्वय में मुख्यार्थ का मुख्यार्थतावच्छेदक (गंगात्व आदि के रूप से प्रतियोगी न होना—अर्थात् शब्द (गंगा आदि) के मुख्यार्थ (प्रवाह आदि) का असली रूप से (अर्थात् असली अर्थ में कुछ भी न्यूनाधिकता न करनी पड़े ऐसे रूप से) वक्ता के अभीष्ट अन्वय में न आ सकना लक्षण का कारण है। सारांश यह कि या तो असली अर्थ का ही अन्वय न हो सकना या उसमें कुछ न्यूनाधिकता की आवश्यकता होना, लक्षणा द्वारा अर्थ उपस्थित करवाने का प्रथम कारण है।) और दूसरा कारण है रूढि अथवा प्रयोजन दोनों में से एक।

(इस सबका सारांश यह है कि—**शब्द के मुख्य अर्थ का, वक्ता के अभीष्ट अन्वय में, या तो आ ही न सकना या उसमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता की आवश्यकता होना और ऐसे शब्द के प्रयोग के लिये रूढि अथवा प्रयोजन इन दोनों में से किसी एक का होना, ये दो बातें हों तभी शब्द लक्षणा द्वारा अर्थज्ञान करवा सकता है, अन्यथा नहीं।** अतः ये दोनों बातें लक्षणा द्वारा अर्थ की उपस्थिति का कारण हैं।)

आप कहेंगे—लक्षणा के प्रथम कारण के विषय में इतनी सूक्ष्मता क्यों की जा रही है, सीधा क्यों नहीं कह दिया जाता कि 'मुख्य अर्थ का अन्वय न बन सकना' ही लक्षणा द्वारा अर्थज्ञान करवाने का कारण है। बात को व्यर्थ ही क्यों चक्कर में डाला जा रहा है? तो इसका उत्तर यह है कि—केवल यों मान लेने से "कौओं से दही की रक्षा करिए" इस

वाक्य में लक्षणा नहीं हो सकेगी। कारण, यहाँ 'कौओं' शब्द का लक्ष्य (लक्षणा द्वारा प्रतीत होनेवाला) अर्थ होता है, कौए और उनके अतिरिक्त अन्य दही खा जानेवाले; सो आप के हिसाब से नहीं हो सकता; क्योंकि 'कौआ' शब्द के मुख्य अर्थ के अन्वय होने में यहाँ कोई बाधा नहीं; कारण, कौओं से भी दही की रक्षा अपेक्षित है। पर हमारे हिसाब से यहाँ लक्षणा हो सकती है; क्योंकि वक्ता के अभीष्ट अन्वय में 'कौआ' शब्द के मुख्य अर्थ (एक प्रकार के पक्षी) के अतिरिक्त अन्य दही खा जानेवालों को भी उस शब्द के अर्थ में सम्मिलित करना आवश्यक है। (वक्ता कुछ पागल तो है नहीं कि कौओं से दही बचाने के लिए कहे और बिलैया वगैरह को खिला देने के लिये।) अतः 'मुख्य अर्थ का अन्वय न बन सकना' इतना हेतु पर्याप्त नहीं, इसलिए ऐसी सूक्ष्मता करनी पड़ती है।

लक्षणा के कुछ उदाहरण

आप जान चुके हैं कि मुख्य अर्थ के किसी दूसरे (लक्ष्य) अर्थ के साथ संबंध का नाम लक्षणा है। संबंध अनेक प्रकार के हैं, अतः 'गंगा में गाँव है' यहाँ **समीपता**, 'मुख चाँद है' यहाँ **समानता**, शत्रु से यह कहना कि 'आपने बड़ा उपकार किया' इत्यादि विपरीत लक्षणा में **विरोध** और 'घी जीवन है' में **कारणता**, इत्यादि संबंध, यथासंभव लक्षणा के शरीर होते हैं।

(सारांश यह कि लाक्षणिक अर्थ का शब्द के मुख्य अर्थ के साथ जो संबंध हो उसका नाम ही लक्षणा है; क्योंकि वह संबंध ही मुख्यार्थ के वाचक पद द्वारा लक्ष्य अर्थ के प्रतिपादन किये जाने का हेतु होता है।)

लक्षणा के भेद

लक्षणा प्रथमतः दो प्रकार की है—निरूढा और प्रयोजनवती। उनमें से भी प्रयोजनवती (प्रथमतः) दो प्रकार की है—गौणी और

शुद्धा। इन दो भेदों में से गौणी दो प्रकार की है—सारोपा और साध्यवसाना; और शुद्धा चार प्रकार की है—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना। सो इस तरह प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद होते हैं (दो गौणी के और चार शुद्धा के) ।

निरूढा लक्षणा

अच्छा, अब आप पहले निरूढा लक्षणा को लीजिए। निरूढा लक्षणा के उदाहरण हैं—अनुकूल, प्रतिकूल, अनुलोम, प्रतिलोम और लावण्य आदि; तथा 'नील' आदि धर्म का धर्मी (गुण की गुणी) में लक्षणा के उदाहरण हैं।

(उनमें से, दृष्टांत के तौर पर, पहले, 'अनुकूल' शब्द को लीजिए। 'अनुकूल' शब्द का मुख्य अर्थ है 'किनारे का अनुगामी होना', पर जब हम कहें कि 'यह हमारे अनुकूल है' तब उस शब्द का मुख्य अर्थ तो बन नहीं सकता; कारण, हम कोई नदी तो हैं नहीं कि वह पदार्थ हमारे किनारे का अनुगामी हो। सो मुख्य अर्थ का बाध होने के कारण और अनादि काल से इस तरह का प्रयोग चला आ रहा है—इस रूढि के अधीन होकर यह मानना पड़ता है कि—'अनुकूल' शब्द के मुख्य अर्थ (किनारे का अनुगामी होना) और अनुगुण के अर्थ में 'एक वस्तु की तरफ झुकना' रूपी जो सादृश्य संबंध है उससे 'अनुकूल' शब्द द्वारा 'अनुगुण' अर्थ लक्षित होता है—अर्थात् पूर्वोक्त वाक्य में 'अनुकूल' शब्द का सादृश्य-रूप लक्षणा-द्वारा यह अर्थ स्वीकार करना पड़ता है कि—वह पदार्थ हमारे गुणों का अनुगामी है। यही बात अन्य उदाहरणों में भी समझो।)

यह तो हुई सादृश्य संबंध से एक अर्थ के अन्य अर्थ में लक्षित होने की बात। अब अन्य संबंध से लक्षणा की बात लीजिए। 'नील' आदि पदों को गुण (रंग) और द्रव्य (घड़ा वगैरह) दोनों का वाचक मानने की अपेक्षा केवल गुण-वाचक मानने में लाघव है, सो

'नील' शब्द का शक्यतावच्छेदक होती है गुण में रहनेवाली जाति। इस कारण 'नीला घड़ा' इस वाक्य में 'नीला' और 'घड़ा' का समानाधिकरणता से (अर्थात् विशेषण-विशेष्य के रूप में) अन्वय नहीं बन सकता; क्योंकि 'नीला' है गुण और 'घड़ा' है द्रव्य; ये दोनों विशेषण-विशेष्य के रूप में अभिन्न कैसे हो सकते हैं? सो गुणरूपी मुख्य अर्थ (रंग) का जो गुणी (घड़े) के साथ समवाय* संबंध है, उसके द्वारा 'नीला' आदि (गुणवाचक) शब्दों से गुणवान् (नीले रंगवाला आदि) पदार्थ लक्षित होते हैं।

निरूढ लक्षणा के भेद

सो इस तरह 'पहले समूह' ('अनुकूल' आदि) में सादृश्य-संबंध के रूप में और 'दूसरे समूह' ('नीला' आदि) में सादृश्य से भिन्न (समवाय आदि) संबंध के रूप में लक्षणा की प्रवृत्ति होने के कारण विद्वान् लोग निरूढ लक्षणा में भी 'गौणी' और 'शुद्धा' इस तरह दो भेद कहते हैं। (तात्पर्य यह कि निरूढ लक्षणा के दो भेद हैं—'गौणी निरूढ लक्षणा' और 'शुद्धा निरूढ लक्षणा'। जहाँ सादृश्य-संबंध हो वहाँ पहली और जहाँ अन्य कोई संबंध हो वहाँ दूसरी होती है।)

प्रयोजनवती लक्षणा

(प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद पहले बताए जा चुके हैं। उनमें से 'शुद्धा प्रयोजनवती' के दो भेदों—जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था—के उदाहरण तो ध्वनि-प्रकरण में दे आए हैं। रहे चार

---

* ऐसे पदार्थ, जो हैं तो दो, पर मिले ही दिखाई देते हैं—कभी जुदे-जुदे नहीं देखे जाते; जैसे गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्; उनमें 'समवाय' नाम का संबंध माना जाता है।

भेद; गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना और शुद्धा सारोपा, शुद्धा साध्य-वसाना। इनके विषय में इतनी बात तो उपर्युक्त रीत्या समझ में आ ही जाती है कि—लक्षणा जब सादृश्य-संबंध के रूप में प्रवृत्त होती है तब गौणी कहलाती है और जब अन्य किसी संबंध के रूप में प्रवृत्त होती है तब शुद्धा। अतः अब केवल सारोपा और साध्यवसाना के विषय में ही विचार अवशिष्ट रह जाता है।)

आरोप और अध्यवसान

विषय (जिस पर आरोप किया जाता है वह; जैसे 'मुख' आदि) और विषयी (जिसका आरोप किया जाता है वह; जैसे चंद्र आदि) दोनों का अलग-अलग निर्देश करके किया जानेवाला अभेद **'आरोप'** कहलाता है और विषय को अलग न दिखाकर उसके साथ किया जानेवाला विषयी का अभेद **'अध्यवसान'*** कहलाता है।

* अध्यवसान का यह लक्षण ठीक नहीं प्रतीत होता। कारण, यदि केवल विषय के पृथक् निर्देश के अभाव में ही साध्यवसाना लक्षणा मानी जाय तो पूर्वोक्त "मृद्वीका रसिता···" आदि में अतिशयोक्ति का व्यंग्य कहना विरुद्ध पड़ता है; क्योंकि वहाँ विषयी के पृथक् निर्देश का अभाव है, विषय के पृथक् निर्देश का नहीं। भगवन्नाम विषय है और योग-सिद्धि विषयी। अतः हमारी समझ से अध्यवसान का लक्षण यह होना चाहिए कि—"विषय और विषयी दोनों में से एक के निर्दिष्ट होने पर अन्य का उसके साथ अभेद अध्यवसान कहलाता है।" (यही बात काव्य-प्रकाश के लक्षण और उदाहरण में भी है।)

—अनुवादक।

सारोपा और साध्यवसाना

आरोपवाली लक्षणा—अर्थात् जहाँ विषय और विषयी पृथक्-पृथक् वर्णित हों वह—**सारोपा** कहलाती है और अध्यवसानवाली—अर्थात् जहाँ विषयी द्वारा ही विषय का भी काम चला लिया गया हो वह—**साध्यवसाना लक्षणा** कहलाती है। इस तरह "**मुखं चंद्रः** (मुख चंद्र)" आदि गौणी सारोपा लक्षणा के और "**पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चन्द्रराजी विराजते** (इहिं पुर सौधन के शिखर राजत हिमकर-पाँति)" इत्यादि गौणी साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण होते हैं; क्योंकि इन दोनों स्थानों पर लक्षणा सादृश्य-संबंध के रूप में आई है।

["घी जीवन है" यह शुद्धा सारोपा लक्षणा का और (घी के स्थान पर केवल) "जीवन है" शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण है; क्योंकि घी और जीवन में सादृश्य-संबंध नहीं, किन्तु कार्य-कारण-भाव संबंध है। इसी तरह शुद्धा के भेदों में अन्य संबंधों के उदाहरण भी तर्कित किए जा सकते हैं।]

गौणी सारोपा लक्षणा का शाब्दबोध

गौणी सारोपा लक्षणा में—अर्थात् 'मुख-चंद्र' आदि (रूपक) में—विषयिवाचक चंद्र आदि शब्दों से लक्षणा द्वारा, 'चंद्र आदि के सदृश' इस आकार में अर्थों की उपस्थिति होती है। फिर उन अर्थों का, अभेद संबंध द्वारा, 'मुख' आदि (विषयवाचक) शब्दो द्वारा उपस्थित करवाए हुए 'मुखत्व' (मुख्य अर्थ के अवच्छेदक जातिरूप धर्म) आदि से युक्त मुख आदि अर्थों के साथ (अभेद संबंध द्वारा) अन्वय होता है। (तात्पर्य यह कि—'मुख-चंद्र' इसका पूरा अर्थ है 'चंद्र के सदृश (जो पदार्थ है उस) से अभिन्न मुख'; जिसे साधारण शब्दों में 'चंद्र के सदृश मुख' कहा जा सकता है।)

आप कहेंगे—यहां 'चंद्र' शब्द का अर्थ 'चंद्र के सदृश' क्यों किया जाता है, 'चंद्र की समानता' क्यों नहीं किया जाता—अर्थात् 'चंद्र' शब्द का सीधा अर्थ 'चंद्र की समानता'-रूप-धर्म न करके 'चंद्र के समान' (जिसका अर्थ है चंद्र की समानता से युक्त) अर्थ करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि धर्ममात्र में लक्षणा करने से काम चल जाय तो धर्मी तक दौड़ने में गौरव है। तो इसका उत्तर यह है कि—'समानता (सादृश्य)' आदि धर्मों के साथ 'मुख' आदि धर्मियों का अन्वय नहीं हो सकता। आप कहेंगे—क्यों नहीं हो सकता ? जिस तरह 'चंद्र के सदृश मुख' यह अर्थ मानने पर 'चंद्र' शब्द के अर्थ 'चंद्र के सदृश' के साथ 'मुख' का अभेद संबंध द्वारा अन्वय होता है, उसी तरह 'समानता' के साथ 'वैशिष्ट्य (युक्त होना)' संबंध द्वारा अन्वय हो जायगा। (अर्थात् जैसे आप वहाँ 'चंद्र के सदृश से अभिन्न मुख' यह अर्थ करते हैं, वैसे 'चंद्र की समानता से युक्त मुख' यह अर्थ हो सकता है) इसमें बाधा क्या हुई ? तो इसका उत्तर यह है कि—दो प्रातिपदिकार्थों का विशेष्य विशेषण होना अभेद के अतिरिक्त अन्य किसी संबंध द्वारा नहीं बन पाता—अर्थात् विशेष्य विशेषण होने के लिये प्रातिपदिकार्थों में अभेद संबंध ही होना चाहिए, ऐसा नियम है और बिना विशेषण विशेष्य माने दोनों पदों (मुख और चंद्र) में समान विभक्ति हो नहीं सकती। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'मुख चंद्र' (इस रूपक) का अर्थ 'चंद्र के सदृश से अभिन्न मुख' (और यदि साधारण शब्दों में कहो तो 'चंद्र के समान मुख') यह होता है।

उपमा और रूपक में क्या भेद है ?

पूर्वपक्ष

आप कहेंगे—यदि 'मुख चंद्र' इस रूपक में भी 'चंद्र के समान मुख' यह अर्थ होता है और 'चंद्र-समान मुख' इस उपमा में भी वही

अर्थ, तब इन दोनों में कुछ विलक्षणता तो हुई नहीं; फिर 'चंद्र-समान मुख' इस उपमा से 'मुखचंद्र' इस रूपक में भेद कैसे है ? अर्थात् उपमा और रूपक को क्यों भिन्न भिन्न दो अलंकार मानते हैं—एक ही क्यों नहीं मान लेते ? हम कहेंगे—बोध में विलक्षणता हो सकती है। कारण, जब 'मुख चंद्र' यों बोलते हैं तब 'चंद्र' शब्द का जो 'चंद्र के समान' अर्थ होता है वह एक पद ('चंद्र') का अर्थ है, अतः वहाँ 'चंद्र' और 'समान' इन दो पदार्थों का संबंध संसर्ग (दो पदों के अर्थों को परस्पर जोड़नेवाले संबंध) रूप से भासित नहीं होता; क्योंकि संसर्गरूप में भिन्न-भिन्न दो पदों के अर्थों के संबंध का ही भान हो सकता है। और जब 'चंद्र-समान मुख' इस तरह 'समान' शब्द का पृथक् प्रयोग करते हैं तो 'चंद्र' और 'समान' इन अर्थों के भिन्न भिन्न दो पदों द्वारा प्रतिपादित होने के कारण उनका संबंध संसर्गरूप से भासित होता है। तात्पर्य यह कि—रूपक में 'चंद्र' आदि का 'समान' के साथ संबंध संसर्गरूप में भासित नहीं होता और उपमा में वह संसर्गरूप से भासित होता है, अतः उपमा और रूपक के बोध में विलक्षणता हो जाती है। तो आप कहेंगे—यह ठीक नहीं। कारण, बोध में विलक्षणता हो जाने मात्र से उपमा और रूपक का भिन्न-भिन्न अलंकार होना सिद्ध नहीं हो सकता। अन्यथा **'मुखं-चंद्र इव**—चाँद सा मुख' इस जगह भी **'चंद्रसदृशं मुखम्**—चंद्र-समान मुख' इस उपमालंकार से भिन्न कोई अन्य अलकार मानना पड़ेगा, क्योंकि बोध की वैसी विलक्षणता तो यहाँ भी है। (देखिए उपमालंकार में 'मुख चन्द्र इव' और 'चन्द्रसदृश मुखम्' का शाब्दबोध) अतः बोध के विलक्षण हो जाने मात्र से पृथक् अलकार मानना उपपत्ति-रहित है।

उत्तरपक्ष

प्राचीनों के मत

प्रथम मत

इस विषय में कुछ लोगों का कथन है कि—यद्यपि रूपक (मुख-चंद्र) की उपमा (चंद्र-सा मुख) से स्वरूपज्ञान-रूप अंश—'चंद्र के समान मुख' इत्यादि—में विलक्षणता नहीं है, तथापि लक्षणा का प्रयोजन-रूप जो ताद्रूप्य (अभेद) का बोधरूपी अंश है, उसे लेकर विलक्षणता में कोई बाधा नहीं। और 'ताद्रूप्य के बोध' का अर्थ है विषय अर्थात् मुख आदि में विषयितावच्छेदक अर्थात् चन्द्रत्व आदि का बोध। (तात्पर्य यह कि अंततोगत्वा यद्यपि उपमा और रूपक दोनों का स्वरूपज्ञान एक सा ही होता है तथापि उपमा में वाचक-पद ('इव' आदि) द्वारा सादृश्य का निरूपण होता है और रूपक में लाक्षणिक पद ('चंद्र' आदि) द्वारा। और रूढि के अतिरिक्त लक्षणा बिना प्रयोजन के होती नहीं—यह नियम है, तदनुसार रूपक में लक्षणा का प्रयोजन होता है 'अभेद-ज्ञान' और उपमा में वह हो नहीं सकता; क्योंकि जब लक्षणा ही नहीं है तो प्रयोजन किसका हो। अतः यह सिद्ध हुआ कि—उपमा में केवल सादृश्य का ही बोध होता है और रूपक में अंततोगत्वा, लक्षणा के प्रयोजन रूप में व्यंजना द्वारा, अभेद का बोध होता है। यह है उपमा और रूपक के भिन्न-भिन्न अलंकार होने का बीज।)

आप कहेंगे—लक्षणा द्वारा होनेवाले भी तत्सदृश (चंद्र आदि के सदृश) के बोध से ताद्रूप्य (चंद्र आदि के अभेद) की प्रतीति होगी कैसे ? ऐसी प्रतीति के लिये कोई उपाय तो है नहीं। दूसरे (सादृश्य

के स्थल में) दोनों पदार्थों (मुख और चंद्र) के भेद का ज्ञान होने के कारण अभेद-ज्ञान में रुकावट भी आ जाती है, अन्यथा 'चंद्र समान मुख' इस स्थान पर भी तादूप्य की प्रतीति होने लगेगी। इसका उत्तर यह है कि—जिस प्रकार श्लेष के स्थल में (अनेक अर्थों के लिये) एक शब्द का ग्रहण होने के कारण उठी हुई व्यंजना (उन दो अर्थों के सादृश्य-ज्ञान अथवा अभेद-ज्ञान का) उपाय मानी जाती है; उसी प्रकार यहाँ भी (चंद्र और चंद्र-सदृश दो अर्थों के लिये) एक (चंद्र) पद के ग्रहण द्वारा उत्थित व्यंजना को उन दोनों के अभेद-ज्ञान का उपाय मान लिया जा सकता है। रही रुकावट की बात; सो व्यंजना द्वारा होनेवाले बोध में बाधका ज्ञान रुकावट नहीं डाल सकता। अतः आपकी शंका व्यर्थ है।

आप कहेंगे—यह सब ठीक। पर यहाँ एक पद (चंद्र) द्वारा गृहीत होते हैं 'चंद्र' और 'चंद्रसदृश' ये दो अर्थ; अतः पूर्वोक्त रीत्या 'चंद्रसदृश' में चंद्र का अभेद भले ही प्रतीत हो जाय; पर (मुख्य शब्द के वाच्य) 'मुखत्व से युक्त मुख' में चंद्र का अभेद कैसे प्रतीत हो सकता है? क्योंकि मुख पदार्थ तो चंद्र शब्द द्वारा गृहीत होता नहीं, और अनुभव-सिद्ध तो है '**वक्त्रे चन्द्रमसि स्थिते यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते**—अर्थात् मुख-चंद्र के विद्यमान रहते जो यह दूसरा चन्द्रमा उदय हो रहा है" इत्यादि में विषय में विषयी के तादूप्य की प्रीतति। सो व्यंजना द्वारा चद्र और चंद्र-सदृश का अभेद मान लेने पर भी विषय और विषयी के अभेद की प्रतीति तो सिद्ध हो सकी नहीं। हम कहते हैं—यह सच है; पर आप यह सोचिए कि—व्यंजना द्वारा चंद्र-सदृश में जब चंद्र का तादूप्य सिद्ध हो जायगा, तब (शाब्दबोध के नियमानुसार) चंद्र-सदृश और मुख के अभिन्न होने के कारण चंद्र-सदृश से अभिन्न मुख के साथ भी चंद्र का

अभेद सहज ही समझा जा सकता है; क्योंकि "जो जिसके अभिन्न से अभिन्न होता है वह उससे भी अभिन्न होता है" यह बात न्याय-सिद्ध है; अतः विषय में भी विषयी के तादूप्य की सिद्धि हो जाती है। सो कोई गड़बड़ नहीं।

(इस मत का सारांश यह है कि—उपमा और रूपक के स्वरूप-ज्ञान में यद्यपि भेद नहीं है, तथापि लक्षणा के प्रयोजन रूप में जो विषय और विषयी का अभेद-ज्ञान होता है, उसे लेकर इन दोनों में परस्पर भेद है, क्योंकि रूपक में अभेद-ज्ञान होता है और उपमा में नहीं।)

द्वितीय मत

(पर दूसरे विद्वान् कहते हैं कि—उपमा और रूपक में केवल लक्षणा के प्रयोजनरूप अभेदज्ञान को लेकर ही भेद नहीं है, किन्तु स्वरूप-ज्ञान को लेकर भी है। सुनिए—)

'चंद्र' आदि (विषयवाचक) पदों से, लक्षणा द्वारा, मुखादिक पदार्थों की उपस्थिति यद्यपि 'चद्र-सदृशत्व' रूप से ही होती है—अर्थात् हमें लक्षणा द्वारा 'चंद्र' शब्द का अर्थ 'चंद्र सदृश' ही प्रतीत होता है, मुख नहीं; तथापि मुख-आदि (विषयवाचक) पदों से उप-स्थित करवाए हुए 'मुखत्व से युक्त मुख' आदि पदार्थों के साथ जो, अभेद संबंध द्वारा, अन्वय-ज्ञान होता है, वह चंद्रत्वरूप से ही होता है 'चंद्र-सदृशत्व' रूप से नहीं। (सारांश यह कि—मुखचंद्र इस वाक्य के अर्थ की उपस्थिति 'चंद्र-सदृश मुख' इस रूप में होने पर भी अन्वय-ज्ञान 'चंद्र से अभिन्न मुख' इसी रूप में होता है। अर्थात् ऐसी जगह अर्थ की उपस्थिति अन्यरूप से होती है और अन्वय-ज्ञान अन्य रूप से।)

आप कहेंगे—ऐसा मानने पर तो, प्राचीनों के मत से, जो पहले 'मुख चंद्र' का 'चंद्र-सदृश से अभिन्न मुख' यह शाब्द-बोध लिखा है, वह बिगड़ जायगा और यह नियम भी बिगड़ जायगा कि—पदार्थ की उपस्थिति और शाब्द-बोध दानों का प्रकार (विशेषण) एक ही होता है।

आपकी इस शङ्का के समाधान के लिये दो बातों की कल्पना की जाती है। एक तो यह कि "उन-उन पदों ("चंद्र' आदि) की लक्षणा का ज्ञान, लक्ष्य पदार्थों ('चंद्र-सदृश आदि) के, ऐसे अन्वय-ज्ञान का कारण होता है, जिसमें उन उन पदों के शक्यतावच्छेदक ('चंद्रत्व' आदि) विशेषण-रूप से रहते हैं।" (अर्थात् यह नियम है कि 'चंद्र' आदि लाक्षणिक पदों के अर्थों ('चंद्र-सदृश' आदि) के अन्वय-बोध में 'चंद्र' आदि का शक्यतावच्छेदक 'चद्रत्व' आदि धर्म प्रविष्ट रहता है।) और दूसरी यह कि—"पदार्थ की उपस्थिति और शाब्दबोध दोनों का आकार समान होना चाहिए, इस नियम को लाक्षणिक ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञानों के विषय में मानना चाहिए; क्योंकि लाक्षणिक ज्ञान की अन्य ज्ञानों से विलक्षणता अनुभव-सिद्ध है।" इन दोनों नियमों के मानने से ही "गंगा में गाँव है" इस पूर्वोक्त उदाहरण में 'गंगा' पद के लक्ष्यार्थ—तटत्व रूप से भी उपस्थित तट—का 'गंगात्व' रूप से अन्वय-बोध, एवं उस 'गगात्व' को निमित्त मानकर होनेवाला शीतलता, पवित्रता आदि का बोध संगत हो सकता है। (अन्यथा यदि लाक्षणिक गंगा पद के अर्थ का शाब्दबोध केवल तट-रूप से ही हो तो उसके द्वारा शीतलता, पवित्रता आदि कैसे सिद्ध हो सकेंगी; क्योंकि तट में तो वे बातें हैं नहीं। अतः आपको उपर्युक्त दोनों नियम अवश्य मानने पड़ेंगे।)

प्रकृत उदाहरण 'मुख-चंद्र' में इसका फल है—विषय (मुख आदि) में विषयी (चंद्रादिक) में रहनेवाले असाधारण गुणों (कान्ति आदि)

से युक्त होने की प्रतीति। (अर्थात् इस तरह मानने से लक्षणा के प्रयोजन रूप में चंद्रादिक के असाधारण गुणों की मुखादिक में प्रतीति हो सकती है।) यदि ऐसा न मानो तो, बिना 'चंद्रत्व' की प्रतीति के आप मुख में उन गुणों से युक्त होने का ज्ञान सिद्ध नहीं कर सकते, जो कि चंद्रत्व में नियत हैं—चंद्रत्व के बिना कहीं नहीं मिलते। आप कहेंगे—ऐसा मानने पर, प्राचीनों ने जो तादूप्य-ज्ञान को लक्षणा का प्रयोजन माना है वह कैसे संगत हो सकता है? क्योंकि आप तो 'उपमान के असाधारण गुणों से युक्त होने' को लक्षणा का फल मान रहे हैं। तो इसका उत्तर यह है कि—प्राचीनों ने 'तादूप्य' पद से 'उपमान के असाधारण गुणों से युक्त होने' को ही कहा है—उनको उस पद का यही अर्थ अभिप्रेत है।

(इस मत का साराश यह है कि—रूपक में 'मुख-चंद्र' की पदार्थोपस्थिति 'चंद्र-सदृश मुख' यह होने पर भी शाब्दबोध का स्वरूप 'चंद्र-रूप मुख' यह होता है और उपमा में पदार्थोपस्थिति और शाब्दबोध दोनों 'चंद्र-सदृश मुख' इसी रूप में होते हैं और प्रयोजनज्ञान द्वारा होनेवाला भेद तो पहले मत में लिख ही दिया गया है।)

सो इस तरह उपमा से रूपक का स्वरूप-बोधकृत और प्रयोजन रूपमें प्रतीत बोधकृत दोनों प्रकार का भेद स्पष्ट ही है।

तृतीय मत

तीसरे विद्वान् कहते हैं कि ये दोनों ही बातें गड़बड़ हैं। बात असली यह है कि—उपमा का जीवनदाता है भेदमिश्रित सादृश्य और गौणी सारोपा लक्षणा—अर्थात् रूपक—का जीवनदाता है भेद-रहित सादृश्य। अर्थात् उपमा में बोध होता है 'चंद्र से भिन्न और चंद्र के सदृश' यह, और रूपक में होता है केवल 'चंद्र के सदृश' यही। सो इस तरह स्पष्ट भेद दिखाई देते हुए प्रयोजन द्वारा होनेवाली

विलक्षणता तक दौड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। और इस पक्ष में, 'जिसके अंदर भेद रहता है उस सादृश्य की प्रतीति का प्रयोजन ताद्रूप्य (अभेद) की प्रतीति कैसे हो सकती है (क्योंकि भेद और अभेद परस्पर विरोधी हैं)' इस गड़बड़ के हटाने के लिये परिश्रम भी नहीं करना पड़ता; अतः यह भी हमारे लिये अनुकूल है।

(कहने का सारांश यह कि—सादृश्य दो प्रकार का है; एक जिसमें भेद रहता है वह और दूसरा जिसमें भेद तिरोहित हो जाता है वह। उनमें से भेदवाला सादृश्य उपमा का मूल है और अभेदवाला रूपक का। अतः दोना जगह सादृश्य रहने पर भी उन सादृश्यों के भिन्न-भिन्न होने के कारण अलंकारो का भेद हो जाता है।)

सो इस तरह प्राचीनों का अभिप्राय मतभेदानुसार वर्णन कर दिया गया है।

नवीनों का मत

नवीन विद्वानों का तो कहना है कि—'मुख-चंद्र है' 'ग्रामीण (पुरुष) बैल है' इत्यादिक प्रयोगों में, 'चंद्र' आदि पदार्थों का 'मुख' आदि के साथ, बिना लक्षणा के ही, अभेद संबंध द्वारा, अन्वय हो सकता है—वहाँ बाधा क्या है कि जिसके लिये लक्षणा की जाय; अतः यहाँ न लक्षणा की आवश्यकता है न उससे प्रतिपादित सादृश्य की।

आप कहेंगे—भला, मुख का चंद्र होना और ग्रामीण (पुरुष) का बैल होना सर्वथा बाधित है—सरासर विरुद्ध है, फिर वहाँ अभेद संबंध द्वारा अन्वयज्ञान होगा कैसे? इसका उत्तर यह है कि—बाधा का निश्चय होने से जो-जो ज्ञान रुक जाया करते हैं उनके अवच्छेदक धर्म की कोटि में; जिस तरह 'आहार्य (बाधित समझते हुए कल्पित) ज्ञान से भिन्न' इतनी बात प्रविष्ट की जाती है; क्योंकि आहार्य-ज्ञान की बाधा के निश्चय से रुकावट नहीं होती उसी तरह 'शाब्द-

बोध से भिन्न' यह बात भी प्रविष्ट कर दी जानी चाहिए। (अर्थात् यह माना जाना चाहिए कि आहार्य-ज्ञान की तरह शाब्द-बोध में भी बाधा का निश्चय रुकावट नहीं डाल सकता।) अतएव "**अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि**—अर्थात् शब्द अत्यन्त असत्—बिलकुल झूठे—पदार्थ का भी बोध करवा देता है" यह प्राचीनों का कथन संगत हो सकता है।

आप कहेंगे—यदि ऐसा माना जाय तो 'आग से सींचता है' इस वाक्य से भी शाब्दबोध होने लगेगा। तो इसका उत्तर यह है कि—इस जगह योग्यता के ज्ञान का अभाव है—सींचे जाने की योग्यता का आग में होना हमारी समझ में नहीं आता, क्योंकि 'सींचना' किसी तरल पदार्थ का हो सकता है, आग-आदि पदार्थों का नहीं। अतः ऐसी जगह शाब्द-बोध नहीं होता। परन्तु 'मुख चंद्र' और 'ग्रामीण बैल' इत्यादि को तो हम अभीष्ट चमत्कार के सिद्ध करनेवाले समझते हैं—हमें बोध है कि ऐसे प्रयोगों में एक विशेष प्रकार का चमत्कार है। अतः ऐसे स्थलों पर, इस समझ के वशीभूत इच्छा के विद्यमान होने से, योग्यता के आहार्य (बाधित होते हुए भी कल्पित) ज्ञान का साम्राज्य हो जाता है—अर्थात् अपने अभीष्ट-चमत्कार की सिद्धि के लिये हम योग्यता के आहार्य-ज्ञान के अधिकार में आकर वास्तविक ज्ञान की परवा नहीं करते। सो बाधा कुछ रुकावट नहीं डालती। अतएव प्राचीन विद्वानों का योग्यताज्ञान को शाब्द-बोध में कारण बतलाना संगत हो जाता है, क्योंकि यहाँ योग्यता का आहार्यज्ञान है।

अथवा आहार्य योग्यता-ज्ञान मानने की अपेक्षा भी सीधा रास्ता यह है कि—'मुख-चंद्र' आदि स्थलों में अभेद द्वारा अन्वय-ज्ञान को ही आहार्य मान लिया जाना चाहिए अर्थात् ऐसी जगह बाधित होने पर भी इच्छया अन्वय-ज्ञान कर लिया जाता है। ऐसा करने से जिन

ज्ञानों में बाधा का निश्चय रुकावट डालता है, न तो उनकी श्रेणी में 'शाब्द-बोध से भिन्न होना' अपेक्षित रहता है और न योग्यता ज्ञान को शाब्द-बोध का कारण मानना—भले ही ये दोनों बातें न मानी जायँ। एवं 'आहार्य-बोध केवल प्रत्यक्ष ही होता है' इस नियम की भी कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि उस ज्ञान को शब्दजन्य मानने में भी कोई बाधा नहीं है। (सो मुख-चंद्र' आदि में बिना लक्षणा के ही 'चंद्र से अभिन्न मुख' यह अर्थ हो सकता है; अतः लक्षणा मानना अनावश्यक है।)

विचारने से यह बात उचित भी प्रतीत होती है। देखिए, आपके अभीष्ट 'मुख-चंद्र' आदि—सारोप लक्षणा के उदाहरण—में, आपको, अवश्यमेव दो वाच्यार्थों (मुख और चंद्र) का ही अभेदान्वय स्वीकार करना पड़ेगा, न कि वाच्य (मुख) और लक्ष्य (चंद्र-सदृश) का। क्योंकि आप यदि वाच्य और लक्ष्य का अभेदान्वय मानने लगें तो प्राचीनों ने—

"राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम्—अर्थात् राज-नारायण आपका लक्ष्मी दृढ़ आलिंगन कर रही है—वह आपको कभी नहीं छोड़ती।"

इस जगह 'राजनारायण' शब्द में रूपक सिद्ध करने के लिये जो यह अनुपपत्ति बताई है कि—"यदि यहाँ रूपक न मानो तो राजा के साथ लक्ष्मी का आलिंगन नहीं बन सकता; क्योंकि लक्ष्मी के आलिंगन के लिये (राजा को) नारायण से अभिन्न होने की आवश्यकता है, न कि नारायण के सदृश होने की।" और इसी तरह—

'पदाम्बुजं भवतु वो विजयाय मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहर-मम्बिकायाः—अर्थात् जो, नूपुरों के सुंदर शब्द से चित्त चुरा लेने-वाला है वह अम्बिका का चरण-कमल आप लोगों के विजय के लिए हो—आपको विजय प्रदान करे।"

इस जगह यह अनुपपत्ति बताई है कि यहाँ यदि 'चरण-कमल' का अर्थ 'कमल के समान चरण' न लिया जाय—अर्थात् उपमा न मानकर रूपक मान लिया जाय—तो 'नूपुरों के सुंदर शब्द से चित्त चुरा लेने-वाला' यह 'चरण-कमल' का विशेषण नहीं बन सकता; क्योंकि नूपुर पैर में पहने जाते हैं, कमल में नहीं।

कहने का तात्पर्य यह कि—ऐसे ऐसे स्थलों में उपमा और रूपक के निर्णय के लिये जो अनुपपत्ति लिखी गई है, वह सर्वथा विरुद्ध हो जायगी। कारण, लक्ष्य अर्थ तो उपमा और रूपक दोनों में वही 'तत्सदृश' (चंद्र-सदृश आदि) होता है। ऐसी स्थिति में पहले पद्य में उपमा की तरह रूपक के स्वीकार करने पर भी बाधक (लक्ष्मी द्वारा आलिंगन न किया जा सकना) समान है, अतः बाधक को रूपक का निर्णायक बताना असंगत हो जाता है। इसी तरह दूसरे पद्य में रूपक स्वीकार कर लेने पर भी (आपके हिसाब से 'पादाम्बुज' का अर्थ 'कमल के सदृश चरण' है, अतः कोई बाधक न रहने के कारण 'नूपुरों के सुंदर शब्द' को रूपक का निवर्त्तक बताना नहीं बन सकता। (सो आपको विवश होकर यही मानना पड़ेगा कि प्राचीनों की रीति से भी वाच्य अर्थों (चंद्र और मुख) का ही अभेदान्वय होता है वाच्य (मुख) और लक्ष्य (चंद्र-सदृश) का नहीं, अन्यथा उपर्युक्त अनुप-पत्तियाँ शिथिल हो जायँगी।)

आप कहेंगे—(राज-नारायण आदि दृष्टान्तों द्वारा) 'मुख-चंद्र' आदि समास के स्थल में, कहीं, पूर्वोक्त रीति से भले ही बिना लक्षणा के बोध की सिद्धि मान ली जाय; पर जहाँ दोनों शब्दों का पृथक्-पृथक् प्रयोग होगा, समास नहीं होगा, वहाँ तो लक्षणा मानने में कोई बाधक है नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त अनुपपत्तियाँ समास-स्थल में ही दिखाई गई हैं। तो इसका उत्तर यह है कि "**कृपया सुधया सिञ्च हरे मां**

तापमूर्च्छितम्—हे हरे ! (सांसारिक-) ताप से मूर्च्छित मुझे कृपा (-रूपी) सुधा से सींचिए ।" इत्यादि प्रयोगों में, बिना समास के भी, वही अड़चन उपस्थित हो जाती है, क्योंकि सींचा जा सकता है 'सुधा' से, न कि कृपा से; कृपा कुछ पानी की तरह तरल तो है नहीं। सो बिना समास के भी आपको वाच्य-अर्थों का ही अभेदान्वय मानना पड़ेगा, वाच्य और लक्ष्य का नहीं; क्योंकि जब तक कृपा-आदि को सुधा-आदि से अभिन्न न माना जाय तब तक उसका सींचने के साथ अन्वय नहीं हो सकता ।

यदि आप कहें कि—ऐसी जगह 'सींचने' में भी लक्षणा द्वारा अध्यवसान मानिए और तब 'सींचने' को उपमानरूप समझकर उसके द्वारा उपमेय ('करने') को निगीर्ण समझिए—अर्थात् जैसे अतिशयोक्ति में 'चंद्र' शब्द से 'चंद्र और मुख' ये दोनों अर्थ गृहीत होते हैं, वैसे यहाँ भी 'सींचने' शब्द से 'सींचने' और 'करने' दोनों अर्थों का ग्रहण है यह मान लीजिए । इस तरह मानने से पूर्वोक्त पद्य का अर्थ होगा कि—'हे हरे ! आप ताप से मूर्छित मेरे ऊपर सुधा से सींचने के समान कृपा करिए' । अतः लक्षणा मानने पर भी बिना समास के स्थलों में कोई अड़चन नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि—उत्प्रेक्षादि एकाध अलंकार के अतिरिक्त अतिशयोक्ति, अपह्नुति आदि अन्य सब अलंकारों में जिस तरह आहार्यज्ञान से ही काम बन जाता है, उसी तरह यहाँ भी आहार्य-ज्ञान से ही काम बन जाने पर 'सींचने' में लक्षणा मानने के लिये कोई कारण नहीं और लक्षणा मानना अनुभव से विरुद्ध भी है ।

इतने पर भी यदि आपको हमारे इस अनुभव के मानने में कोई आपत्ति हो तो हम आपसे एक दूसरी बात पूछते हैं। सुनिए । प्राचीनों का सिद्धांत है कि—रूपक में उपमान-वाचक चंद्र आदि पद की 'उपमान के सदृश' अर्थ में लक्षणा होती है—अर्थात् 'चद्र' का 'चंद्र सदृश' अर्थ होता है।

तो ऐसी दशा में लक्ष्य अर्थ ('चंद्रसदृश' आदि) का अवच्छेदक धर्म हुआ 'सादृश्य'। वह सादृश्य समानधर्मरूप होता है। अब यह कहिए कि—वह समानधर्म लक्ष्य अर्थ के भाग में 'सुंदरता' आदि विशेषरूप से प्रतीत होता है अथवा सामान्य रूप से—अर्थात् केवल सादृश्य के रूप में?

यदि आप कहें कि—विशेष रूप से प्रतीत होता है। तब तो 'सुंदर मुखचंद्र' इत्यादि में पुनरुक्ति हो जायगी, क्योंकि जब आप 'सुंदरता' को ही लक्ष्य अर्थ का अवच्छेदक मानते हैं तब 'चंद्र के समान सुंदर मुख' इतना अर्थ तो 'मुखचंद्र' का ही हो गया, फिर यह मुख का विशेषण 'सुंदर' शब्द निरर्थक है। आप कहेंगे ऐसी जगह—जहाँ 'सुंदरता' आदि समान धर्म का स्पष्ट शब्दों में ग्रहण हो वहाँ, उस धर्म से भिन्न धर्म को ही लक्ष्य अर्थ के अवच्छेदक सादृश्य के रूप में मानेंगे—अर्थात् जिस धर्म (सुंदरता आदि) का स्पष्ट शब्दों में ग्रहण होगा उसे छोड़कर अन्य धर्म—'गौरता' आदि—को लक्ष्यतावच्छेदक मानेंगे। तात्पर्य यह कि 'सुंदर मुखचंद्र' का अर्थ 'चाँद सा सुंदर सुंदर मुख' न मानकर 'चाँद सा गोरा सुंदर मुख' इत्यादि मानेंगे; तो हम कहते हैं—यह अनुभव से विरुद्ध है।

इस अनुभव के विषय में भी आप कुछ आनाकानी करें तब भी आपको इस बात में तो कोई आपत्ति हो नहीं सकती कि—

"अक्षितान्यचसंघातैः सरोगाणि सदैव हि।
शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः॥

इसमें कोई संदेह नहीं कि देहधारियों के देह कमल हैं: क्योंकि ये भी 'अक्षों' (एकत्र—इंद्रियों; अन्यत्र—कमलगट्टों) के समूहों से चिह्नित हैं और वे भी; और ये भी 'सरोग' (एकत्र—रोगों से युक्त; अन्यत्र—सरोवर में रहनेवाले) हैं और वे भी।"

इत्यादिक उदाहरणों में श्लेष के सहारे 'अक्ष' और 'सरोग' शब्दों के भिन्न-भिन्न दो अर्थों का अभेद मानकर एकरूप समझे हुए 'अक्ष-समूहों से चिह्नित होने' और 'सरोग होने' के अतिरिक्त (शरीरों और कमलों में) अन्य किसी समान धर्म की सर्वथा स्फूर्ति नहीं होती। (अर्थात् 'सुंदर मुखचंद्र' में तो आप गौरता आदि किसी अन्य विशेष धर्म को ही सादृश्य रूप मान लेंगे, पर ऐसे स्थलों में तो शरीर आदि उपमेय और कमल आदि उपमान में एक समान धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई समान धर्म प्रतीत ही नहीं होता। यदि आप उसे लक्ष्यतावच्छेदक धर्म न मानें तो दूसरा समान धर्म लावेंगे कहाँ से ? और यदि लक्ष्यतावच्छेदक मानें तो पुनरुक्ति हुए बिना न रहेगी। अतः लक्ष्यतावच्छेदक सादृश्य की प्रतीति विशेष धर्म के रूपमें मानना अनुचित है।)

अब यदि आप कहें कि—हम सादृश्य की विशेष रूप से प्रतीति नहीं मानते, किंतु सामान्य रूप से—अर्थात् केवल सादृश्य के रूप में—मानते हैं; तो यह भी नहीं बन सकता। यह नियम है कि—जिस तरह लाक्षणिक पद से लक्ष्य अर्थ प्रतीत होता है उसी तरह लक्ष्यतावच्छेदक धर्म भी प्रतीत होता है। सो लक्ष्यतावच्छेदक—सादृश्य—के शब्द द्वारा गृहीत होने के कारण रूपक के स्थल में उपमा होने लगेगी। यदि आप कहें कि—जहाँ सादृश्य वाच्य होता है वहीं उपमा होती है, अन्यत्र—अर्थात् लक्ष्य होने पर—नहीं; तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि यदि ऐसा मानोगे तो **"नलिनप्रतिपक्षमाननम् (कमल का शत्रु मुख)"** इत्यादिक में भी उपमा न हो सकेगी। कारण, वहाँ भी सादृश्य 'प्रतिपक्षशत्रु' शब्द का वाच्य नहीं, किंतु लक्ष्य है। और ऐसी जगह मानते हैं सभी विद्वान् उपमा।

अतः सिद्ध हुआ कि आप रूपक में सादृश्य का प्रतीत होना सामान्य अथवा विशेष किसी भी रूप से सिद्ध नहीं कर सकते।

अच्छा, अब एक बात और सुनिए—

"विद्वन्मानसहंस, वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते,
दुर्गामार्गणनीललोहित, समित्स्वीकारवैश्वानर ।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष, विजयप्राग्भावभीम, प्रभो,
साम्राज्यं वरवीर, वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥

हे विद्वानों के हृदयरूपी मानसरोवर के हंसरूप—अर्थात् उसमें सर्वदा विहार करनेवाले, हे वैरियों की लक्ष्मी की न्यूनतारूपी कमलों के विकास के लिये सूर्यरूप, हे (युद्ध के लिये) किला न ढूँढ़ने रूपी पार्वती के ढूँढ़ने में शिवरूप, हे युद्धरूपी समिधा के स्वीकार करने में अग्निरूप, हे सत्यप्रेमरूपी सती (महादेवजी की प्रथम पत्नी) की अप्रीति करने के लिये दक्षरूप, हे शत्रुओं के पराजयरूपी अर्जुन से पहले उत्पन्न होने में भीम (भीमसेन + भयंकर) रूप, वीरश्रेष्ठ राजन्! आप ब्रह्माजी के सौ वर्षों तक उन्नतरूपेण साम्राज्य करते रहिए।"

ऐसी जगह 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादिक पदों में आए हुए श्लिष्ट-परंपरित रूपक में श्लेषमूलक अभेद मान लेने से—अर्थात् 'हृदय' आदि और 'मानसरोवर' आदि को एक शब्द ('मानस' आदि) द्वारा गृहीत होने के कारण एक मान लेने से—'राजा' और 'हंस' दोनों की 'मानसवासी होना'-रूपी समानता सिद्ध होने पर, राजा में, सदृश-लक्षणा-(गौणी)-मूलक हंस के रूपक की सिद्धि होती है। अर्थात् जब 'मानस' शब्द के दोनों अर्थों को अभिन्न माना जाय तभी राजा को 'हंस' रूप कहा जा सकता है, और जब राजा में हंसरूपता सिद्ध हो जाय तब (एक शब्द द्वारा) 'सरोवर' और 'मन' रूपी दो अर्थों का कथन जिसका परिचायक है वह 'श्लेष' सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि—जब 'मानस' शब्द के दो अर्थ किए जायँ तब राजा हंसरूप कहा जा सकता है और जब राजा को हंसरूप माना जाय तब 'मानस' शब्द

के दो अर्थ किए जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। सो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। बात यह है कि—जब तक रूपक (राजा की हंस-रूपता) की स्फूर्ति नहीं होगी तब तक 'मानस' शब्द के 'सरोवर' रूपी अर्थ में भी वक्ता का तात्पर्य है—इस बात को समझाने के लिये कोई प्रमाण सामने नहीं आता। पर जब रूपक की स्फूर्ति हो जाती है तब उसके सिद्ध करनेवाले सादृश्य की अन्य किसी प्रकार सिद्धि न हो सकने के कारण, अन्यथानुपपत्ति-रूपी प्रमाण से, जिसका फल है दोनों अर्थों का अभेद-ज्ञान और जिसका रूप है दोनों अर्थों का प्रतिपादन, वह, श्लेष सिद्ध होता है। अर्थात् ऐसे स्थानों में श्लेष तभी सिद्ध हो सकता है जब कि पहले रूपक सिद्ध हो चुके।

अतः यह सिद्ध हुआ कि रूपक के स्थल में वाच्य-अर्थों के अभेदान्वय की पद्धति ही सुंदर है; सदृश-लक्षणा मानना नहीं।

और जो यह कहा जाता है कि—रूपक में सदृश-लक्षणा का फल तादूप्य का बोध है सो भी हृदयंगम नहीं। कारण; यदि ऐसा ही हो तो 'तत्सदृश (उसके सदृश)' इस शब्द से सादृश्य का बोध होने पर भी तादूप्य का बोध होने लगेगा।

सो अंततोगत्वा यही सिद्ध होता है कि रूपक में वाच्यार्थों का अभेद मानना ही उचित है। सदृश-लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

नवीनों के मत का खंडन

इस नवीनों के मत के विषय में निम्न-लिखित विचार किया जाता है—

सबसे पहले तो नवीनों की तरफ से यह कहा जाता है कि—"दो प्रातिपदिकार्थों (मुख आदि और चंद्र आदि) के अभेदान्वय के ज्ञान से ही काम चल जाता है, अतः रूपक में लक्षणा नहीं है" इस विषय में हमारा यह कहना है कि—किसी चमत्कारयुक्त साधारण (आह्लाद-

कता आदि) धर्म की उपस्थिति न होने की दशा में जिस तरह उपमालंकार या तो सिद्ध ही नहीं होता और यदि किसी तरह सिद्ध हो गया तो उसमें चमत्कार नहीं होता, ठीक वही हाल रूपकालंकार का भी है—उसकी सिद्धि के लिये भी किसी चमत्कारी साधारण धर्म की आवश्यकता रहती है, यह बात सभी सहृदयों की मानी हुई है। यदि ऐसा न हो तो "भारतं नाकमण्डलम्—अर्थात् भारत (महाभारत अथवा भारतवर्ष) स्वर्गप्रदेश है" और "नगरं विधुमण्डलम्—अर्थात् नगर चंद्रमा का बिंब है" इत्यादि वाक्यों के सुनने के अनंतर लोगों को रूपक का बोध जागरित नहीं होता—वे कह देते हैं कि 'भाई, यह तो तुम्हारा रूपक बना नहीं'। पर इन्हीं पूर्वोक्त वाक्यों के साथ जब हम, यथाक्रम, **सुपर्वालंकृत** (स्वर्ग के पक्ष में—देवताओं; भारत (महाभारत) के पक्ष में सुन्दर पर्व आदि, सभा, वन, विराट आदि से और भारतवर्ष के पक्ष में सुन्दर पर्वों—त्योहारों—से सुशोभित)" और "**सकलकल** (चंद्रमा के पक्ष में—सब कलाओं; नगर के पक्ष में सब कलाओं अथवा कोलाहल से युक्त)" ये शब्द जोड़ दें तो सबको रूपक का बोध हो जाता है—वे कह उठते हैं कि 'हाँ अब रूपक बन गया।' यह बात क्यों होती है? अतः यह सिद्ध होता है कि 'साधारणधर्म' की उपस्थिति होने पर ही रूपक सिद्ध होता है अथवा रूपक में चमत्कार आता है, अन्यथा नहीं।

यही बात 'मुखचंद्र' आदि प्रसिद्ध उदाहरण में भी है—वहाँ भी साधारण धर्म (आह्लादकता आदि) की उपस्थिति होने पर ही रूपक का बोध जागरित होता है। हाँ इतनी विशेषता अवश्य है कि प्रसिद्ध उदाहरण में साधरण धर्म प्रसिद्ध होने के कारण अपने बोधक शब्द के श्रवण की अपेक्षा नहीं रखता—अर्थात् 'मुखचंद्र' आदि में साधारण धर्म का बोधक शब्द रहे या न रहे, प्रसिद्ध होने के कारण साधारण धर्म का बोध अपने-आप हो जाता है; पर अप्रसिद्ध उदाहरणों में वह धर्म अप्रसिद्ध होने के कारण अपने बोधक शब्द के श्रवण की अपेक्षा

रखता है—अर्थात् वहाँ साधारण धर्म का बोधक शब्द अवश्य आना चाहिए।

ऐसी अवस्था में हम आपसे पूछते हैं कि—'साधारण धर्म से युक्त होना'-रूपी सादृश्य यदि रूपक के मध्य में प्रवेश न करे, तब किसी विशेष प्रकार के धर्म की उपस्थिति न होने की दशा में रूपक क्यों नहीं पूरा होता अथवा चमत्कार क्यों नहीं उत्पन्न कर सकता? ऐसी जगह उपमान और उपमेय में, किसी दूसरे (सादृश्य आदि) की अपेक्षा किए बिना ही पूर्ण हो जानेवाले, (आपके माने हुए) आहार्य अभेद-ज्ञान का तो साम्राज्य रहता है—उसमें तो कोई बाधा है नहीं, फिर अपूर्णता क्यों?

यदि आप यह कहना चाहें कि—दो पदार्थों के आहार्य अभेदज्ञान में अथवा उसके चमत्कार में किसी साधारण धर्म का ज्ञान प्रयोजक रहता है—अर्थात् साधारणधर्म के होने पर ही अभेद-ज्ञान होता है; तो यह कह नहीं सकते; क्योंकि—

"यद्यनुष्णो भवेद्वह्निर्यद्यशीतं भवेज्जलम्।
मन्ये दृढव्रतो रामस्तदा स्यादप्यसत्यवाक्॥

अर्थात् यदि आग उष्णता-रहित हो जाय और यदि जल शीतलता-रहित हो जाय तो, संभावना करता हूँ कि, सत्य-प्रतिज्ञ राम मिथ्याभाषी हो भी जायँ।"

इत्यादिक स्थलों में साधारण धर्म का बोध न होने पर भी आग में 'उष्णता-रहित होने' आदि के अभेद की प्रतीति हो जाती है।

आप कहेंगे—उपमान और उपमेय के स्थल में ही यह नवीन विशेषता है कि वहाँ आहार्य अभेद-ज्ञान में भी किसी साधारण धर्म की प्रयोजकता अपेक्षित है; तो इसका उत्तर यह है कि इस तरह की विशे-षता की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं, क्या कारण कि ऐसी विशेषता

मानी जाय ? यदि आप कहें कि मुख और चंद्र में अभेद-ज्ञान बिना साधारणधर्म को प्रयोजक माने हो नहीं सकता, अतः ऐसा मानना पड़ता है; तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि 'मुख यदि चंद्रमा होता तो पृथ्वी पर नहीं रह सकता' इत्यादिक स्थलों में, साधारण धर्म (आह्लादकता आदि) की अनुपस्थिति की दशा में भी आहार्य अभेद ज्ञान स्वीकार किया जाता है। (अन्यथा मुख और चंद्र का अन्वय ही न हो सकेगा; क्योंकि दो प्रातिपदिकार्थों में अभेद से अतिरिक्त अन्य किसो संबंध द्वारा अन्वय नहीं होता, यह नियम है। अतः यह सिद्ध हुआ कि—'मुखचंद्र' आदि में भी, साधारण धर्म की उपस्थिति के बिना भी, अभेद-ज्ञान हो सकता है; पर सादृश्य-ज्ञान के अभाव में केवल अभेदज्ञान से रूपक सिद्ध न होने के कारण रूपक की सिद्धि में अपेक्षित सादृश्य के बोध के लिये लक्षणा का मानना आवश्यक है।)

आप कहेंगे—यदि रूपक की प्रतीति में उपमान का अभेद न आता हो—अर्थात् बिना उपमान और उपमेय के अभेद-ज्ञान के ही रूपक बन जाता हो तो "**सिंहेन सदृशो नायं किंतु सिंहो नराधिपः**—अर्थात् यह राजा सिंह के सदृश नहीं, किन्तु सिंह है" इत्यादि में निषेध किए जानेवाले (सिंह के सादृश्य) और विधान किए जानेवाले (सिंहत्व) दोनों की असंगति होगी—अर्थात् सिंह के समान होने का निषेध और सिंह होने का विधान दोनों न बन सकेंगे; क्योंकि लक्षणा करने पर तो 'सिंह' का अर्थ भी 'सिंह के समान' ही होगा। तो इसका उत्तर यह है कि—अभी थोड़ा पहले ही प्राचीनों के भी (अन्तिम) दो मतों में रूपक में ताद्रूप्य (अभेद) के ज्ञान का स्वीकार प्रतिपादित किया जा चुका है।

यदि आप कहें कि—प्राचीनों के मत के अनुसार तो, पूर्वोक्त पद्य में सिंह शब्द के लाक्षणिक होने के कारण, विधेयकोटि—अर्थात् 'किंतु सिंह

है' इस भाग—में सादृश्य भी प्रविष्ट है, अर्थात् इस 'सिंह' शब्द का अर्थ भी 'सिंहके सदृश' ही होता है, अतः फिर भी निषेध—'सिंह के सदृश नहीं है'—की अनुपपत्ति ज्यों-की-त्यों रह जाती है। (तात्पर्य यह कि—'सिंह' शब्द में लक्षणा मानने से, पूर्वोक्त पद्य का अर्थ 'सिंह के सदृश नहीं है किंतु सिंह के सदृश है' होगा, जो कि सर्वथा अनुपपन्न है।) तो इसका उत्तर यह है कि—यहाँ, जिसका स्वरूप 'भेद-मिश्रित सादृश्य' है उस उपमा का ही निषेध है और भेद-रहित सादृश्य के रूप में लक्षित होनेवाले रूपक का विधान है। (सारांश यह कि—ऐसे स्थलों में भेदमिश्रित सादृश्य का निषेध और भेद रहित सादृश्य का विधान होने के कारण किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं।)

यह तो हुई सादृश्य के बिना काम न चलने की बात। अब आप अपनी दूसरी बात लीजिए। आपने प्रथमतः यह दोष दिया है कि—रूपक मे लक्षणा स्वीकार करने पर प्राचीनों का "राजनारायणम्०" इस जगह 'लक्ष्मी द्वारा किए जानेवाले आलिंगन' को उपमा का बाधक और रूपक का निर्णायक मानना, एवं "पादाम्बुजम्०" इस जगह 'सुंदर नूपुरों से निनादित होने' को रूपक का बाधक और उपमा का निर्णायक मानना, विरुद्ध हो जायगा। सो यह भी नहीं।

कारण, पहले (प्राचीनों के द्वितीय मत में) यह सिद्ध किया जा चुका है कि—रूपक में 'चंद्रसदृश' आदि की प्रतीति 'चंद्रत्व' आदि के रूप से होती है। अतः 'राजनारायणम्' इत्यादि में* विशेषणसमास के अधीन रूपक के स्वीकार करने पर उत्तरपदार्थ (नारायण) के प्रधान होने के कारण नारायणसदृश की भी नारायणत्व के रूप से ही

---

* "मयूरव्यंसकादयश्च" (२।१।७१) इस पाणिनीय सूत्र द्वारा किया जानेवाला समास 'विशेषण समास' कहलाता है।

प्रतीति होती है। इस कारण 'राजनारायणम्' को 'लक्ष्मी द्वारा किए जानेवाले आलिंगन' का कर्म मानने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं रहती। और यदि 'राजनारायणम्' में, *उपमित-समास के अधीन, उपमा का स्वीकार किया जाय तो पूर्व पदार्थ 'राजा' के प्रधान होने के कारण उसकी राजत्व के रूप से ही प्रतीति होगी; अतः वह 'लक्ष्मी द्वारा किए जानेवाले आलिंगन' का कर्म नहीं बन सकता। इसी तरह "पादाम्बुजम्०" इत्यादि में भी जो रूपक का स्वीकार किया जाय तो उत्तरपदार्थ प्रधान हो जायगा, अतः 'अंबुज-सदृश' की भी 'अंबुजत्व' रूप से ही प्रतीत होगी, और तब वहाँ 'सुंदर नूपुरों के निनादों से मनोहर होना' नहीं बन सकेगा। पर उपमित-समास के अधीन उपमा मानने पर तो प्रधान 'चरण' की 'चरणत्व' के रूप में ही प्रतीति होगी, 'अतः सुंदर नूपुरों के निनादों से मनोहर होने' के सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं।

(सारांश यह कि—रूपक विशेषण-समास के अधीन होता है और उसमें अंतिम पद के अर्थ की प्रधानता रहती है। सो इस तरह 'राजनारायण' शब्द में नारायण शब्द का अर्थ प्रधान हो जाता है और ऐसा होने पर ही 'लक्ष्मी द्वारा आलिंगन' बन सकता है, 'राजा' पद के अर्थ के प्रधान होने पर नहीं। अतः पूर्वोक्त 'आलिंगन के कर्म' होने को उपमा का बाधक और रूपक का निर्णायक मानना उचित ही है। इसी प्रकार उपमा उपमित-समास के अधीन होती है और उसमें पूर्व-पद के अर्थ की प्रधानता रहती है। इस तरह 'पादांबुज' शब्द में 'पाद' शब्द का अर्थ प्रधान हो जाता है और ऐसा होने पर ही उसका

---

* 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (२।१।५६) इस पाणिनीय सूत्र द्वारा होनेवाला समास, 'उपमित-समास' कहलाता है।

'सुंदर नूपुरों के निनादों से मनोहर होना' बन सकता है, 'अंबुज' पद के अर्थ के प्रधान होने पर नहीं। अतः 'निनादों से मनोहर होने' को रूपक का बाधक मानना और उपमा का निर्णायक मानना भी उचित है। सो प्राचीनों के मत में कोई दोष नहीं।)

आप कहेंगे—'उपमित समास' में पूर्वपद के अर्थ चरण-आदि की चरणत्व आदि के रूप में ही प्रतीति होती है' यह कथन उचित नहीं, क्योंकि जिस तरह "वक्त्रे चंद्रमसि स्थिते यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते" इस पूर्वोक्त रूपक में, 'चंद्र-सदृश' में 'चंद्र' का ताद्रूप्य मान लेने पर, 'चंद्रसदृश' के साथ मुख का अभेदान्वय होने के कारण, मुख में भी चंद्र का ताद्रूप्य आप स्वीकार कर चुके हैं; उसी प्रकार यहाँ भी 'अम्बुजसदृश' में 'चरण' का अभेदान्वय होने के कारण 'चरण' में भी 'अबुजताद्रूप्य' हो जाना चाहिए। और ऐसी दशा में वह अनुपपत्ति फिर ज्यों-की-त्यों रह जाती है। तो यह शंका उचित नहीं, क्योंकि आगे इस बात का प्रतिपादन किया जानेवाला है कि—उपमितसमास में भेदमिश्रित सादृश्य लक्ष्य पदार्थ की कोटि में प्रविष्ट रहता है; पर विशेषण समास में सादृश्य भेद-रहित होता है। अतः दोनों समासों में लक्षणा के समान रूप में होने पर भी उपमा और रूपक में विलक्षणता हो जाती है।

अच्छा, अब तीसरी बात लीजिए। आपका तीसरा दोष यह है कि—लक्ष्यतावच्छेदक सादृश्य विशेष रूप (सुंदरता आदि) से तो प्रतीत नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा मानने से 'सुंदर-मुखचंद्र' इत्यादि में पुनरुक्ति हो जायगी, अतः सादृश्य की प्रतीति सामान्य रूप से माननी पड़ेगी, और ऐसा मानने पर सादृश्य के शब्द द्वारा गृहीत होने के कारण ऐसे स्थलों में उपमा होने लगेगी, रूपक नहीं हो सकेगा। सो यह भी उचित नहीं। कारण, रूपक में लक्ष्य अर्थ भेद से अमिश्रित साद-

श्य से युक्त होता है, अतः ऐसी जगह उपमा का निर्देश नहीं हो सकता, क्योंकि "**सादृश्यमुपमा भेदे**—अर्थात् भेद रहते हुए जो सादृश्य होता है उसे उपमा कहा जाता है" यह प्राचीनों का सिद्धांत है।

आप कहेंगे—जब भेद से मिश्रित और अमिश्रित दोनों प्रकार का सादृश्य लक्षणा द्वारा प्रतिपादित किया जा सकता है, तब भेद से मिश्रित अथवा अमिश्रित सादृश्य से युक्त अर्थों में से किसी के भी विषय में प्रयोग करना तो केवल वक्ता की इच्छा के अधीन रहा। ऐसी दशा में जहाँ वक्ता 'मुखचंद्र' इस वाक्य में 'चंद्र' शब्द का 'भेद-मिश्रित सादृश्य से युक्त' अर्थ में प्रयोग करे—अर्थात् वक्ता जब यह कहे कि हमने तो यहाँ भेद-घटित सादृश्य के विषय में प्रयोग किया है—तब 'मुखचंद्र' में उपमालंकार माने बिना गुजारा नहीं। सो यह आपत्ति पुनः ज्यों-की-त्यों रही। तो इसका उत्तर यह है कि—भेद-घटित सादृश्य के प्रतिपादन की इच्छा होने के समय, शब्द का, 'भेद-घटित सादृश्य से युक्त अर्थ' के विषय में लक्षणा द्वारा प्रयोग विरुद्ध है—अर्थात् भेद-घटित सादृश्य के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि लक्षणा ताद्रूप्य के प्रतिपादन की इच्छा के अधीन है—अर्थात् जब ताद्रूप्य का प्रतिपादन करना हो तभी लक्षणा की जा सकती है, अन्यथा नहीं। कारण, किसी प्रयोजन के उद्देश्य बिना, शिष्ट पुरुष, निरूढा के अतिरिक्त लक्षणा द्वारा अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते। अर्थात् निरुढा के सिवाय अन्य सब लक्षणाओं में प्रयोजन होना अत्यावश्यक है और यहाँ ताद्रूप्य के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन है नहीं, अतः लाक्षणिक प्रयोग भेदमिश्रित सादृश्य के विषय में हो ही नहीं सकता। यदि आप कहें कि—यहाँ हम भेद और ताद्रूप्य (अभेद) दोनों मानेंगे तो यह बन नहीं सकता, क्योंकि भेद और ताद्रूप्य दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, वे एक साथ ज्ञाता की बुद्धि में आरूढ नहीं हो सकते। अतः ऐसा मानना असंगत है।

आप कहेंगे—'पुरुषव्याघ्र' इत्यादि उपमित समास में उत्तरपद (व्याघ्र आदि) की अपने अर्थ के सदृश (अर्थात् व्याघ्रसदृश आदि) अर्थ में लक्षणा ही माननी पड़ेगी, अन्यथा समास में कोई सादृश्य-बोधक शब्द न होने के कारण सादृश्य का बोध न हो सकेगा। यदि कहो कि—'पुरुषव्याघ्र' का विग्रह* 'व्याघ्र इव पुरुषः—'व्याघ्र सा पुरुष' होता है, अतः विग्रह में आया हुआ 'इव' शब्द सादृश्य का बोधक हो जायगा तो यह बन नहीं सकता, क्योंकि समास ('पुरुष-व्याघ्र') में 'इव' शब्द का संबंध नहीं है; वहाँ तो 'पुरुष' और 'व्याघ्र' दो ही शब्द हैं, 'इव' शब्द का कहीं पता नहीं। इतने पर भी यदि 'इव' का संबंध मानें तो उसके हटाने का कोई उपाय नहीं; कारण, उसका हटानेवाला कोई शास्त्र (सूत्र आदि) है नहीं। यदि कहो कि—समास में 'इव' शब्द नहीं है तो न सही, विग्रहवाक्य 'व्याघ्र इव पुरुषः' में तो 'इव' शब्द है। तो यह कुछ नहीं, क्योंकि विग्रहवाक्य का 'इव' शब्द विग्रहवाक्य को उपमा का प्रतिपादक बना सकता है, दूसरे वाक्य (अर्थात् समास) को नहीं। अब कहो कि यदि ऐसा ही है तो 'पुरुष-व्याघ्र' आदि समास में भले ही सादृश्य का बोध न रहे; तो यह भी कह नहीं सकते। कारण, ऐसी दशा में 'व्याघ्र इव पुरुषः' यह विग्रह न हो सकेगा; क्योंकि जिस वाक्य (पुरुषव्याघ्र) का विवरण किया जा रहा है उसके शब्दों से जिस अर्थ का प्रतिपादन नहीं होता उसका विवरण में होना उचित नहीं—जो बात मूल में नहीं उसे व्याख्या में लावेंगे कहाँ से ? अतः इस विग्रहवाक्य के अनुसार 'पुरुषव्याघ्र' आदि उपमित समासवाले शब्दों में लक्षणा ही मानना पड़ेगी।

अब यदि कहा जाय कि जब लक्षणा मानी जायगी तो पूर्वोक्त-रीत्या लक्षणा का प्रयोजनरूप ताद्रूप्य (अभेद) स्वीकार करना पड़ेगा।

---

* समास-आदि का अर्थ समझानेवाले वाक्य को विग्रह कहते हैं।

फिर प्राचीनों ने 'पुरुषव्याघ्र' आदि में रूपक न मानकर द्विलुप्ता (धर्मवाचकलुप्ता) उपमा कैसे कह डाली ? यदि बिना ताद्रूप्यरूपी प्रयोजन के लक्षणा होती ही नहीं तो यह क्या गड़बड़ है ?

इसका उत्तर यह है कि—उपमित समास की 'भेद-मिश्रित उपमान के सादृश्य से युक्त उपमेय' में शक्ति स्वीकार कर ली जायगी—अर्थात् 'पुरुषव्याघ्र' इस पूरे शब्द का वाच्य अर्थ 'व्याघ्र से भिन्न और व्याघ्र के सदृश पुरुष' यह होता है—उसमें लक्षणा है ही नहीं। अथवा, यह स्वीकार कर लिया जायगा कि—उपमितसमास के उपमानवाचक शब्द का—'भेदमिश्रित सादृश्य से युक्त' में निरूढ लक्षणा है—अर्थात् उपमित समास के उत्तर पद में आए हुए 'व्याघ्र' आदि शब्दों का अर्थ, निरूढ लक्षणा द्वारा, 'व्याघ्र से भिन्न और व्याघ्र के सदृश' होता है। तात्पर्य यह कि—यदि शक्ति न मानो तो केवल उपमितसमास में ही निरूढ लक्षणा है, अन्यत्र कहीं नहीं; अतः अन्यत्र ताद्रूप्यरूपी प्रयोजन के स्वीकार किए बिना निर्वाह नहीं।

जो लोग 'इव' आदि निपातों को (सादृश्य के) द्योतक मानते हैं (वाचक नहीं) उनके मत से, यही बात 'मुखं चंद्र इव' इत्यादि वाक्यों में और वाचकलुप्ता उपमा में मानी जानी चाहिए। (अर्थात् उन लोगों के हिसाब से या तो 'चंद्र इव' आदि समुदाय की 'चंद्रभिन्न चंद्रसदृश' आदि अर्थों में शक्ति है अथवा 'चंद्र' आदि शब्दों की पूर्वोक्त अर्थ में निरूढा लक्षणा है।)

आप कहेंगे—ऐसी दशा में उपमानवाचक शब्द ही सादृश्य का भी वाचक (शक्ति या लक्षणा से प्रतिपादक) हो गया; फिर 'पुरुषव्याघ्र' आदि में वाचक का लोप कैसे माना जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि—ऐसे प्रयोगों में उपमानादिक से भिन्न केवल 'सादृश्य' अथवा 'सादृश्य से युक्त' का प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है, अतः वाचक

का लोप माना जाता है। अर्थात् उपमानवाचक शब्द से सादृश्य की प्रतीति होने पर सादृश्यवाचक की सत्ता नहीं समझी जाती, उसके लिये केवल 'सादृश्य' या 'सादृश्य से युक्त' के वाचक (अर्थात् 'इव' आदि अथवा 'सदृश' आदि) शब्द का पृथक् प्रयोग अपेक्षित है। सो यहाँ उपमान से भिन्न कोई ऐसा शब्द न होने के कारण वाचक का लोप मानने में कोई बाधा नहीं।

रही आपकी चौथी बात कि—'विद्वन्मानसहंस' इत्यादिक प्रयोगों में अन्योन्याश्रय दोष होगा। सो उस दोष का परिहार हम रूपकालंकार के प्रकरण में करेंगे।

अब केवल आपका पाँचवाँ दोष बच रहता है। जो यह है कि—रूपक में ताद्रूप्यज्ञान को सदृश-लक्षणा का प्रयोजन मानना उचित नहीं; क्योंकि यदि ऐसा करोगे तो 'तत्सदृश' इस शब्द से उत्पन्न बोध के अनंतर भी ताद्रूप्यज्ञान होने लगेगा। सो यह कुछ है नहीं। कारण, 'तत्सदृश' शब्द में लक्षणा नहीं है; अतः वहाँ ताद्रूप्यज्ञान होने की बात ही नहीं। "ताद्रूप्यज्ञान लक्षणा का प्रयोजन है" यह प्राचीनों का सिद्धांत है, न कि 'सादृश्यज्ञान का प्रयोजन है' यह। अतः आपके ये सब दूषण व्यर्थ हैं।

'महाभाष्य' आदि ग्रंथ भी प्राचीनों के सिद्धांत के ही अनुकूल हैं। यदि नवीनों का सिद्धांत माना जाय तो उन सब ग्रंथों में बड़ी गड़बड़ हो जायगी। अतः प्राचीनों का सिद्धांत ही उत्तम है। यह है इस सब का संक्षेप।

गौणी साध्यवसाना लक्षणा का विचार

साध्यवसाना के विषय में विद्वानों के विचार तीन प्रकार के हैं—

१—कितने ही विद्वानों का कथन है कि—"**पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चंद्रराजी विराजते**—अर्थात् इस पुर के महलों की छत पर

चंद्रमाओं की पंक्ति विराजमान हो रही है" इत्यादिक में लक्षणा द्वारा, यद्यपि 'मुख' आदि (लक्ष्य अर्थ) की उपस्थिति 'मुखत्व' आदि द्वारा—अर्थात् लक्ष्यअर्थ के वास्तविक स्वरूप में—होती है (तात्पर्य यह कि मुखरूप लक्ष्य अर्थ की उपस्थिति में चंद्रत्व का कुछ भी संबंध नहीं रहता); तथापि शाब्दबोध 'चंद्रत्व' आदि मुख्यार्थतावच्छेदक धर्म से ही होता है। (सारांश यह कि—ऐसे स्थलों में 'चंद्र' आदि शब्दों का लक्ष्य अर्थ वस्तुतः मुख त्वादिक धर्म से युक्त मुख आदि के रूप में ही होता है, उसमें 'चंद्रत्व' आदि धर्म का भान नहीं रहता, किंतु शब्द-द्वारा जो बोध होता है वह 'चंद्रत्व से युक्त मुख' का होता है। कारण, हम पहले लिख चुके हैं कि यद्यपि शब्द का बोध और अर्थ की उपस्थिति दोनों एक ही तरह के होने चाहिए—यह नियम है, तथापि लाक्षणिक ज्ञान के विषय में यह नियम प्रवृत्त नहीं होता।) और इसका कारण है लक्षणा के ज्ञान का ही प्रभाव—अर्थात् लक्षणा के ज्ञान में कुछ ऐसा प्रभाव है कि वह शब्दजन्य बोध और अर्थ की उपस्थिति दोनों को भिन्न-भिन्न बना देता है।

(इस मत का सारांश यह है कि—गौणी साध्यवसाना लक्षणा में 'चंद्र' आदि शब्दों के अर्थ की उपस्थिति वास्तव में 'मुखत्व से युक्त मुख' आदि के रूप में होने पर भी शब्द-बोध होता है 'चंद्रत्व से युक्त मुख' आदि।)

२—पर जो विद्वान् लक्षणा में भी इस नियम को मानते हैं कि 'अर्थ की उपस्थिति और शाब्दबोध एक प्रकार के होने चाहिए' उनका कथन है कि—जब लक्षणा द्वारा 'मुखत्व से युक्त मुख' आदि का शाब्दबोध हो चुकता है तब, एक (केवल 'चंद्र') शब्द से (दो अर्थों—'मुख' और 'चंद्र'—के) ग्रहण करने के कारण उत्पन्न हुई व्यंजना द्वारा मुखादिक का 'चंद्रत्व' आदि के रूप से बोध होता है।

(सारांश यह कि--साध्यवसाना के स्थल में लक्षणा तो 'चंद्र' आदि शब्दों का केवल 'मुख' आदि अर्थ बताकर दूर हो जाती है। फिर उस एक (चंद्र) शब्द से 'चंद्र' और 'मुख' दो अर्थों का ग्रहण होने के कारण (क्योंकि अभिधा द्वारा चंद्र शब्द का अर्थ 'चंद्र' होता है और लक्षणा द्वारा 'मुख') व्यंजना का आविर्भाव होता है और वह 'चंद्रत्व' के रूप में मुख का बोध करवाती है--अर्थात् प्रथमतः 'चंद्र' शब्द का बोध 'मुख' के रूप में होने पर भी व्यंजना द्वारा 'चंद्रत्व से युक्त मुख' यह बोध होता है।)

इन दोनों मतों में 'मुख' आदि में 'चंद्रत्व' के बोध की सामग्री मुख आदि के अपने धर्म 'मुखत्व' आदि की प्रतीति का निवारण नहीं करती--अर्थात् 'चंद्र' शब्द के लाक्षणिक अर्थ 'मुख' आदि में 'चंद्रत्व' और 'मुखत्व' दोनों धर्मों का बोध होता है—वे एक दूसरे का उपमर्द नहीं करते। (सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—एक ही धर्मी में 'चंद्रत्व' आदि—मुख्यार्थतावच्छेदक—और 'मुखत्व' आदि—लक्ष्यार्थतावच्छेदक—दोनों धर्मों का साक्षात् प्रतीत होना ही सारोपा से साध्यवसाना को भिन्न बनाता है। तात्पर्य यह है कि—यद्यपि सारोपा में भी चंद्रत्व और मुखत्व दोनों धर्मों का भान होता है तथापि वहाँ 'चंद्रत्व' का पहले 'चंद्र-सदृश' के रूप में भान होता है (क्योंकि 'चंद्र' शब्द का लक्ष्य अर्थ चंद्रसदृश होता है 'मुख' नहीं); और तब उसके द्वारा मुख में चंद्रत्व का भान होता है (अर्थात् सारोपा में 'चंद्रसदृश से अभिन्न मुख' यह शाब्दबोध होता है)। पर साध्यवसाना में बीच में किसी सदृश-वदृश का बखेड़ा न रहकर सीधा 'मुख' में ही चंद्रत्व का भान हो जाता है अर्थात् **'चन्द्रत्वावच्छिन्नमुख'** यह शाब्दबोध होता है।)

३—इन दोनों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों का कहना है कि—विरुद्ध धर्म ('चंद्रत्व' आदि) के भान की सामग्री से अपने धर्म

('मुखत्व' आदि) का भान निवृत्त होता ही है। कारण, हमारा अनुभव है कि—शुक्ति (सीप) में रजतत्व (चाँदीपन) के भान की सामग्री के समय शुक्तित्व का बोध नहीं होता; यदि विरुद्धधर्म का भान होने पर भी स्वधर्म का बोध होता रहता तो फिर हमें सीप में शुक्तित्व और रजतत्व दोनों धर्म क्यों नहीं दिखाई देते। अतः पूर्वोक्त दोनों मतों में यह मानना अप्रामाणिक है कि—साध्यवसाना में एक ही धर्मी में परस्पर विरोधी दो धर्मों (चंद्रत्व और मुखत्व) का भान होता है।

(इस मत का सारांश यह है कि—'चंद्रराजी विराजते' इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में केवल 'चंद्रत्व' धर्म से अवच्छिन्न मुख की प्रतीति होती है, मुख में मुखत्व की प्रतीति नहीं होती।)

इस मत में सारोपा से साध्यवसाना का यह भेद है कि—सारोपा में मुखादिक में लक्ष्यतावच्छेदक (आह्लादकता आदि साधारण धर्म) की प्रतीति होती है और साध्यवसाना में वह नहीं होती—मुख में सीधा 'चंद्रत्व' प्रतीत हो जाता है।

पूर्वोक्त दो मत ठीक हैं या यह मत ?

पर असली बात तो यह है कि—साध्यवसाना में लक्ष्यतावच्छेदक (आह्लादकता आदि) धर्म के भान में यदि सहृदयों का हृदय प्रमाण है—अर्थात् सहृदयों को यदि साध्यवसाना में भी 'आह्लादकता' आदि की प्रतीति होती है तब तो उसके निवारण के लिये कारण की कल्पना अनुचित ही है; क्योंकि अनुभवसिद्ध बात को कोई भी हटा नहीं सकता। रही सीप में चाँदी की प्रतीति के स्थल की बात। सो वहाँ सामने की वस्तु जब शुक्तित्व के रूप में दिखाई देगी तो उसमें रजतत्व का भान सर्वथा ही विरुद्ध है—यदि शुक्तित्व का बोध हो जाय तो रजतत्व का बोध रह ही नहीं सकता, अतः रजतत्व की प्रतीति के समय शुक्तित्व के भान का निवृत्त हो जाना आवश्यक है। पर यहाँ वैसी

बात नहीं है; क्योंकि यहाँ दोनों धर्मों की प्रतीति हो सकती है—इस बात को सभी मानेंगे कि रूपकातिशयोक्ति में भी मुख आदि में आह्लादकता आदि (लक्ष्यतावच्छेदक) धर्मों की प्रतीति होती है। हाँ, यदि यह बात प्रामाणिक न हो—यदि आपका साथी ही कोई आ मिले और कह दे कि हमें तो आह्लादकता आदि की प्रतीति नहीं होती तो वैसी कल्पना उचित ही है। (अर्थात् ऐसी दशा में हम क्या कहें, आप वैसे मानिए। हमारा हृदय तो आपका यह तीसरा मत मानने को तयार है नहीं।)

———

'हिंदी-रसगंगाधर' में आए हुए पद्यों की सूची

१

संस्कृत-पद्य

२

हिंदी-पद्य

शुद्धि-पत्र

पृ०—पं०	अशुद्ध	शुद्ध
६—१५	चिससे	जिससे
१६—१४	अलकार	अलंकार
२०— ८	सुदर	सुंदर
२०—२०	किंवदंती	किवदंती
२५—२२	अतिम	अंतिम
२६— १	वाच्यसिद्धिपंग	वाच्यसिद्ध्यंग
३०—१७	संलक्ष्यक्रम	संलक्ष्यक्रम
३२—२१	कुगडङ्ग	कुडङ्ग
३३—१२	को	के
३८— ५	उसके	उनके
४३— ७	ध्वनित	ध्वनि
४८— १	पतङ्क्नेन्मच्च	पतन्मच्च
४८— ४	सघातः	संघातः
४८—११	इम्र	इस
५१— ६	बनेगी	बनेगा
५१—२१	आनन्दाश	आनन्दांश
५८— ९	करना	करता
६२—१६	नायकों	नायक
६९—२५	वलिमान्	वह्निमान्
७८—१५	उत्वत्ति	उत्पत्ति
८१—१०	संगोग	संयोग

पृ०—पं०	अशुद्ध	शुद्ध
८३—१५	कामणज्ञा	कार्मणज्ञा
८६—१२	तिष्ठन्नयो	तिष्ठन्नयनयो
९१—१४	लीलिए	लीजिए
६४—१७	मुद्रितही	मुद्रितमही
६५—२२	समुद्धवं	समुद्भवं
९६—१८	यह	यहाँ
१०५—१३	मन्द्र	मन्द्रं
१११—१६	कर्भा कम मान लिए जाया करें।	कभी कम मान लिये जाया करें और कभी अधिक।
११२—१७	निवृत्ति	निवृत्त
११५—१२	मानाँह्लला	मानाँह्लना
११६— ६	नरसों	रसों
११६— ६	काव्यता	बाध्यता
१२१—२६	चरिव	चरित
१३१—१४	अथव्यक्ति	अर्थव्यक्ति
१३७—११	यहाँ	हाँ
१४२—२१	का	के
१४५—२१	तिङ्न्त	तिङन्त
१४८—१८	चेद्	चेद्दु
१५४—२२	प्रसग	प्रसंग
१५५—११	स्वीयेषु	स्वीयेषु
१५७—१६	निवेषिता	निषेविता
१५८—२३	खेत के	उन

पृ०—पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१६२—१९	एव	एवं
१६३— ९	विलोचनस्या	विलोचनायाः
१६३—१२	'भ्रि' आरम्भ में	आरम्भ में 'भ्रि'
१६८— ४	निषेध गतार्थ	निषेध से गतार्थ
१६९—१३	के	का
१६९—१४	शृंगार-रस में	शृंगार-रस हो उसमें
१९५—१७	सेवाद्यै	सेवाद्यै
१९५—२२	उवासियाँ	उबासियाँ
२०९—१३	दौर्गन्यं	दौर्ग्यं
२१०—२२	वियोग आदि	वियोग आदि के कारण
२१२—२१	ऋृंगार	शृंगार
२१३— १	को	का
२१८—१६	व्रिस्मरणादयः	विस्मरणादयः
२२६—२५	३५	३३
२२७— ७	अमना	अमुना
२२८— ४	व्राका	वराका
२४१—१०	यौवनोद्नम	यौवनोद्गम
२४३—१०	कश्चिचल	कश्चिचल
२४९—१२	को	की
२५४— ६	इतमें	इनमें

पृ०—पं०		अशुद्ध	शुद्ध
२५८—१४		सूलक	मूलक
२६०— ४	(शीर्षक)	अप्रमाणिक	अप्राकरणिक
२६२—२५		रजनम्	रञ्जनम्
२६१—१६		शब्दानर	शब्दांतर
२६६— ७		राका	राजा
३०२—११		अद्युदात्त	आद्युदात्त
३०४—२०		साय	साथ
३१०—१३		रस्रती	रखती
३१२—११		शब्दझक्ति	शब्दशक्ति
३१३—१६		अभिनवलिर्नी	अभिनव-नलिनी
३१५—२१		विरोघालंकार	विरोधालंकार
३६०—१४		जायणा	जायगा
३६६—१८		शब्द-बोध	शाब्द बोध

———